अभिनव
रस-मीमांसा

राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर
की आर्थिक सहायता से प्रकाशित ।

आभार

इस ग्रन्थ का प्रकाशन राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर
द्वारा प्रदत्त उदार आर्थिक अनुदान के द्वारा सम्भव हो
सका है। अकादमी ने इसके प्रकाशन के लिए
६०००) रु० की आर्थिक सहायता दी है।
इसके लिए मैं अकादमी की प्रकाशन से
सम्बद्ध समितियों के सदस्यों तथा
अकादमी के अधिकारियों का
अत्यन्त आभारी हूँ।

रामानन्द तिवारी

□
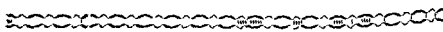
अभिनव
रस-मीमांसा

काव्यगत रस के एक मौलिक और क्रान्तिकारी सिद्धान्त का विवेचन

राजस्थान साहित्य अकादमी (संगम), उदयपुर द्वारा सन् १९६२
के अखिल भारतीय मीरां पुरस्कार से सम्मानित ग्रन्थ

□

लेखक

डॉ० रामानन्द तिवारी

एम ए, डी-फिल, पी एच डी, दर्शन शास्त्री

भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग
महारानी श्री जया कालिज, भरतपुर

एवम

भूतपूर्व रिसर्च प्रोफेसर, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली

□

प्रकाशक

भारती पुस्तक मन्दिर, भरतपुर (राजस्थान)

प्रकाशक

डॉ० रामानन्द तिवारी के लिए
भारती पुस्तक मन्दिर, भरतपुर
द्वारा प्रकाशित।

□

□

प्रथम प्रकाशन

१६ मार्च, १९८३

□

मूल्य 85/=

□

मुद्रक

शर्मा ब्रदर्स इलैक्ट्रोमैटिक प्रेस,
अलवर (राज०)

समर्पण

जिनके उदार अनुग्रह से संस्कृत का विलम्बित अध्ययन —
मेरी साहित्य-साधना का सुदृढ अवलम्ब बन सका
उन्ही प्रात स्मरणीय गुरुवर्य
श्रीधर्मज्ञानोपदेश-पाठशाला प्रयाग के पूर्व आचार्य।
तथा
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के
व्याकरण विभाग के सेवा-निवृत्त आचार्य एवं अध्यक्ष
पूज्यपाद पं० भूपेन्द्रपति त्रिपाठी के
पुण्य चरणों मे
एक अकिंचन अन्तेवासी द्वारा
अत्यन्त श्रद्धा एवं विनयपूर्वक समर्पित

चरणानुचर—
रामानन्द तिवारी

गीर्वाण – शास्त्र – वृक्ष – सघनाना–
मटवीना वीथीसु सुदुर्गमासु
येपा चरणानुग्रहेण लब्धा
पद-गति-दृष्टिर्वन्दे तान्सिद्ध–गुरुपादान् ।

अभिनव रस–मीमासा
रचिता येपामनुग्रहेण गुरुणा
तेपामुदार – विदुपा
चरणेपु समर्प्यते सभयम् ।

विनीतेनान्तेवासिना
रामानन्देन

समर्पणम्

प्रयागस्थश्रीधर्मज्ञानोपदेश-पाठशालाया पूर्वाचार्याणाम्

काशीस्थ-सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य

व्याकरणशास्त्रस्यावकाश-प्राप्ताध्यक्षाणाम्

प्रातःस्मरणीय-गुरुवर्याणाम्

पूज्यपाद-पण्डितभूपेन्द्रपति-त्रिपाठि-महोदयानाम्

पुण्य-चरणेषु

तेषामेवानुग्रहेणरचितम्

समर्प्यते ग्रन्थमिदमकिञ्चनेनान्तेवासिना

रामानन्देन

इतिहास, आभार और समर्पण

'अभिनव रस मीमासा' नामक इस ग्रन्थ के लेखन और प्रकाशन का इतिहास रोमाचक किन्तु नीरस है। काव्यशास्त्र अथवा रस-सिद्धात का विधिवत अध्ययन मैंने नही किया। ऐसा साहित्य का विद्यार्थी मैं नही रहा। सस्कृत का अध्ययन मैंने बाल्यकाल मे लघु-कौमुदी पर्यन्त किया। फिर कालेज मे इटर-मीडियट तक। हिन्दी म अधिक रुचि होने के कारण बी ए मे सस्कृत न ले सका। दोनो भाषायें ले सकना प्रयाग विश्वविद्यालय मे तत्कालीन नियमो के अनुसार सभव नही था। बी ए मे हिन्दी म इतना काव्यशास्त्र नही पढाया जाता था। दशन मे एम ए करने के बाद मैंने धर्मज्ञानोपदेश पाठशाला प्रयाग मे पूज्यपाद प० भूपेन्द्रपति त्रिपाठी के चरणो मे दशन की शास्त्री परीक्षा के निमित्त सस्कृत का अध्ययन किया। एक वष म जल्दी मे सम्पूण मध्यमा की। उस समय वे उक्त पाठशाला म आचाय थे। 1946 मे मेरे शास्त्री कर लेने के पश्चात वे काशीस्थ सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय म व्याकरण के आचाय पद पर नियुक्त हो गये। अब अवकाश प्राप्त कर प्रयाग मे पाठशाला के निकट ही निवास करते हैं।

1940 मे दशन म एम ए तथा 1946 मे डी० फिल्० करने के बाद मैं जोधपुर म दशन का अध्यापक बन गया। 1953 मे कोटा स्थानान्तरण होने पर मैंने दो वष के कोटा निवास म पार्वती' महाकाव्य का प्रणयन किया। 1955 मे पार्वती' के प्रकाशन पर अनुकूल कम, प्रतिकूल आलोचनायें अधिक हुईं। पुराण पन्थी तो मैं और मेरा सम्पूण कृतित्व है अत पार्वती' का पुराण-पन्थी काव्य कहना असगत न था। कुछ आधुनिक आलोचको ने पार्वती' को एक 'विशाल गद्य' की सज्ञा दी। ऐसी आलोचना ने मुझे काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध म सोचने को प्रेरित किया। शिव कथा की भाति राम कथा और कृष्ण कथा के पुनर्लेखन की आकाक्षा को स्थगित कर मैंने 1957 के एक वष म सत्य शिव सुन्दरम' नामक विशाल गद्य ग्रन्थ (अपनी प्रथम गद्य कृति) की मौखिक रचना

की। मौखिक का अभिप्राय यह है कि बोल कर लिखाया। 'सत्य शिव सुन्दरम्' काव्य और साहित्य के सन्दभ मे सास्कृतिक मूल्यो का अन्वेषण है। प्रसगत उसम एक अध्याय मे काव्यगत रस का भी विवेचन किया गया है। विस्तृत रस मीमासा की क्षमता मुझ मे नही थी।

1960 मे राजस्थान साहित्य अकादमी ने मीरां पुरस्कार की स्थापना की। पुरस्कार की राशि उस समय 2000) की थी। अब वह राशि 9000) कर दी गई है। निजी व्यय से प्रकाशन करने के कारण मैं जीवन भर अथ-सकोच की स्थिति म रहा। अर्थाकाक्षा से ही मैं पुरस्कारो का अभिलाषी बना। पुरस्कारो की अथना करने पर भी मैं हिन्दी (और अब अग्रेजी) मे किस कोटि की रचनायें दे सका हू इसका निणय मेरे द्वारा प्रतिपादित अतिक्राति के दशन के अनुसार किया जा सकता है। 1960 मे 'निबन्ध' विषय पर 'मीरा पुरस्कार' देने की घोषणा की गई। मैं निबन्ध लेखक न था। इस बीच पत्र पत्रिकाओ मे कुछ सास्कृतिक लेख लिखता रहा। उन्ही का सग्रह करके मैंने भारतीय सस्कति के प्रतीक नाम से पुरस्कार के लिये भेज दिया। अखिल भारतीय पुरस्कार है। मैं अखिल भारतीय अखाडे मे प्रतियोगिता के योग्य बल विश्वास नही रखता था। आश्चय की बात है मुझे प्रथम मीरा पुरस्कार का विजता बनन का गौरव मिला।

1963 के लिये जब मीरा पुरस्कार की घोषणा हुई तो 'आलोचना विषय' पर देने का निश्चय हुआ। आलोचना का भी मैं अधिकारी नही था। आर्थिक स्थिति सदा पुरस्कारो की ओर प्रेरित करती रही। प्रथम मीरा पुरस्कार पा चुका था। अत लोभ के लाछन के भय से सकोच भी था। आलोचना पर कुछ लिखा भी न था और न लिखने का कोई विचार था। किन्तु पुरस्कार आलोचना के लिये निश्चित था।

जोधपुर की मेरी एक दशन की छात्रा निमला तलवार कलकत्ता मे अध्यापिका थी। वे कलकत्ता की हिन्दी समिति से सम्बद्ध होकर एक हिन्दी पत्र का सम्पादन कर रही थी। उस वष उन्होने रस पर एक विशेषाक निकालने का आयोजन किया। मुझे एक लेख के लिए लिखा। प्रसगत रस का विषय

सामने आया। मैने एक लेख उन्हे भेज दिया। यो रस पर ग्रन्थ लिखने का उपक्रम सहसा बन गया।

किन्तु समय की कठिनाई थी। अकादमी के पुरस्कारो की घोषणायें सितम्बर मे होती हैं। अक्टूबर के अन्त तक ग्रन्थ मागे जाते हैं, दो मास से भी कम का समय था। पुस्तक के प्रकाशन तो क्या, लेखन की भी कल्पना नहीं की जा सकती थी। मैं हिन्दी के ग्रन्थ बोल कर लिखाता रहा। हाथ से नहीं लिखता था। 'सत्य शिव सुन्दरम्' का ग्रन्थ एक वष मे (1957 मे) मेरे शिष्य मोहनलाल मधुकर और प्रकाशकुमार श्रीवास्तव ने अपने अपने बी ए के अन्तिम वष म किया है।

1962 म जब आलोचना पर मीरां पुरस्कार की घोषणा हुई उस समय हरिश्चन्द्र शर्मा बी ए अन्तिम वष के छात्र थे। उन्होने 'रस-मीमासा' लिखने के लिये बडा उत्साह दिखाया। उसी उद्यम और उत्साह से वे राजनीतिशास्त्र और लोक प्रशासन के प्रतिष्ठित लेखक बन सके हैं। दिन मे कई घटे लिखकर दो महीन से कम समय में उन्होने इस 'अभिनव रस मीमासा' नामक ग्रन्थ के मौखिक आलेख को लिपिबद्ध किया। छपाने का न समय था और न सामथ्य। टकित प्रतिया पुरस्कार के लिए भेज दी गई।

मुझे और मुझ से बढकर मेरी पत्नी को आशा नही थी कि परम्परागत रस सिद्धान्ता के इस आमूल खण्डन को कोई भी परीक्षक पुरस्कार के लिए अनुमोदित करेगा। उलटा साहित्य के आचार्यों के अप्रसन्न होन का भय था।

पुन आश्चय ! इस 'अभिनव रस मीमासा' पर मुझे दूसरी बार 1963 मे मीरा पुरस्कार दिया गया। मै उस वष के निर्णायको के उदार दृष्टिकोण के लिए उनका अत्यन्त आभारी हूँ। अल्प अवधि म ग्रन्थ के लिपिकरण के लिए हरिश्चन्द्र शर्मा का साहस और उत्साह भी सराहनीय है।

1963 से लेकर अब तक इसके प्रकाशन की व्यवस्था न हो सकी। मेरे प्रकाशन क्रम मे इसे अवसर नही मिल सका। प्रकाशको के निकट मेरी गति नहीं रही।

बारह वर्षों के बाद घूरे के भी दिन फिरते हैं। अपने 14 वर्षों के वियोग के प्रति 'साकेत' की उर्मिला का यह मम वचन मेरे ग्रथा के प्रकाशन के विलम्ब मे प्रमाणित मेरे भाग्य की दीनता को रेखाकित करता रहा है। आज बीस वष के बाद राजस्थान साहित्य अकादमी के उदार अनुदान से इस ग्रथ का प्रकाशन सभव हो सका है। इस उपकार के लिए अकादमी की सम्बद्ध समितियो के सदस्यो और अधिकारियो का अत्यत आभारी हूँ।

लेखन के समान इस ग्रथ का मुद्रण और प्रकाशन भी शीघ्रता मे हो रहा है। जनवरी 1983 मे अनुदान की स्वीकृति मिली। माच 1983 के भीतर मुद्रित पुस्तक अर्पित करने का आदेश हुआ। सरकारी नियम हैं। अकादमी अध सरकारी है।

मेरे आत्मीय प्रकाशक द्वारका प्रसाद शर्मा तथा मेरे आत्मीय मुद्रक शर्मा ब्रदस इलक्ट्रोमैटिक प्रेस के स्वामी श्री रमेशचन्द्र शर्मा और प्रेस के सचालक उनके सुयोग्य पुत्र विशाल भारत शर्मा एव प्रवीण भारत शर्मा के उत्साह और सहयोग से यह दुष्कर काय सम्भव हा सका है। मेरे अधिकाश ग्रन्थो का मुद्रण शर्मा ब्रदस इलक्ट्रोमैटिक प्रेस अलवर मे हुआ है। यह प्रेस मुद्रण की स्वच्छता और भव्यता की दृष्टि से राजस्थान का शीषस्थ प्रेस है। बीस वष पहले मेरे 'सत्य शिव सुन्दरम्' नामक विशाल ग्रन्थ का मुद्रण इसी प्रेस मे हुआ। उसके बाद बीस वर्षों मे हिन्दी एव अग्रेजी के अनेक ग्रथ इसी प्रेस म छपे है। अग्रेजी का 'लाइनोटाइप' तो राजस्थान म अन्यत्र दुलभ है। बीस वर्षों मे व्यावसायिक सम्बन्ध अब आत्मीय सम्बन्ध बन गया है। प्रेस के स्वामी श्री रमेशचन्द्र शमा मेरे बन्धुवत बन गये है। प्रेस के सचालक विशाल भारत शर्मा और प्रवीण भारत शर्मा पर मेरा पुत्रवत् स्नेह और अधिकार है। इसी अधिकार से 'अभिनव रस मीमासा' के लगभग 400 पृष्ठ के ग्रन्थ का मुद्रण दो मास से भी कम के समय मे सम्भव हो सका है। सभी प्रकाशनो के मुद्रण की भव्यता और स्तरीयता के लिए इन पुत्र तुल्य प्रकाशक एव मुद्रको के उत्साह और कौशल का ऋणी हू। ऋणत्रय की कल्पना मे एक चतुर्थ पुत्र ऋण भारतीय सस्कृति के इस दीन समथक का भागधेय बना।

रसों के अभिनव वर्गीकरण का रेखाचित्र प्रेस के स्वामी श्री रमेशचन्द्र शर्मा के पुत्र सुरेन्द्र कुमार शर्मा ने बनाया है तथा अपने कौशल से कोष्ठकों के भीतर शब्दों के मुद्रण की विधि निकाली है। अपने ज्येष्ठ भ्राताओं के साथ वे भी मेरे प्रकाशन यज्ञ के होता बन गये, इसका मुझे हर्ष है। मैं उनके सफल भविष्य के लिए अपना आशीष और अपनी शुभ कामनायें ही उन्हें दे सकता हूँ।

जिस प्रकार 1962 में दो मास के भीतर इस पुस्तक का प्रणयन हुआ उसी प्रकार बीस वर्ष के बाद 1983 के दो मास के भीतर इसका मुद्रण सम्पन्न हुआ। मुद्रण कार्य असाधारण वेग से हुआ है। चौंसठ वर्ष की अवस्था में प्रूफ संशोधन का कार्य इतने वेग से मैं सन्तोषजनक रूप से करने में समर्थ नहीं हूँ। वैसे भी स्वयं लेखक के द्वारा प्रूफ संशोधन होने पर प्रमादवश भूलें रह जाती हैं। पाठकों से विनय है कि वे विषय प्रसंग के अनुरूप मुद्रण की अशुद्धियों का संशोधन करने की कृपा करें। लेखक के नाते मेरा यह दुर्भाग्य है कि मुझे विशाल और बहुसंख्यक ग्रन्थों के लेखन और मुद्रण के प्रसंग में प्रूफ संशोधन अथवा अन्य किसी भी प्रकार का सहयोग किसी से न मिल सका।

मैंने इस ग्रन्थ को अपने पूज्यपाद गुरु प० भूपेन्द्रपति त्रिपाठी को समर्पित किया है। इस ग्रन्थ में संस्कृत काव्य शास्त्र के जिन ग्रन्थों और सिद्धान्तों का सन्दर्भ दिया है उनके अवगाहन की योग्यता मुझे उनके अनुग्रह से ही प्राप्त हुई। वस्तुतः धर्म, दर्शन, साहित्य, संस्कृति, भाषा-विज्ञान आदि के क्षेत्र में पिछले चालीस वर्षों में मैंने जो भी कार्य किया है उसको संस्कृत अध्ययन के सम्पुट से सम्पन्न बनाने की क्षमता मुझे गुरुचरणों के अनुग्रह से ही प्राप्त हुई। अपने प्रगाढ़ पाण्डित्य एवं अपनी गहन करुणा से उन्होंने मेरी प्रतिभा को दीप्त तथा मेरी साधना का पथ प्रशस्त किया है।

1940 में दर्शन में एम ए करने के बाद 1946 में दर्शन की शास्त्री परीक्षा तक मैंने उनके चरणों में संस्कृत का अध्ययन किया। प० भूपेन्द्रजी व्याकरण के उद्भट आचार्य हैं। योग्यता के आधार पर ही वे काशीस्थ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में व्याकरण के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। हाल में उन्होंने व्याकरण के निकष ग्रन्थ परिभाषेन्दु शेखर पर एक विस्तृत और मार्मिक

टीका की रचना की है जो सस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित हो रही है। व्याकरण, साहित्य दर्शन आदि के प्रकाण्ड विद्वान होने के साथ साथ वे अत्यन्त उदार और अनुरागी आचाय हैं। उनका प्रशस्त पांडित्य तथा उनका प्रसन्न गम्भीर स्वभाव सभी आत्मीयो और अन्तेवासियो को उनके प्रति सहज श्रद्धा से प्रेरित एव प्रफुल्लित करता है। मेरे अन्तेवासी पद को वे सदा स्नेह और उदारता से भाग्यवान बनाते रहे। प्रयाग की धर्मज्ञानोपदेश पाठशाला सस्कृत भाषा, साहित्य और दर्शन म मेरी दीक्षा का पीठ है। इस पाठशाला के अचल में प्रयाग के प्रसिद्ध सस्कृत सेवी प० प्रभात मिश्र के साथ मेरा परिचय और प्रेम हुआ, जो आज चालीस वर्ष के निरन्तर स्नेह सिंचन से भावों का कल्पवृक्ष बन गया है। प्रकाशचन्द्र चतुर्वेदी एव प्रभात मिश्र क स्नेह-बन्धन तथा आचार्यपाद क अनुग्रह से प्रयाग मेरे वार्षिक कल्पवास का तीर्थ बन गया है। प्रतिवर्ष जाने पर मन हुलसित जात अजों बहे वा सगम के तीर'। गुरुपाद प० भूपेन्द्रपति त्रिपाठी विश्वविद्यालय के आचार्य पद से अवकाश प्राप्त कर पूर्व पाठशाला के निकट ही निवास करते है। पिछले वर्षों मे प्रयाग जाने पर अनेक बार उनके पुण्य दर्शन का अवसर मिला। पूर्व अनुराग और अनुग्रह अक्षुण्ण देखकर आश्चर्य और आह्लाद होता है। कौत्स के समान किसी धनेश से प्राप्त कर उन्हें कोई गुरु दक्षिणा नहीं दे सका। आज इतने विलम्ब से प्रकाशित इस 'अभिनव रस-मीमांसा' को उनके चरणों म समर्पित कर मुझे कुछ सन्तोष का अनुभव होता है। यह समर्पण 'त्वदीय वस्तु गोविन्द' के समर्पण के समान उनके स्नेह-जल से सिंचित मेरी प्रतिभा के प्रसून के समान उनके ही अनुग्रह का प्रसाद है। गुरु ऋण क्या किसी भी ऋण से उऋण होना सम्भव नहीं है। इस ग्रन्थ के समर्पण से गुरु ऋण का व्याज भी चुका सके तो मैं उनके मूल ऋण से आजीवन ऋणी रह कर ही अपने को कृतार्थ मानता रहूँगा।

रामानन्द तिवारी

14, गोलबाग रोड
भरतपुर (राजस्थान)
11 मार्च 1983

प्रस्तावना

"अभिनव रस-मीमासा" मे काव्य के प्रसग मे रस का एक नितात नवीन और मौलिक विवेचन है। नवीनता और मौलिकता की दृष्टि से ही 'रस-मीमासा' को "अभिनव" के विशेषण से अलंकृत किया गया है। इसकी नवीनता और मौलिकता कुछ असाधारण है। सामान्यत प्रत्येक लेखक अपनी उस कृति को भी नवीन और मौलिक मानता है जिसमे वह किसी परिचित विषय को नवीन रूप मे अथवा नए दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है। ऐसी कृति म सिद्धान्तो की कोई मौलिकता न होते हुए भी परिचित सिद्धान्तों के आधार पर कुछ नए दृष्टिकोण, कुछ नए विवेचन, कुछ नई व्याख्या और कुछ नए निष्कर्ष को ही कृति की मौलिकता का प्रमाण माना जाता है। हिन्दी आलोचना की अधिकाश रचनाए इसी अर्थ मे मौलिक हैं। यह मौलिकता का आशिक रूप है।

सामान्यत साहित्य मे इसी प्रकार की मौलिकता सम्भव होती है। पूणत नवीन और क्रातिकारी सिद्धान्तो की उदभावना युगो मे होती है और युगो का प्रवतन करती है। भारतीय काव्य-शास्त्र के साधारणीकरण, अभिव्यक्तिवाद आदि ऐसे ही युगान्तरकारी मौलिक सिद्धान्त हैं। भारतीय काव्य शास्त्र मे अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद के बाद कोई मौलिक और क्रान्तिकारी स्थापना नही हुई। सस्कृत का उत्तरकालीन काव्य शास्त्र तथा हिन्दी की अर्वाचीन आलोचना इन्हीं सिद्धान्तों की व्याख्या तथा इनका ही समथन हैं। आधुनिक हिन्दी आलोचना प्राचीन भारतीय काव्य शास्त्र की चिरतन स्थापनाओ अथवा पश्चिमी आलोचना के नवीन सिद्धान्तो का अनुसरण करती है। आधुनिक भारतीय मनीषा के मत मे सिद्धान्तो का अधिकार प्राचीन भारतीय आचार्यों अथवा पश्चिमी विद्वानो को ही है। पराधीनता के युग मे (तथा स्वतन्त्रता के पिछले वर्षों मे भी) भारतीय प्रतिभा साहित्य, दशन आदि किसी भी क्षेत्र में नवीन सिद्धान्तों के उद्भावन मे असमथ रही है। पिछली शताब्दियों में प्राचीन विचार का पिष्टपेषण अथवा व्याख्यान ही होता रहा है। प्राचीन सिद्धान्तों की यह व्याख्या भी प्रधानत पश्चिमी विद्वानो द्वारा प्रशस्त किए गए

मार्ग पर ही की जाती है। पश्चिमी परम्परा से स्वरूपत भिन्न धर्म, दर्शन, संस्कृति, साहित्य आदि का स्वतन्त्र, मौलिक एव भारतीय दृष्टिकोण से मूल्याकन भी वतमान भारतीय चिंतन मे दुलभ है। पराधीनता के प्रभाव से आज भी हम इतने ग्रस्त हैं कि किसी भी क्षेत्र मे मौलिक सिद्धान्तो के उदभावन अथवा भारतवष मे उदभावित मौलिक सिद्धान्तों को आदर देने की ओर हमारी प्रवृत्ति नही है। उच्च शिक्षा के सभी क्षेत्रो म आधुनिक पश्चिमी विद्वानो के ग्रन्थों का आदर और आधिपत्य है। भारतीय विद्वान और आचाय इन ग्रन्थो का अध्यापन करके ही कृताथ हो रहे हैं। आर्थिक विकास म भारत अन्य देशों से समानता प्राप्त करने की ओर तत्पर है। किन्तु विद्या, विचार और प्रतिभा के क्षेत्र मे इस ओर अग्रसर होने की ओर हमारे नेताओ और विचारकों का अधिक ध्यान नही है। पश्चिमी प्रभाव से पराभूत होने के कारण न प्राचीन भारतीय सिद्धान्तो का उचित आदर हो रहा है और न नवीन मौलिक चिन्तन की कोई स्वतन्त्र भूमिका बन रही है। प्राय प्राचीन भारतीय सिद्धान्त भी हेय समझे जाते हैं। जीवन के अन्य क्षेत्रो की भाति आज साहित्य मे भी नवीन पश्चिमी आदश और सिद्धान्त ही अनुकरणीय माने जाते हैं। नवीन भारत मे स्वतन्त्रता की कुछ ऐसी ही विडम्बना है।

ऐसी स्थिति को जानते हुए भी मैंने इस "अभिनव रस मीमासा" मे काव्य और रस के सम्बन्ध म कुछ पूर्णत नवीन और मौलिक सिद्धान्तो को प्रस्तुत करने का दुस्साहस किया है। ये सिद्धान्त पूर्व और पश्चिम के समस्त काव्य-शास्त्र को एक प्रबल चुनौती देते हैं ऐसा कहना मुझ जैसे अकिंचन अध्यापक और लेखक के लिए कोरा दम्भ प्रतीत होगा। फिर भी मेरा विनम्र अनुरोध है कि हिन्दी के विद्वान आलोचक इन सिद्धान्तो की यथार्थता पर उदारता एव गम्भीरता के साथ विचार करने का अनुग्रह करेंगे।

हिन्दी म आज आलोचना का ही युग है। कथा साहित्य के अतिरिक्त मौलिक गद्य की रचना बहुत कम होती है। विचारपूर्ण, कलात्मक एव सास्कृतिक अथवा दार्शनिक गद्य बहुत कम देखने म आता है। आलोचना मे भी परम्परागत सिद्धान्तो के आधार पर साहित्य के इतिहास का ही अध्ययन अधिक है। 'प्रभाकर गाइड" से लेकर असख्य अन्वेषण प्रबन्धो तक का यही लक्षण है।

साहित्य अथवा काव्य के सम्बन्ध म मौलिक सिद्धान्तो का उद्भावन तो दुलभ है प्राचीन एव परम्परागत सिद्धान्तो का गम्भीर विवेचन करने वाले ग्रन्थ भी बहुत कम दिखाई देते है।

हिन्दी अनुसन्धान का समस्त काय ऐतिहासिक आलोचना के क्षेत्र म हुआ है। अवपण ग्रन्था के विषयो का सम्बन्ध हिन्दी इतिहास के भक्तियुग, रीतिकाल, आधुनिक युग आदि पर्वों से हैं अथवा सूर तुलसी, बिहारी प्रसाद प्रेमचन्द आदि इन युगो के बडे छोट कवियो एव साहित्यकारा से है अथवा नाटक, गद्य गीतिकाव्य, कहानी उपन्यास आदि साहित्य रूपो से है, अथवा रहस्यवाद नियतिवाद आदि वादो से है। इन सब क्षेत्रा का आलोचनात्मक अध्ययन भी आलोचना का वैभव है। किन्तु इनके साथ साथ सिद्धान्तो के विवेचन की प्रतिभा भी अपक्षित है। वही प्रतिभा साहित्य की सजनात्मिका शक्ति का स्रोत है। इसी के अभाव मे आज हिन्दी साहित्य दीन हो रहा है। तथा हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद के योग्य गौरवशाली बनने मे कठिनाई हो रही है।

हिन्दी आलोचना मे सिद्धान्तो का गम्भीर विवेचन बहुत कम है। अधिकाश आलोचना सैद्धान्तिक न होकर व्याख्यात्मक है। आचाय रामचन्द्र शुक्ल, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचाय नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र आदि कुछ इने गिने मूधन्य विद्वान हिन्दी के गौरव की रक्षा करते रहे हैं। य भी हिन्दी आलोचना को कोई नवीन सिद्धान्त नही दे सके है। प्राचीन काव्यशास्त्र के सिद्धान्तो, विशेषत साधारणीकरण, के कुछ पक्षो का मौलिक विवेचन इनकी महत्वपूण देन है। अभिनवगुप्त के बाद भारतीय काव्यशास्त्र की अवरुद्ध गति को देखते हुए यह भी अभिनन्दनीय है।

आधुनिक हिन्दी आलोचना के इन धुरन्धरा की कुछ मौलिक देन के अतिरिक्त काव्यशास्त्र के पात्र म व्याख्या और अनुवाद का ही काय अधिक हुआ है। सेठ कन्हैयालाल पाद्दार, प० बलदेव उपाध्याय, प० रामदहिन मिश्र आदि के ग्रन्थ प्राचीन काव्यशास्त्र की उपादेय व्याख्याआ म उल्लेखनीय है। किन्तु डा० एस० के० दे के 'भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास" से इनकी कोई तुलना नही है। एक प्रकार से बहुत परिमाण म ये ग्रन्थ डा० दे के उक्त ग्रन्थ

पर अवलम्बित है। अनुवादों म प० शालिग्राम शास्त्री का साहित्य दपण", डा० सत्यव्रतसिंह का "काव्यप्रकाश", आचाय विश्वेश्वर का 'ध्वन्यालोक' प्रामाणिक और उपयोगी है। किन्तु प्राचीन काव्यशास्त्र के सिद्धाता का कोई ऐसा मौलिक विवेचन उपलब्ध नही है जो हिन्दी आलोचना का गौरव द सक। नवीन सिद्धान्तो का उदभावन तो कदाचित हिन्दी आलोचना म असम्भव अं अकल्पनीय समझा जाता है।

इस दृष्टि से 'अभिनव रस मीमासा" हिन्दी के एक अभानग्रस्त क्षेत्र म एक तुच्छ अध्यापक और लेखक का असाधारण दु साहस है। मन इसे असाधारण रूप म नवीन और मौलिक कहा है क्योकि इसम काव्य तथा रस के सम्बन्ध मे कुछ पूणत नवीन, मौलिक और क्रातिकारी सिद्धातों की प्रथम बार स्थापना की गई है। यह स्थापना मौलिकता के महत्वाकाक्षी एक तुच्छ लेखक का कौतूहलमात्र नही है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे प्राचीन और परम्परागत सिद्धाता की तुलनात्मक भूमिका मे इन सिद्धाता का गम्भीर विवेचन किया गया है। समय और स्थान के अभाव के कारण यह विवेचन सक्षिप्त और अपूण है। सैद्धातिक विवेचन की सूक्ष्मताओ और गहराइयो का विस्तार वढ जान के कारण कविताओ के पूरे उदाहरण नही दिए जा सके है। फिर भी आवश्यकतानुसार अपेक्षित काव्य स्थलो का निर्देश कर दिया गया है। विषय के अनेक प्रसगा का विवेचन अभी शेष है। किन्तु यह सक्षिप्त और अपूण विवेचन भी प्रमुख सिद्धातो की पर्याप्तरूप से स्पष्ट रूप रेखा प्रस्तुत करता है। हिन्दी के विद्वाना से मेरा विनम्र निवदन है कि वे लेखक की तुच्छता का ध्यान न करके इन सिद्धातो की सत्यता का उसी गम्भीरता पूवक परीक्षण करें, जिस गम्भीरता के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ म उनका प्रतिपादन किया गया है।

सकेत की दृष्टि से इस भूमिका मे इस अभिनव रस मीमासा" के कुछ प्रमुख मौलिक सिद्धाता का निर्देश उचित होगा। इनम कुछ सिद्धान्त निम्न लिखित है —

(१) इनम सवसे पहला सिद्धात यह है कि काव्य एव काव्य का सजन और उसका रसास्वादन व्यक्तिगत इकाई के एकात म नही वरन समात्मभाव की स्थिति मे होता है। समात्मभाव प्राकतिक व्यक्तिवाद और निर्वैयक्तिक

अध्यात्म से भिन्न व्यक्तियो के भावपूर्ण साम्य की स्थिति है। इसकी अधिक व्याख्या ग्रन्थ मे अनेक स्थानो पर की गई है। इस दृष्टिकोण से पूर्व और पश्चिम का समस्त काव्यशास्त्र प्राकृतिक व्यक्तिवाद की रूढि से शासित है तथा समात्मभाव के सिद्धात का प्रस्तुत प्रतिपादन इस क्षेत्र में एक क्रातिकारी स्थापना है।

(२) दूसरा सिद्धान्त यह है कि काव्य की रचना और उसके आस्वादन की वास्तविक स्थिति का विश्लेषण व्यक्तिवाद का नही, वरन् समात्मभाव का समर्थन करता है। काव्य के श्रेष्ठतम उदाहरण भी इस समात्मभाव को प्रमाणित करते है, यद्यपि काव्यशास्त्र के अनेक आचार्य व्यक्तिवाद के आधार पर ही काव्य के रस का विवेचन करते रहे।

(३) तीसरा सिद्धात यह है कि व्यक्तिवाद के कारण काव्यशास्त्र मे अनेक असगतिया उत्पन्न हुई तथा इन असगतियो के समाधान के लिए साधारणीकरण, अभिव्यक्तिवाद आदि असगत सिद्धातो का आविष्कार हुआ। फिर भी अन्त मे अभिव्यक्तिवाद के प्राकृतिक और व्यक्तिवादी सिद्धात मे ही भारतीय रस मीमासा की परिणति हुई।

(४) चौथा सिद्धात यह है कि परम्परागत काव्यशास्त्र का नवधा रस-विधान प्राकृतिक व्यक्तिवाद पर ही आश्रित है। रसो के स्थायीभाव प्राकृतिक मनोविकार हैं। अभिव्यक्तिवाद मे इन्ही मनोविकारो की सामाजिक के व्यक्तिगत आश्रय मे उदभूति को रस माना गया है।

(५) पाचवा सिद्धात यह है कि नाटक की प्रकृति प्रधान स्थिति मे आरम्भ होने के कारण रसो के स्थायीभावो मे प्रिय और अप्रिय भावो का समावेश किया गया है, जो वस्तुत प्राकृतिक दृष्टिकोण के विपरीत है। इसीलिए इस विरोध के समाधान के लिए सत्व के उत्कर्ष का आश्रय लिया गया।

(६) छठा सिद्धात यह है कि साधारणीकरण और सत्वोत्कर्ष के निर्व-यक्तिक सिद्धात काव्य के रसास्वादन के विपरीत है तथा काव्यशास्त्र की मूल प्राकृतिक धारणा के साथ असगत है। अभिव्यक्तिवाद के व्यक्तिवादी मत मे

यह सगति सम्पन्न होती है। किन्तु काव्य का रमास्वादन न निर्वैयक्तिक सात्विक स्थिति म होता है और न प्राकृतिक व्यक्तिवाद म होता है, वरन सास्कृतिक ममात्मभाव मे होता है।

(७) सातवा सिद्धात यह है कि रम का सामान्य लक्षण मधुरता, प्रियता, स्पहणीयता आदि ह, किन्तु रम एक ही प्रकार का नही है। ये लक्षण प्राकृतिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक तीनो प्रकार के रसो मे पाए जा सकते हैं। काव्य शास्त्र की रस मीमासा मे रस की एकरूपता का अनुरोध है, उसम भी प्राकृतिक रम का प्रभुत्व है। आध्यात्मिक रस के क्षितिजो का स्पश आचार्यों ने अवश्य किया है किन्तु उनके इस दृष्टिकोण मे अध्यात्म के माथ रति आदि के प्राकतिक मनोभावो की समुचित सगति नही हो सकी। रस के इन तीन–प्राकतिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक–रूपो का विवेक हमारी रस मीमासा की एक महत्वपूण मौलिकता है।

(८) आठवा सिद्धात यह है कि काव्य एक कला है। कला सस्कति का एक अग और रूप है। काव्य का स्वरूपगत रम सास्कतिक है। वह न प्राकतिक है और न आध्यात्मिक। अत वह न प्राकतिक व्यक्तिवाद की स्थिति म सम्पन्न होता है और न अध्यात्म की निर्वैयक्तिक स्थिति मे सम्भव होता है, वरन सास्कतिक समात्मभाव की स्थिति मे सम्पन्न होता है।

(९) नवा सिद्धात यह है कि काव्य का यह स्वरूपगत रस प्रधानत काव्य के रूपगत सौदय का रस है जो ममात्मभाव की स्थिति म रूप और भाव अथवा भाव के साम्य की स्थिति म सम्पन्न हाता है। काव्यशास्त्र म काव्य के इस रूपगत रस की स्थापना किसी आचाय ने नही की। अधिकाश काव्यशास्त्र मे रम का विवचन साक्षात जीवन के अनुरूप हुआ है। उसम भी प्राकतिक रसानुभव की प्रधानता हाने के कारण प्रियभावो के सास्कतिक रम का तथा अप्रिय भावो के रस का समाधान उचित रीति से नही हो सका है।

(१०) दसवा सिद्धात यह है कि इस साम्य और समात्मभाव के अनेकरूप अनेक कोटिया है जिनके अनुसार काव्य के सौदय और रस की अनेक कोटिया बन जाती हैं। काव्य और रस की इन कोटियो का विवरण पाचवें छठे, सातवें और नवें अध्यायो म किया गया है।

(११) ग्यारहवा सिद्धात यह है कि काव्य के रूपगत सौदय के साथ समात्मभाव और साम्य के द्वारा ही रसो के भावो मे प्रिय और अप्रिय भावो के सन्निधान की सगति सम्भव हो सकती है। समात्मभाव की स्थिति मे सभी भाव रस का आधार बन जाते है। रूप के सौदय और समात्मभाव की विभिन्न कोटिया रस की विभिन्न कोटियो का विधान करती हैं।

(१२) बारहवा सिद्धात यह है कि कवि, नायक, सामाजिक आलम्बन आदि सभी अपने अपने अनुरूप समात्मभाव मे विविध रूप रसका आस्वादन करते है। रस के स्वरूप और आश्रय का आग्रह प्राकतिक दृष्टिकोण का फल है और समीचीन नही है।

(१३) तेरहवा सिद्धात यह है कि रस के परम्परागत भेद पूणत सगत नही है। रस की त्रिवेणी के आधार पर उस भेद का पुनर्विधान करना होगा। नवे अध्याय म हमने रस विभाजन की नवीन रूपरेखा प्रस्तुत की है। उसम कुछ रसो का नवीन नामकरण तथा कुछ रसो के नवीन रूप का निर्धारण किया है। उदाहरणाथ—रौद्र बीभत्स आदि को करुणा के उपभेदो मे स्थान दिया गया है।

(१४) चौदहवा सिद्धात यह है कि काव्यशास्त्र और अधिकाश काव्य मे शृगार वात्सल्य, हास्य आदि प्रिय रसो के प्राकतिक रूप की ही प्रधानता है। इनके सास्कृतिक रूपो की कल्पना और रचना बहुत कम की गई है। नवे अध्याय म इसका निदशन किया गया है।

(१५) पद्रहवा सिद्धात यह है कि दु खमय अथवा अप्रिय भावो के रस का उचित समाधान काव्यशास्त्र म नही हो सका। हमारा मत है कि करुणा मानव हृदय का अत्यन्त व्यापक और मौलिक भाव है। वह प्रसिद्ध करुणा से भिन्न है, जो शोक के स्थायी भाव पर आश्रित है। करुणा के इस व्यापक भाव का प्राय सभी रसो के क्षेत्र म प्रभाव है। काव्य मे करुणा का ही चित्रण सबसे अधिक प्रभावशाली है। करुणा के इस व्यापक रूप की महिमा का निदशन ग्यारहवे अध्याय म किया गया है।

(१६) सोलहवा सिद्धात यह है कि काव्य मे रस का सम्यक् विवेचन पूणत मनोवैज्ञानिक आधार पर नही हो सकता। मनोविज्ञान का दृष्टिकोण प्राकृतिक और व्यक्तिवादी है। काव्य और रस एक सास्कृतिक उपलब्धि है, जो

समात्मभाव की स्थिति में सम्पन्न होती है। परम्परागत काव्यशास्त्र में प्राकृतिक रसविधान में मनोविज्ञान की गति हो सकती है। किन्तु काव्य में सांस्कृतिक सौन्दर्य है। रस का निरूपण पूर्णतः मनोविज्ञान के आधार पर नहीं हो सकता। समात्मभाव प्राकृतिक व्यक्तिवाद और निर्वैयक्तिक अध्यात्म दोनों से भिन्न है। किन्तु साथ ही उसमें दोनों का समन्वय भी है। समात्मभाव और काव्यगत सौन्दर्य एवं उसके मर्म का निरूपण पूर्णतः मनोविज्ञान के आधार पर नहीं हो सकता। मनोविज्ञान का अतिचार संस्कृति में पश्चिमी दृष्टिकोण का परिणाम है, जो भारत की अध्यात्म प्रधान संस्कृति की व्याख्या में भ्रान्तिकारक है। रस मीमांसा में मनोविज्ञान की गति का विवेचन बारहवें अध्याय में किया गया है।

इस "अभिनव रस मीमांसा" में प्रस्तुत मौलिक और क्रान्तिकारी सिद्धान्त आधुनिक हिन्दी आलोचना में कोई क्रान्ति उपस्थित कर सकेंगे, ऐसी आशा तो मेरे नम्र किन्तु निभ्रान्ति मन में नहीं है, फिर भी यदि ये सिद्धान्त काव्य के स्वरूप और रस के सम्बन्ध में कुछ परम्परागत भ्रान्तियों का निवारण कर सकेंगे, तो मेरी साधना सफल होगी। प्राचीन भारत में जब विचार का आदर था, अज्ञात कुलशील और अकिंचन आचार्यों के सिद्धान्त चिन्तन जगत में क्रान्ति के सदेश-वाहक बन जाते थे। आज भारतवर्ष में विचार का नहीं अधिकार का आदर है। आडम्बर के वैभव से सरल और अज्ञान जनता को चमत्कृत एवं आकर्षित करने वाले सन्त महात्मा अथवा पद और अधिकार के ऐश्वर्य से शासित करने वाले नेता तथा पीठाधीश प्राचीन और परिचित सिद्धान्तों का प्रचार करके भी क्रान्ति के देवदूत बन सकते हैं। स्वतन्त्र भारत की ऐसी स्थिति में मौलिक और महान् सिद्धान्तों का अभिमानी एक अकिंचन अध्यापक और विचारक भविष्य की आशा मरीचिका के सुदूर तट पर ही अपने चिन्तनशील मन को विश्राम दे सकता है।

रामानन्द तिवारी "भारती नन्दन"

महारानी श्री जया कॉलिज, भरतपुर
शरद् पूर्णिमा, सं० २०१८ विक्रमी
२३ अक्टूबर १९६१

विषय-सूची

रसो का अभिनव वर्गीकरण

क — **प्राकृतिक रस**

भौतिक षटरस						मानसिक षटरस					
मधुर	अम्ल	लवण	कटु	कषाय	तिक्त	शृंगार	हास्य	वीर	वात्सल्य	भक्ति	शान्त

सकर रस

रूप के अतिशय का योग

सत्ता सभाव का योग

ख — **सांस्कृतिक रस**

सांस्कृतिक रस की उत्तरोत्तर समृद्ध राशियां

सत्ता सभाव

रूप का अतिशय

भाव (अर्थ)

भाव (अर्थ) का अतिशय (आकृति)

भाव (भावना) का अतिशय

प्रिय भाव					अप्रिय भाव (करुणा)					
मधुर	हास्य	ओज	शान्त	श्रद्धा	दुःख	रौद्र	जुगुप्सा	भय	मात्सर्य	क्रोध

शृंगार — वात्सल्य — बन्धुभाव — सख्यभाव — भक्तिभाव

स्वामीभाव — मातृभाव — पितृभाव — गुरुभाव — भ्रातृभाव

ग — **आध्यात्मिक रस**

ब्रह्म रस		भक्ति रस						
शान्त	आनन्द	स्वामी भाव	मातृभाव	पितृभाव	गुरुभाव	बन्धुभाव	सख्यभाव	दाम्पत्य भाव

श्री सुरेन्द्रकुमार शर्मा द्वारा निर्मित एवं अंकित

रस के विविध रूप

संस्कृत भाषा म रस एक समृद्ध अर्थ से परिपूर्ण पद है। सत्ता और अनुभव के अनेक रूपों के लिए इसका प्रयोग होता है। अर्थ की यह विविधता एक ओर भाव की समृद्धि की सूचक है यद्यपि दूसरी ओर इस विविधता से सिद्धान्तों के विवेचन में कुछ भ्रान्तियाँ भी उत्पन्न होती हैं। सत्ता और अनुभव के जिन विभिन्न क्षेत्रों में 'रस' का प्रयोग होता है उनमें कुछ मौलिक अन्तर होने के कारण 'रस' के विविध अर्थों में कुछ विषमता है, किन्तु साथ ही उन विविध क्षेत्रों में समान रूप से 'रस' पद का प्रयोग होने के कारण अर्थ की इस विषमता में कुछ समता का आधार भी अवश्य है। वस्तुतः इस समता के आधार पर ही विविध क्षेत्रों में समान रूप से 'रस' पद का प्रयोग होता है। 'रस' के विविध अर्थों में व्याप्त समता का यह तत्व काव्य में रस के रहस्य को समझने में भी उपयोगी होगा। रस के विविध अर्थों की विषमता काव्य के प्रसंग में रस विवेचन में होने वाली भ्रान्तियों के निवारण का दिग्दर्शन कर सकती है। अतः काव्य के विशेष प्रसंग में 'रस' की मीमांसा के पूर्व सत्ता और अनुभव के विविध क्षेत्रों में प्रकट होने वाले 'रस' के इन विविध रूपों का विवेचन उपयोगी होगा।

संस्कृत भाषा का 'रस' पद अर्थ में इतना समृद्ध और प्रयोग में इतना व्यापक है कि भौतिक सत्ता के क्षेत्र से लेकर आध्यात्मिक अनुभव के क्षेत्र तक उसका व्यवहार होता है। लोक व्यवहार में फलों और वनस्पतियों के द्रव सार को 'रस' कहते हैं। आयुर्वेद में सुवर्ण, ताम्र आदि धातुओं के अग्नि द्वारा भस्मीकृत सार को 'रस' कहते हैं। ये दोनों 'रस' के वस्तुगत रूप हैं जो भौतिक सत्ता के अन्तर्गत हैं। इन रूपों में 'रस' का अभिप्राय पदार्थों के उस स्वरूप से है जो उनका सार माना जाता है। फलों का रस फलों का सार है। धातुओं से निर्मित भस्मे भी उनका वह सार स्वरूप है जो अग्निदाह के बाद शेष रह जाता

है। सारता के अतिरिक्त 'रस' के इन भौतिक रूपों में कुछ और भी ऐसे लक्षण हैं जो कला, काव्य, संस्कृति और अध्यात्म के क्षेत्र में व्याप्त रस के सामान्य स्वरूप के निर्धारण में सहायक हो सकते हैं। रस के भौतिक रूपों के इन लक्षणों का विवरण आगे चलकर यथा प्रसंग किया जायेगा। भौतिक सत्ता के क्षेत्र के अतिरिक्त अनुभव के क्षेत्र में भी 'रस' पद का प्रयोग होता है। अनुभव का क्षेत्र चेतना का क्षेत्र है। हम इसे 'भाव' का क्षेत्र भी कह सकते हैं। अभिप्राय में 'भाव' सत्ता का ही वाचक है। किन्तु किसी अज्ञात लक्षण के द्वारा वह चेतना के रूपों का व्यंजक बन गया है। इनमें भी केवल ज्ञान से भिन्न कुछ विशेष भावना से युक्त चेतना के रूपों के लिए 'भाव' का प्रयोग अधिक उपयुक्त माना जाता है। चेतना के इन रूपों की सत्ता अधिक प्रखर होने के कारण मानवीय व्यवहार में इन्हें अधिक महत्व मिलना स्वाभाविक है। जिस लक्षण के द्वारा 'भाव' पद चेतना के कुछ विशेष रूपों का व्यंजक बना, कदाचित् उस लक्षण का सूत्र चेतना के इन भावों की इसी महिमा में हो। मानो चेतना के इन्हीं 'भावों' की सत्ता विशेष रूप से महत्वपूर्ण और माननीय है। भौतिक सत्ता स्वतः सिद्ध अथवा ईश्वराधीन है। उसमें मनुष्य का कोई गौरव नहीं है। चेतना के अनुरागपूर्ण भावों में ही मानवीय कृतित्व की महिमा और मानवीय सत्ता की गरिमा प्रकट होती है। इसीलिए सत्तावाचक 'भाव' पद अनुरागपूर्ण भावों का व्यंजक बन गया।

अस्तु, भौतिक सत्ता के वस्तुगत रूपों के अतिरिक्त 'रस' के अनेक चेतन और भावगत रूप हैं। ऐन्द्रिक संवेदना से लेकर आत्मिक आनन्द तक रस के इन रूपों का विस्तार है। ऐन्द्रिक संवेदना चेतना का ऐन्द्रिक रूप है। वह भौतिक पदार्थों के साथ इन्द्रियों के सम्पर्क के द्वारा जाग्रत होती है। यदि 'रस' को सुखमय संवेदना मानें तो प्रायः सभी इन्द्रियों में रसानुभूति की क्षमता सिद्ध होगी किन्तु इनमें एक इन्द्रिय का 'रस' से विशेष सम्बन्ध माना जाता है। इस सम्बन्ध के कारण इस इन्द्रिय का नाम ही 'रसना' है। यह भौतिक पदार्थों के मधुर, अम्ल आदि रसों को ग्रहण करती है। इस रस को स्वाद भी कहते हैं। ऐन्द्रिक संवेदना चेतना का बाह्यतम रूप है। यह चेतना का वह क्षेत्र है जहाँ चेतना बाह्य जगत के पदार्थों के साथ सीधे सम्पर्क में रहती है। इस सम्पर्क से ही संवेदना जाग्रत होती है। इसके अतिरिक्त चेतना के आन्तरिक रूप भी हैं

जिनमे बाह्य पदार्थों के साथ उसका सम्बध इतना सीधा और स्फुट नही रहता। इनमे मन और बुद्धि के क्षेत्र प्रमुख और स्पष्ट हैं। हर्ष क्रोध उत्साह, भय मन मे रहते है यदि ये रस के रूप नही तो ये रस के अग अवश्य हैं। काव्य शास्त्र की परम्परा म जिन्ह रस कहा गया है उनके स्थायी भावो का अधिष्ठान भी मन है। ऐन्द्रिक रस और मानसिक रस मे कोई विरोध नही है, वरन् मन और इन्द्रियो के व्यापार एक दूसरे के उपकारक होते है। भारतीय दशन का यह सिद्धान्त है कि मन के सन्निकर्ष के बिना इन्द्रियो मे सवेदना का सचार नही होता। इन्द्रिय सवेदना म मन का ही नही आत्मा का सन्निकर्ष भी अपेक्षित होता है। मन के भाव भी प्राय ऐन्द्रिक सवेदनाओ पर आश्रित होते है। इन्द्रिया के व्यापार मनोभावो के बाह्य उपकरण प्रदान करत हैं। किन्तु मनोभावो का अधिष्ठान मन ही होता है। हम अपने आन्तरिक व्यक्तित्व मे तीव्रता से इन मनोभावो का अनुभव करते है। काव्य म प्रसिद्ध रस' इस आन्तरिक और मानसिक चेतना के रूप मे ही प्रकट होते हैं। बाह्य उपकरणो और ऐन्द्रिक सवदनाओ से रस का सम्बध होते हुए भी उसका मूल मम मन मे ही निहित रहता है। मन मे स्फुटित होने वाले काव्य के ये रस जीवन के अनुभवो मे भी हमे उसी रूप म प्राप्त होते है। जीवन मे इन रसो का पूव भाव मानकर ही काव्य शास्त्र मे इनका वणन किया गया है। कि तु काव्य का रस पूणत जीवन के रसो से अभिन्न नही है। रौद्र वीभत्स आदि के अनुभव को जीवन म रस मय मानना उचित नही है। कि तु काव्य म ये रस माने गए है। जीवन के रसो पर किसी सीमा तक आश्रित होते हुए भी काव्य के रस का अपना स्वरूप है जिसका निर्धारण प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य है।

भारतीय दशनो के अनुसार मन से परे बुद्धि का क्षेत्र है। मन चचल और बुद्धि स्थिर है। मन रजोगुण प्रधान है। रजस की प्रधानता के कारण ही मन चचल रहता है। बुद्धि सत्व गुण प्रधान है। सत्व की प्रधानता के कारण ही बुद्धि मे स्थिरता रहती है। इसीलिए दशनो मे जहा मन को सकल्प-विकल्पात्मक माना गया है, वहाँ बुद्धि को निश्चयात्मिक बताया है। मन को यदि चेतना का रागात्मक रूप मानें तो बुद्धि को चेतना का सात्विक रूप कहना उचित होगा। काव्य शास्त्र और भक्ति दशनो मे सात्विक रस की भी चर्चा की जाती है। यदि केवल बुद्धि इसका अधिष्ठान न भी हो फिर भी इस सात्विक

रस मे बुद्धि का योग मानना उचित होगा। भक्ति और काव्य के अतिरिक्त विद्या शास्त्र आदि के क्षेत्रो म बुद्धि की आनन्दमय तत्परता को प्रधानत बौद्धिक रस से प्रेरित माना जाता है। बौद्धिक रस' कुछ आत्म विरोधी प्रत्यय सा जान पडता है। अत इस पद का व्यवहार भी कुछ कम हुआ है। किन्तु विद्या, शास्त्र आदि के तन्मय अनुराग के प्रसग मे बौद्धिक रस' को मानना नितान्त न्याय सगत है।

रस के उक्त रूप मुख्यत लौकिक है। ये हमार साधारण लोक जीवन म उपलब्ध होते हैं। सभी लोग किसी न किसी मात्रा मे इनका अनुभव और आस्वादन करते हैं। इन रसो के अनुभाव और अवगम म कोई दुरुहता नही है। ये सभी का सुलभ हैं। इनकी प्राप्ति के लिए किसी असाधारण साधना की अपेक्षा नही होती। यह रस का परिचित और सुगम क्षेत्र है। बौद्धिक क्षेत्र को छोडकर रस के अन्य क्षेत्रो मे इन्द्रियो की सहज गति है और उनका विपुल सहयोग होता है। इन्द्रियो तथा साधारण लोक बुद्धि से ग्राह्य होन के अथ मे रस के इन रूपो को स्थूल भी कहा जा सकता है। रस के इन लौकिक रूपा से परे रस का एक अलौकिक अतीन्द्रिय और सूक्ष्म लोक बताया जाता है। यह आत्मा का रस है। इस हम आध्यात्मिक रस कह सकते है। दशनो के अनुसार आत्मा को भौतिक जगत इन्द्रिया मन, बुद्धि आदि स परे माना जाता है। आत्मा चेतना का वह निर्विकल्प रूप है जो इन सबस परे है। वेदा त दशन मे इस आत्मा को ब्रह्म कहा जाता है और इसे आन दमय माना जाता है। उपनिषदो का 'र सा वै स रस ह्येवाय लब्ध्वाऽऽन दी भवति इस प्रसग मे प्रमाण है। यह रस स्वरूप और आन दमय आत्मा अतीन्द्रिय और लोकातीत होत हुए भी प्रत्येक मनुष्य का अ ततमय स्वरूप है। इस स्वरूप का अनुसधान करके प्रत्येक मनुष्य आत्मान द की प्राप्ति कर सकता है। आत्मा का यह रस समस्त लौकिक उपकरणो और व्यापारों से परे होने के कारण अलौकिक हैं। *ऐन्द्रिक व्यापारो से अतीत होने के कारण वह अतीन्द्रिय भी है।* बुद्धि से अग्राह्य होने के कारण यह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। दशनो म इस आत्मिक रस की चर्चा बहुत रहती है। इस रस का परम और सर्वोत्कृष्ट रूप माना जाता है। इस के अन्य सब रूप इसकी तुलना मे तुच्छ और हय समझे जाते है। परमात्मा की भक्ति का रस भी आध्यात्मिक रस के समकक्ष है।

भक्तजन इस ऐन्द्रिय रसों तथा काव्य के रसो से कही अधिक श्रेष्ठ मानते है (जो मोहि राम लागत नीके, तो षट्रस नवरस अनरस ह्वै जात सब फीके। —तुलसीदास)

अलौकिक होन के नाते रस का यह आध्यात्मिक रूप रस के उक्त लौकिक रूपो से पूर्णत भिन्न है। किन्तु काव्य शास्त्र म प्राय काव्यगत रस का सूत्र उपनिषदो के आध्यात्मिक रस मे खोजा गया है। आध्यात्मिक रस से सम्बन्ध होने के कारण ही प्राय काव्य को लोकोत्तर आनन्द का प्रदाता माना गया है और ब्रह्मानन्द सहोदर के रूप म काव्यानन्द की कल्पना की गई है। फिर भी रस का आदि स्रोत आत्मा म मानत हुए भी काव्य शास्त्र के आचार्य ब्रह्मानन्द से काव्यानन्द के भेद को समझत रह हैं। दोनो को सहोदर मानने म यह भेद स्पष्ट हो जाता है। सहोदरो मे पैतृक धर्म की समानता होत हुए भी व एक दूसरे से नितान्त अभिन्न नही होते। विवचन की दृष्टि स हम यह कह सकते है कि आत्मानन्द अथवा ब्रह्मानन्द आत्मगत चेतना का पूर्णत निर्विकल्प और निरवच्छिन्न स्वरूप है। काव्यानन्द मे चेतना पूर्णत निर्विकल्प और निरवच्छिन्न नही होती। रस शास्त्र के अन्तिम महान आचाय पंडितराज जगन्नाथ ने जहा भग्नावरणा चित्' को ही रस मानकर काव्य के रस को वदात के ब्रह्मानन्द के अत्यत निकट ला दिया है, वहाँ उन्होने एव अन्य आचार्यों ने काव्यगत रस के प्रसग म रति आदि के अवच्छेदत्व को स्वीकार किया है। उनकी यह स्वीकृति काव्य और अध्यात्म के रस का अन्तर स्पष्ट कर देती है। अध्यात्म का रस निरवच्छिन्न होता है। अत उसके अनेक रूप नही होते। वह एक रूप ही होता है। किन्तु काव्य के रस अनेक रूप मान गये हैं। अत उसके रूपो मे भेद करन के लिए अवच्छेदकों का मानना आवश्यक है। अवच्छेदको के न रहने पर आत्मिक रस के समान काव्य का रस भी एक रूप हो जायगा। फिर काव्य के विविध रसो की उत्पत्ति न होगी। इसी कारण आचार्यों न रस मीमासा के प्रसग म उपनिषदो के आत्म तत्व का स्मरण करते हुए भी रति आदि स्थायी भावो को काव्यगत रसो का अवच्छेदक माना है। फिर भी आध्यात्मिक रस के साथ काव्यगत रस की अभिन्नता के सकेत काव्य शास्त्रो मे मिलते हैं। मम्मटाचार्य ने परनिर्वृति' को काव्य का परम लक्ष्य माना है। आत्मा ही पर है और आत्मा की प्राप्ति ही 'परनिर्वृति' है। यदि आत्मानुभव की प्राप्ति काव्य का

लक्ष्य है तो काव्यगत लक्ष्य रस को आध्यात्मिक रस से अभिन्न मानना होगा। कि तु ऐसा होने पर काव्य के अनेक रसो की उत्पत्ति नही हो सकती, उनका सकेत ऊपर किया गया है।

ऐसी स्थिति म काव्यगत रस के स्वरूप और आध्यात्मिक रस के साथ उसके सम्ब ध एव भेद का स्पष्ट विवेचन आवश्यक है। रस के उन अ य रूपो की भूमिका मे जिनका उल्लेख ऊपर किया गया यह विवेचन अधिक पूण और स्पष्ट हो सकेगा। सस्कृत भाषा का रस' शब्द अथ मे बहुत सम्पन्न और प्रयोग म बहुत व्यापक है। काव्य अथवा अध्यात्म के एक ही क्षेत्र मे सीमित रख कर भी रस की मीमासा की जा सकती है और प्राय की गई है। किन्तु भाषा के प्रयोग म रस की व्यापकता को देखते हुए इस सीमित दष्टिकोण से रस का विवेचन करने पर किसी भी क्षेत्र मे रस के स्वरूप का निरूपण सम्भवत अधिक स तोषजनक हो सकेगा। यह व्यापक दष्टिकोण रस के विभिन्न रूपा की सीमाओ को स्पष्ट बनाकर उ ह विभक्त रूप मे प्रकाशित कर सकेगा। सत्ता और अनुभव के अनेक रूपा के लिए एक समान पद (रस) का प्रयोग रस के विविध रूपो के कुछ समानताओ का सकेत भी करता है। इन समानताओ की खोज किसी भी क्षेत्र म रस के स्वरूप को समझने म अत्य त सहायक होगी। इस प्रकार इन समानताओ और विशेषताओ के आधार पर की जाने वाली रस मीमासा काव्य शास्त्र की दष्टि से भी अधिक सम्पन्न और सतोषजनक होगी।

इसी धारणा से प्रस्तुत रस मीमासा की भूमिका एक व्यापक परिधि म स्थापित की गई है। इसी उद्देश्य से व्यवहार मे प्रचलित रस के विविध रूपो का उल्लेख रस मीमासा की प्रस्तावना के रूप मे ऊपर किया गया है। भाषा और व्यवहार मे 'रस' पद का व्यापक प्रयोग इसका आधार है। ऊपर की प्रस्तावना मे रस के जिन विविध रूपो का उल्लेख किया गया है उनका व्यव स्थित वर्गीकरण करने से रस मीमासा की भूमिका अधिक स्पष्ट बन सकती है। अतएव इस प्रस्तावना के उपसहार मे यह वर्गीकरण हम अभीष्ट है। ऊपर की प्रस्तावना मे रस के जिन विविध रूपो का उल्लेख किया गया है वे इस प्रकार हैं—भौतिक रस ऐन्द्रिक रस, मानसिक रस बौद्धिक रस, का यगत रस और आध्यात्मिक रस। सबसे पहले हम इन रसो को लौकिक और अलौकिक दो

वर्गों में बाट सकते हैं। आध्यात्मिक रस लोकिक रस है [illegible] रस लौकिक हैं। जिस रस का अनुभव सब लोगो को सामान्यत होता है तथा जो अनुभव और चर्चा दोनो ही दृष्टियो से सुगम है उसे 'लौकिक रस' कहते हैं। यह साधारण जीवन की सीमा के अतगत है। प्राय सभी लोग उस पहचानते और प्राप्त करते हैं। लौकिक रस के उपकरण और साधन भी लोक के साधारण जीवन के अतगत विपुलता स उपलब्ध होते हैं। फलो और वनस्पतियो के रस, जो भौतिक रस क दो रूप हैं, लोक जीवन मे विदित हैं। इन रसो की धारिणी होने के कारण पृथ्वी 'रसा' कहलाती है। भोजन आदि के ऐंद्रिक रस हमारे दैनिक अनुभव मे प्रकट होते हैं। रसना स ग्राह्य स्वादो के अतिरिक्त अन्य ऐंद्रिक रस भी साधारण अनुभव के तथ्य हैं। ऐंद्रिक रसो का आस्वादन वाह्य विषयो पर निर्भर होता है तथा इंद्रियो के माध्यम से मन के व्यापार द्वारा सम्पन्न होना है। मानसिक, भौतिक और काव्यगत रस यद्यपि ऐंद्रिक रसो के समान सुलभ नही है, फिर भी ये अधिक दुलभ नही है तथा लोक जीवन मे सामान्यत एव विपुल परिमाण म उपलब्ध होते हैं। अत उपकरण साधन और अनुभव की दृष्टि से लोक जीवन म विपुलता से सुलभ होने के कारण रस के इन सभी रूपो को "लौकिक" कहना उचित है।

आध्यात्मिक रस इन सभी लौकिक रसो से भिन्न है। अत उसे अलौकिक ही कहना होगा। इसके उपकरण साधन और अनुभव का रूप उक्त लौकिक रसो से पूर्णत भिन्न है। यह आत्मा का रस है। आत्मा, विषयो, इंद्रियो, मन, बुद्धि आदि से परे एक अतीन्द्रिय एव अलौकिक सत्ता है। मनुष्य का अन्तरतम स्वरूप होते हुए भी वह इंद्रिय मन बुद्धि आदि ज्ञान के सामान्य साधनो से परे है। एक दृष्टि से हमारे समस्त अनुभव आत्मा से अनुप्राणित हैं किन्तु दूसरी ओर पूर्ण रूप म आत्मा का ग्रहण अत्यन्त दुलभ है। हमारे साधारण अनुभवो से परे समाधि के कैवल्य मे ही आत्मा का पूर्ण स्वरूप प्रकाशित होता है। आत्मा का यह केवल और पूर्ण स्वरूप आनन्दमय है। यह आनन्द भी लोक जीवन के परिचित सुखो और आनन्दो से अत्यन्त भिन्न है। अत इसे अलौकिक आनन्द कहना उचित है। उपनिषदो मे इसी आनन्द को 'रस" कहा है। (रसोवैस रस ह्येवाय लब्ध्वा ऽऽनन्दी भवति)। अन्य लौकिक रसो से भेद करने के लिए इसे आत्मिक एव अलौकिक रस कहना चाहिए। लौकिक रसो के कोई भी

उपकरण और साधन इस आत्मिक रस मे उपयोगी नही होते। लौकिक रस जगत के बाह्य विषयो के उपकरणो से इन्द्रिया, मन, बुद्धि आदि के द्वारा ग्रहण किए जाते हैं। ज्ञान के ये परिचित साधन आत्मिक रस के अनुभव मे सहायक नही हो सकते वरन् वे बाधक माने जाते हैं। अतः योग और साधना द्वारा इनका अतिक्रमण करके ही हम आत्मा के रसलोक तक पहुच सकते हैं। यह आत्मा इन्द्रियो से ही नही, मन और वाणी से भी परे (अवाङ्मनसगोचर) है। न मन के द्वारा उसका ग्रहण हो सकता है और न वाणी द्वारा उसका निवचन। वाणी उस तक न पहुच कर मन के सहित लौट आती है (यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह)। विषयो के बाह्य उपकरण भी आत्मा के रस मे बाधक है। इनका भी अतिक्रमण करके ही आत्मा ने रस लोक म प्रवेश किया जा सकता है। इस प्रकार आत्मा का आध्यात्मिक रस अतीन्द्रिय और अलौकिक है। वह दुलभ और अनिवचनीय है। वह स्वरूप और साधन सभी दृष्टियो से लौकिक रसो से भिन्न है। लौकिक रस जितने सुलभ हैं उतना ही वह दुलभ है। लौकिक रसो के समस्त साधनो और उपकरणो को पीछे छोडकर आत्मा के कैवल्य लोक म विहार करने वाले ही इस रस का आस्वादन कर सकते हैं। सभी लौकिक रस भेद और द्वैत से युक्त है। उन सभी मे विषय और विषयी का द्वैत रहता है। किन्तु आत्मा अद्वैत है। उसमे कोई भेद नही है। वह स्वय ही रस स्वरूप और स्वय ही रस-ग्राहक है। वह स्वय अपने कैवल्य मे अपने स्वरूपगत रस का आस्वादन करता है। रस के इस आस्वादन को कम न कहकर स्वरूप का प्रकाशन कहना अधिक उचित है। आत्मा के रस का यह अद्वैतभाव उसकी अलौकिकता का एक प्रमुख लक्षण है। अद्वैत होने के कारण आत्मा का रस निरवच्छिन्न होता है। लौकिक रसो की भाति उसमे कोई अवच्छेदक नही होते। लौकिक रसो के उपकरण साधन अधिष्ठान आदि अपनी विशेषताओ एव अनेकता के द्वारा उन रसो के अवच्छेदक बनते हैं। ये अवच्छेदक लौकिक रसो को सापेक्ष, सीमित और वचनीय बनाते हैं। इसके विपरीत निरवच्छिन्न होने के कारण आत्मा का रस अद्वैत अनिवचनीय और अनन्त है।

आत्मा के इस अलौकिक और आध्यात्मिक रस के अतिरिक्त अन्य सभी रस लौकिक हैं। भक्ति का रस एक ओर आत्मिक रस के समकक्ष है, किन्तु दूसरी ओर लौकिक उपकरण भक्ति मे नितान्त अनुपादेय नही है। भक्ति को हम

लौकिक जीवन की भूमिका मे अलौकिक रस का साधन कह सकते हैं। भक्ति के इस अद्‌भुत रस का विवेचन हम आगे यथास्थान करेंगे। काव्य के आनन्द को भी कुछ आचार्य लोकोत्तर मानते हैं। उपनिषदो के 'रसो वै स" मे काव्य के रस का स्रोत खोजा जाता है। किन्तु काव्य का रस आत्मा के रस की भाति पूर्णत अलौकिक नही है। आचार्यो ने रति आदि के अवच्छेदक के रूप म काव्य के रस की लौकिकता स्वीकार की है। काव्य का रस श्रवण दर्शन आदि के माध्यम से प्राप्त होता है। य माध्यम भी काव्य के रस को लौकिक बनाते है। काव्य का रस लोक म अत्यन्त सुलभ और साधारण है। सामान्यत सभी लोग उसका आस्वादन करते हैं। इस दृष्टि से भी वह लौकिक तथा आत्मा के दुलभ एव अलौकिक रस से भिन्न है। काव्य के रस मे भी विषय, माध्यम वृत्ति, अधिष्ठान आदि के अवच्छेदक द्वैत भाव की स्थापना करके आत्मा के अद्वैत और अनवच्छिन्न रस के साथ उसके भेद का सकेत करते हैं। भक्ति रस की भाति काव्यगत रस के स्वरूप का विवेचन विस्तार के साथ अगले अध्यायो म किया जायगा। अभी हम लौकिक रसो के साथ उसके साम्य तथा आत्मा के अलौकिक रस के साथ उसके वैषम्य के आधार पर उस लौकिक रस मान लेत हैं।

आत्मा के अलौकिक रस के अतिरिक्त अन्य सभी रस लौकिक हैं। आध्यात्मिक रस को छोडकर ऊपर की प्रस्तावना म रस के जिन विविध रूपो की गणना की गई है व सभी लौकिक रस की परिधि के अन्तगत हैं। इन लौकिक रसो के हम दो भेद कर सकते हैं भौतिक रस और अनुभवात्मक रस। (आत्मा का अलौकिक रस एक ही प्रकार का होता है, उसम भेद नहीं होते) भौतिक रस केवल वस्तुगत रस है। चाहे उसका परिज्ञान और प्रतिपादन अनुभव पर ही आश्रित हो किन्तु उसके स्वरूप की रसवत्ता अनुभव के आधीन नही। आस्वादन भौतिक रसो की रसवत्ता के स्वरूप का आवश्यक अग नहीं है। धातुओ के रसा की 'रस' सज्ञा भौतिक रसो की वस्तुनिष्ठ सत्ता का अधिक स्पष्ट सकेत करती है। यद्यपि धातु रस म "रस' मुख्यत 'सारता' का ही वाचक है उसमे आस्वादन के आनन्द का सकेत नही है। यह "सारता' "रस' का मूल और सामान्य अर्थ है। फलो और वनस्पतियो का रस भी उनका "सार" है। फलो और वनस्पतियो के रसो का स्वाद अनुभव से ही विदित होता है। अनुभव के द्वारा ही इन रसो के स्वाद गुणो का निर्णय हुआ है। जिन्हे न्याय वैशेषिक दर्शन

मे मधुर, अम्ल आदि षट्रसो की सज्ञा दी गई है। किन्तु अनुभव ग्राह्य होते हुए भी रसो के ये गुण स्वरूपगत भी हैं। इन रसो की अनेकता और विशेषता भी इनकी वस्तुनिष्ठता को प्रमाणित करती है। इन रसों के सम्बध मे लोक की सामा य धारणायें भी यही सकेत करती हैं कि उनका स्वरूप और स्वाद गुण व्यक्ति क अनुभव पर आश्रित नही। यदि कोई व्यक्ति किसी रोग के कारण किसी भौतिक रस का स्वाद ग्रहण नही करता हो, दूसरे स्वस्थ मनुष्य का अनुभव उस रस की वस्तुगत सत्ता का प्रमाणित करता है। धातुओ का रस केवल उनका सार है उसमे स्वाद का कोई प्रसग नहीं है। अत वह पूर्णत भौतिक और वस्तुनिष्ठ है। फलों और वनस्पतियो का रस भी उनका सार है। जहा उनके स्वाद का प्रसग नही हाता और सार रूप म ही उनका उपयोग अभीष्ट होता है, वहा उनकी वस्तुनिष्ठता अधिक स्पष्ट होती है, यद्यपि स्वाद का प्रसग होने पर इसकी अनुभाविश्रता भी प्रकट होती है। अनुभव के अतिरिक्त एक वस्तुगत सत्ता के रूप मे भी इन रसो का व्यवहार होता है। इस दृष्टि से इ ह भौतिक मानना भी अनुचित नही है।

भौतिक रसो के अतिरिक्त लौकिक रस के दूसरे प्रकार को हमने 'अनुभव गत रस कहा है। अनुभवगत रस के अ तगत रस के वे रूप हैं जिनका स्वरूप मुख्यत अनुभव म ही प्रकाशित हाता है। ये इस अथ मे अनुभवगत नहीं है कि केवल अनुभव म ही भौतिक आलम्बन के बिना इनका स्वरूप पूर्ण हो जाता है। एक आध्यात्मिक रस ही एसा रस है जो भौतिक उपकरणो स पूर्णतय निरपेक्ष है। अ य सभी लौकिक रस इस दष्टि से सापेक्ष हैं कि भौतिक रसा के प्रति पादन और आस्वादन मे अनुभव का अविलम्ब अपक्षित है तथा अनुभवगत रसों का आस्वादन किसी सीमा तक भौतिक उपकरणा पर निभर है। लौकिक रसा म विभाजन केवल इस दृष्टि से किया गया है कि भौतिक रस प्रधानत वस्तुनिष्ठ है और अनुभवगत रस बाह्य उपकरणो पर अवलम्बित होते हुए भी मुख्यत अनु भवनिष्ठ हैं। उनकी रसवत्ता प्रधानत अनुभव मे ही निहित होती है। अनुभव की इसी प्रधानता के आधार पर भौतिक रसो के अतिरिक्त अ य लौकिक रसो को 'अनुभवगत रस कहा गया है।

इस अनुभवगत लौकिक रसा के कई भेद हैं। इन भेदो का निर्धारण वस्तुगत आलम्बन के सम्ब ध तथा अनुभव के साधन अथवा माध्यम के आधार

पर किया गया है। इनमे सबसे पहले ऐन्द्रिक रस आता है। इन्द्रिया चेतना और बाह्य जगत के बीच सम्बन्ध की माध्यम है। बाह्य जगत के उपकरणो के साथ हमारा सम्पर्क इन्द्रियो के द्वारा ही होता है। बाह्य विषयो की प्रथम प्रतिक्रिया इन्द्रिया म ही प्रकट होती है। दर्शन के अनुसार इन्द्रियो की सम्वेदना मन और आत्मा के सन्निकर्ष के द्वारा ही होती है किन्तु हम प्रधानत उस सम्वेदना का अनुभव इन्द्रियो मे ही करते हैं। रस इस सम्वेदना का गुण है। न्याय वैशेषिक दर्शन के समान यथार्थवादी मत मे एक ओर इस रस को भौतिक पदार्थों का गुण कह सकते हैं। किन्तु इन्द्रिया इस रस को ग्रहण करती हैं। इस दृष्टि से इस हम 'ऐन्द्रिक रस' भी कह सकते हैं। वस्तुत 'ऐन्द्रिक रस' पदार्थों और इन्द्रियो की परस्पर प्रक्रिया म फलित होता है। इस रस के ग्रहण और अनुभव का प्रमुख साधन इन्द्रियाँ है। अत इसे 'ऐन्द्रिक रस' कह सकते हैं। अनुभव के जिस रूप मे यह रस फलित होता है उसे मनोविज्ञान मे 'सम्वेदना' कहते हैं। ऐन्द्रिक रस की स्थिति भौतिक सत्ता और चेतना के क्षितिज पर है। अनुभवगत रसा के अन्य रूप इसकी अपेक्षा अधिक आन्तरिक है। उनके साधन भी चेतना के उत्तरोत्तर आन्तरिक रूप हैं।

'अनुभवगत रस' का दूसरा भेद मानसिक रस' है। ऐन्द्रिक रस मे भी मन का योग रहता है। किन्तु रस की सम्वेदना का मुख्य साधन और अधिष्ठान इन्द्रिया ही रहती हैं। मानसिक रस मे इन्द्रियो का भी योग रहता है। किन्तु रस की अनुभूति का मुख्य क्षेत्र और अधिष्ठान चेतना के उन स्तरो मे रहता है जो इन्द्रिया की अपेक्षा अधिक आन्तरिक है। हर्ष, शोक, क्रोध, भय आदि के मनोभाव मानसिक रस के अन्तर्गत गिने जा सकते हैं। इन भावो को प्रेरित करने मे बाह्य उपकरणो का योग रहता है। किन्तु इनका स्वरूप मनोगत ही अधिक होता है। मधुर, अम्ल आदि ऐन्द्रिक रसो मे उनके वस्तुनिष्ठ होने का सकेत भाषा के प्रयोग मे ही मिलता है। मधुरता को हम इन्द्रिय ग्राह्य स्वाद मानने के साथ साथ पदार्थों का गुण भी मानते हैं। इसके विपरीत हर्ष, शोक आदि भाव भाषा के प्रयोग मे भी व्यक्तिनिष्ठ अधिक है। पदार्थ के गुण पर अवलम्बित होने के कारण ऐन्द्रिक रस की सम्वेदना पदार्थ के साथ इन्द्रियों के सम्पर्क काल मे ही रहती है। जब तक यह सम्पर्क रहता है तब तक हम रस का अनुभव करते हैं। जब तक सम्पर्क छिन्न हो जाता है तो रस की अनुभूति

समाप्त हो जाती है। वाह्य आलम्बनो से प्रेरित होने पर भी मनोभाव पूर्णत उन पर आश्रित नही है। अत व उनके अभाव म भी वतमान रहते हैं। प्राय वे ए द्रिक रसो की अपक्षा अधिक तीव्र और स्थायी भी होते हैं। दशन, श्रवण, स्पशन आदि के ऐन्द्रिक रसो म जहा हम अधिक तीव्रता और अधिक स्थायित्व दिखाई देता है वहाँ उसम मनोवगा का योग ही कारण है। रूप के आकषण, सगीत के अनुराग, काम के सम्मोहन आदि म मनोवेगो का सहयोग ही ऐन्द्रिक सम्वदनाओ को अधिक तीव्र और स्थायी बनाता है। कविता की भाषा म मनोवेगा के मानसिक रस को हृदय का भाव कहा जाता है। हृदय को इन भावो का अधिष्ठान मानते हैं। इसका कारण यह है कि मनोवेगो के जागृत होने पर हृदय की गति तीव्र हो जाती है, रक्तचाप भी बढ जाता है और शरीर मे एक असाधारण आवेग उत्पन्न हो जाता है। इस आवग क कारण ही मनोगत भावो की अनुभूति अधिक तीव्र होती है। यह आवग शीघ्र ही नही उतरता। अत मनोभाव कुछ स्थायी होते हैं। केवल ऐ द्रिक सम्वेदना म हृदय के आवेग की तीव्रता नही होती, यह मनोभावा से उसका एक प्रमुख अ तर है।

काव्य शास्त्रो मे काव्यगत रस का वणन बहुत कुछ मनोभावो के रूप मे किया गया है। रस के स्थायी भाव मनोगत भाव ही है जो उद्दीपनो के द्वारा उत्तेजित होकर मन मे रस का सचार करते हैं। यद्यपि कुछ आचार्यों ने आत्मिक रस के साथ भी काव्यगत रस का सम्ब घ जोडने की चेष्टा की है, किन्तु वे भी रस को मनोभावो की परिधि से बाहर नही ले जा सके ह। रति आदि के अवच्छेदक मानने के कारण उनका काव्य रस मानसिक रस ही रहा है। आवेग और अवच्छेदक मानसिक क्षेत्र मे ही सम्भव हैं। आत्मिक क्षेत्र मे इनका स्थान नही है। आत्मा शा त और निरवच्छिन्न है। उपनिषदो के 'रसो व स' से का य रस का उद्गम खोजने वाले आचार्यों न आत्मिक रस के साथ मनोवेगो के सम्ब घ को स्पष्ट नही किया है और न काव्य रस म दोनो के सामजस्य के रूप की व्याख्या ही की है। कदाचित काव्य का रस आत्मिक और मानसिक रसो का सामजस्य हो। कि तु इस सामजस्य के रूप की सूक्ष्म और सतक याख्या अपेक्षित है। मन और आत्मा क विरोधी लक्षण इस सामजस्य की सम्भावना और यास्या मे सबसे अधिक कठिनाई उपस्थित करते है। आत्मा स्वत त्र,

निरवच्छिन्न, शान्त और निर्विकार हैं। मन प्रकृति के अधीन, अनेकधा अव च्छिन्न, चचल और विकारशील है। काव्य रस में इन विरोधी गुणों का साम जस्य कैसे होगा ? मन के ये लक्षण प्राकृतिक हैं। इनसे परे होने के कारण आत्मा अलौकिक है। अहकार प्रकृति का प्रमुख लक्षण है। समस्त प्राकृतिक प्रत्यय अहकार की कठोर इकाई पर अवलम्बित हैं। मन के प्राकृतिक होने के कारण मनोवेगो में भी अहकार का आधार रहता है। आत्मा और आध्यात्मिक रस अहकार से परे हैं। मनोवेग और मानसिक रस के साथ इनके सामजस्य में अहकार का समाधान ही सबसे कठिन है। यह समाधान ही काव्यगत रस की सबसे कठिन समस्या है। अहकार आदि के अवच्छेद के कारण काव्य के रस को आत्मिक रस के साथ अभिन्न भी नहीं मान सकते, किन्तु मनोभावों के साथ उसका पूर्ण तादात्म्य भी उचित नहीं है। लौकिक मनोभावों की भाति काव्य के भाव पूर्णत अहकार की परिधि में सीमित नहीं रहते। काव्य के रसास्वादन में आत्मा और अहकार का सामजस्य किस प्रकार होता है ? इसके समाधान का प्रयत्न काव्य शास्त्रों में बहुत कम हुआ है। किन्तु इस समाधान की दिशा में ही काव्य के रहस्य का गूढतम सकेत है।

ऊपर के विवरण में जिन रसों को लौकिक कहा गया है उन्हे हम प्राकृतिक भी कह सकते हैं। अलौकिक होने के साथ साथ "आत्मा" प्रकृति से भी परे है। देश, काल, अहकार आदि के अवच्छेद प्रकृति के लक्षण हैं। आत्मा इन अवच्छेदों से परे है। आत्मिक रस भी इनसे रहित होता है। अनुभवगत रसो में ऐन्द्रिक और मानसिक रस स्पष्टत प्राकृतिक हैं। उनमें प्रकृति के सभी लक्षण मिलते हैं। अहकार को भेदक मानकर भौतिक और अनुभवगत रसों का विभाजन किया गया है। अहकार ही प्राकृतिक अनुभव का आधार है। (आत्मिक अनुभव में अहकार का आधार नहीं रहता)। अहकार और अनुभव से रहित वस्तुगत सत्ता मात्र के रूप में जो रस मिलते हैं उन्हे हमने प्राकृतिक रस के अन्तर्गत भौतिक रस' कहा है। फलों और वनस्पतियों के रस तथा आयुर्वेद में प्रसिद्ध धातुओं की भस्म भौतिक रस के उदाहरण हैं। ऐन्द्रिक और मानसिक रस प्राकृतिक रस के सचेतन रूप हैं। इनमें आत्मगत चेतना प्राकृतिक अवच्छेदको के बीच आभासित होती है किन्तु यह चेतना प्राकृतिक अवच्छेदकों से अभिभूत रहती है। अत सचेतन होते हुए भी इन रसों को प्राकृतिक कहना ही अधिक

अध्याय–२

रस के विविध अर्थ

पिछले अध्याय मे रस के जिन अनेक रूपो का वर्णन किया गया है वे सभी रस एक ही प्रकार के नही हैं। उनके स्वरूप और लक्षणा मे भेद है। इसी भेद के आधार पर आध्यात्मिक, भौतिक ऐन्द्रिक आदि रूपो मे इन अनेक रसो का विभाजन किया गया है। विभाजन का आधार भेद ही रहता है। लक्षणा की भिन्नता के कारण ही किसी भी क्षेत्र के अनेक रूपो मे परस्पर भेद किया जाता है। रस के इन विविध रूपो के कुछ भेद स्पष्ट है। आध्यात्मिक रस देश, काल, अहकार आदि के अवच्छेद से अतीत होता है। वह आवेग और विकार से भी रहित होता है। इसके विपरीत प्राकृतिक रस अनेकधा अवच्छिन्न रहते हैं। प्राकृतिक रसो मे जिन्ह भौतिक रस कहा है, वे वस्तु निष्ठ होते है। उनकी रसवत्ता उनके स्वरूप मे ही निहित होती है। चेतना का अनुषग उनमे आवश्यक नही होता। चेतना की प्रतिक्रिया के रूप मे चेतना के साथ उनका कुछ सम्ब ध हो सकता है, किन्तु यह प्रतिक्रिया भी भौतिक रसो का प्रभाव मानी जाती है। फलो के रसो की मधुरता और स्फूर्तिशीलता तथा आयुर्वेद के रसा की सजीवनी शक्ति उन रसो (पदार्थो) का ही गुण मानी जाती है। चेतना से सम्बलित होने के कारण ऐन्द्रिक और मानसिक रस 'अनुभवगत रस कहलाते हैं। एक ओर ये भौतिक रसो से भिन्न हैं दूसरी ओर ये बौद्धिक और सास्कृतिक रसो स भी पृथक हैं, जिनमे अहकार का अवच्छेद इतना प्रखर और कठार नही रहता। आध्यात्मिक रस इन सब प्रकार के रसो से भिन्न है यह कई बार कहा जा चुका है। इस प्रकार रसों के नम अनेक रूपो मे परस्पर भेद हैं। फिर भी भाषा के व्यवहार मे इन सब के लिए एक सामान्य पद (रस) का प्रयोग किया जाता है। भाषा के इस प्रयोग का कोई आधार अवश्य ह यद्यपि दूसरी ओर रसा के परस्पर भेद भी निराधार नही। सामान्य पद (रस) के आधार पर सम्भवत सभी

रसो मे कोई समानता का सूत्र मिल सकता है और इस सूत्र के आधार पर विभिन्न रसा मे भेद करने वाले लक्षण रसो के विवेचन को सम्भव बनाने के साथ साथ प्रत्येक रस के स्वरूप की मीमांसा को भी सम्भव बना सकते हैं।

आध्यात्मिक रस' अलौकिक और दुरूह है, अत लौकिक रसों से हा रस मीमांसा का आरम्भ अधिक सुगम होगा। लौकिक रसो म 'भौतिक रस' सब प्रथम है। कदाचित् लोक के अनुभव म भौतिक रस के रूप म ही 'रस' पद का व्यवहार आरम्भ हुआ होगा। ऋग्वेद म सोमरस का उल्लेख है जिसे प्राचीन भारतवासी देवताओ को अर्पित करते और जिसका वे स्वय पान करते थे। यह एक वनस्पति का रस था। यह रस ओज और स्फूर्ति प्रदान करता था। ऋग्वेद के पूव का लिखित इतिहास उपलब्ध नही है किन्तु ऋग्वेद की भाषा और सस्कृति विकास के एक दीघ इतिहास का सकेत करती है। यह भी सम्भव है कि आयुर्वेद के रस निर्माण की प्रक्रियायें भी ऋग्वेद के पूव विदित रही हो। यदि ऋग्वेद म उनका उल्लेख नही है तो इससे इनका पूर्वाभव आवश्यक रूप से अप्रमाणित नही होता। ऋग्वद प्राचीनो के समस्त ज्ञान का प्रतिनिधि नही है। उस प्राचीन काल मे इतनी विशाल ज्ञानराशि का सग्रह भी एक अद्भुत घटना है। कि तु यह निश्चित है कि प्राचीनो के ज्ञान का भडार इससे कही अधिक रहा होगा। जिनके वभव भडार म स्वण और रजत की राशिया रही उनके ज्ञान भडार मे आयुर्वेद के रसायन भी रहे हो तो कोई आश्चय की बात नहीं है। आयुर्वेद के रसायन भी सोमरस के समान स्फूर्ति और ओज प्रदान करते हैं। सोम के अतिरिक्त अ य फलो और वनस्पतियो के रस भी शरीर मे स्फूर्ति जाग्रत करते हैं। कि तु सभी रसा से सोमरस के समान सद्य स्फूर्ति प्राप्त नही होती। अधिकाश रसो से धीरे स्वास्थ्य की वृद्धि के साथ साथ स्फूर्ति भी मिलती है। अत भौतिक रसो मे स्फूर्ति का तत्व इतना स्पष्ट और सामा य नही है। किन्तु 'सारता' का भाव सभी भौतिक रसो म सामान्य और स्पष्ट है। फलो और वनस्पतियो के रस उनके 'सार' हैं। धातुओं की भस्मे भी उनके सार ही है। 'सार' का अथ किसी भी पदाथ अथवा भाव के विस्तार के सूक्ष्मतर और महत्वपूण अवशेष से है। फलो वनस्पतियो और धातुओ के रस ऐसे ही सूक्ष्मतर और महत्वपूण अवशेष हैं। अत ये इनके सार हैं।

सम्भवत रस का आदि और भौतिक अर्थ सार ही है । फला वनस्पतियां और धातुओं के रसों की सारता इस तथ्य को प्रमाणित करती है । इन रसों के उपयोग की प्राचीनता भी रस के इस अर्थ की आदिमता को सूचित करती है । नारायण पण्डित का 'रस सारश्चमत्कार' काव्य शास्त्र की परम्परा म रस के इस अर्थ का संकेत करता है । यद्यपि नारायण पण्डित ने स्पष्ट शब्दो म रस को काव्य का सार नही कहा है किन्तु उनकी उक्ति से यह लक्षित होता है कि काव्य का सार रस है और रस का सार चमत्कार है । इस लक्षण के द्वारा काव्य शास्त्र की परम्परा म भी सार के अर्थ मे रस के आदिम प्रयोग की प्रतिध्वनि सुनाई देती है ।

सार के अर्थ म रस का प्रयोग आदिम होने हुए भी भाव मे इतना व्यापक है कि भौतिक रसो के अतिरिक्त अन्य अनुभवगत रसो म भी वह प्रयुक्त हो सकता है । भौतिक अर्थ म 'सार' पदार्थों का सूक्ष्मतर और महत्वपूर्ण अवशेष है । वह एक भौतिक प्रत्याहार है । किन्तु मानसिक प्रत्याहार के द्वारा हम किसी भी क्षेत्र के विस्तार के महत्वपूर्ण पक्ष को सार' कह सकते हैं । इस अर्थ मे सारता' का भाव रस के अन्य रूपो मे भी व्याप्त है । ऐन्द्रिक रस के रूप म हम जिस स्वाद एव सुखमय सवेदना का रस मानते हैं वह भी बहुत कुछ हमारे प्राकृतिक जीवन का सार है । जगत के बाह्य उपकरणो के साथ इन्द्रियो के सम्पर्क का महत्वपूर्ण तथ्य इसी स्वाद एव सम्वेदना मे निहित है । भोजन जीवन का आधार है अत वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है । उपयोगिता की दृष्टि से भोजन का महत्व उसके पोषक तत्वो मे है । किन्तु प्रकृति ने पोषक तत्वो के साथ साथ रुचिर स्वादो का सन्निवेश भी भोजन के पदार्थों म किया है । जहा प्राकृतिक स्वाद मनुष्य की रुचि के लिए पर्याप्त नही हैं, वहा वह अपनी ओर से अतिरिक्त स्वाद का सन्निधान करता है । प्रकृति से प्राप्त तथा मनुष्य द्वारा प्रस्तुत दोनो ही प्रकार के भोजनो मे स्वाद को ही सार अथवा सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है । स्वादहीन भोजन नीरस और निस्सार होता है । वैज्ञानिक दृष्टि स भी सम्भवत स्वाद का रस खाद्य पदार्थों का कोई आगन्तुक लक्षण नही है, वरन् उनके पोषक तत्व का समवेत गुण है । मधुर रस की सुस्वादता और पोषकता एक आकस्मिक सयोग नही, वरन् वैज्ञानिक उपयोगिता और मानवीय रसानुभूति के सगम का एक उत्तम उदाहरण है ।

स्वाद के अतिरिक्त घ्रा ण संवेदनायें भी किसी सीमा तक जीवन का सार मानी जा सकती हैं। दर्शन और श्रवण की संवेदना जीवन में अत्यन्त महत्व पूर्ण है। इनके बिना जीवन कितना नीरस और निष्प्रभ हो जाता है, यह अनुभव में ही जाना जा सकता है। रूप और स्वर को हम इन्हीं के द्वारा ग्रहण करते हैं। रूप के सौन्दर्य और स्वर की मधुरिमा से वंचित होने पर जीवन बहुत नीरस हो जाता है। नीतिकार कला और संगीत से विहीन जीवन को पशु तुल्य मानते हैं किन्तु वस्तुतः वह पशुओं से भी गया बीता है। पशुओं का जीवन भी रूप और शब्द के रस से पूर्णतः वंचित नहीं होता चाहे इन सम्वेदनाओं की सम्भावनायें पशुओं में उन जटिलताओं तक विकसित नहीं होतीं जिन तक वे मनुष्य की कला और उसके संगीत में होती हैं। गन्ध की सम्वेदना का पशु जीवन में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य में यह सम्वेदना कुछ मन्द होगई है फिर भी मनोविज्ञान और मानवीय अनुभव दोनों इस बात को प्रमाणित करते हैं कि खाद्य पदार्थों का आधा मान द स्वाद अथवा रस के अतिरिक्त गन्ध पर निर्भर है। पशु ही गन्ध के आधार पर अपना भोजन अथवा शिकार नहीं खोजते वरन् मनुष्य भी भोजन की गन्ध से आकर्षित होते हैं। भोजन के रस के साथ गन्ध का घनिष्ठ सम्बन्ध है। संस्कृत भाषा में 'सार' के अर्थ में गन्ध का प्रयोग होता है। (रघुवंश सर्ग १३, श्लोक ७) इस प्रयोग का सूत्र गन्ध की सारता में है। भोजन की गन्ध के अतिरिक्त फूलों, इत्र आदि की सुगन्ध का संस्कृत जीवन में कितना मान है उससे भी गन्ध का महत्व विदित होता है। गन्ध की इसी महिमा के कारण देवार्चन में पुष्प, चन्दन, धूप आदि के रूप में गन्ध का अर्पण किया जाता है। मनुष्य की सम्वेदना के रूप में ही नहीं, वरन् शरीर के गुण के रूप में भी गन्ध का महत्व है। पद्म गन्धा पद्मिनी नायिका स्त्रियों में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं। अस्तु स्वाद दर्शन श्रवण और गन्ध की सम्वेदनायें यदि सम्पूर्ण जीवन का सार नहीं तो भी प्राकृतिक जीवन का सार अवश्य हैं। सांस्कृतिक जीवन में भी इनका बहुत कुछ महत्व है।

स्पर्श की सम्वेदना हमारे समस्त शरीर में व्याप्त है जबकि अन्य सम्वेदनायें विशेष इन्द्रियों में ही सीमित हैं। यह व्यापकता भी स्पर्श की सम्वेदना के महत्व का एक संकेत है। इस व्यापकता के अतिरिक्त स्पर्श की सम्वेदना अनेक प्रकार से जीवन में सुखद है। जहां इसका रूप सुखद नहीं है, वहां भी यह जीवन की

उपकारक है। पीडा की सम्वेदनायें हमे रक्षा के लिए सजग करती हैं। स्पश की सुखमय सम्वेदनायें हमे कितनी प्रिय हैं, यह सभी को अपने अनुभव से विदित होता है। उस प्रकार दोनो ही रूपो म स्पश की सम्वेदना जीवन म महत्वपूरा है। शरीर मे सामा यत व्याप्त सम्वेदना की क्षमता कुछ अगो मे अधिक सूक्ष-मता ग्रार तीव्रता से केंद्रित हागई है। काम के उपभोग का बहुत कुछ आनन्द इसी स्पश की सम्वेदना म है। काम के उत्तेजित होने पर समस्त शरीर मे स्पश की सम्वेदना असाधारण रूप से तीव्र होकर काम के रस अथवा आन द का सम्ब-धन करती है। अ य रूपा म भी स्पश की सम्वदना सुखद अथवा उपकारक है और इस दष्टि से जीवन मे महत्वपूरा है। किन्तु काम के रूप म स्पश की सम्वे-दना का कितना अधिक महत्व है यह लोक जीवन के अनुभव और साहित्य के अनुशीलन से विदित होता है। प्राकृतिक दृष्टि से काम जीवन की सृजनात्मक परम्परा का सूत्र है। किन्तु अनुभव की दष्टि स वह जीवन का कितना महत्वपूर्ण सुख अथवा आनन्द है यह सामान्यत सब विदित है कि तु विशेषत अनुभव के द्वारा विदित होता है। अध्यात्म दशनो मे काम की बहुत भत्सना की जाती है। किन्तु वस्तुत काम प्राकृतिक जीवन का सार और सर्वोत्तम सुख है। काम से रहित जीवन कितना नीरस और निष्फल होता है इसे कुछ अभागे ही जानते हैं। 'रम्भाशुक सम्वाद' मे रम्भा का 'वृथागत तस्य नरस्य जीवितम्' एक अप्सरा की श्रृंगारमयी चुनौती नही है वरन् लौकिक जीवन का निगूढतम रहस्य है। गीता के 'धर्माविरुद्ध काम' मे स्वय भगवान ने काम की महिमा को प्रमाणित किया है। कला, साहित्य और काव्य मे श्रृंगार की विपुलता काम की महिमा का सकेत करती है। काम का रस अपने आप म ही सुख कारक नही वरन् जीवन की अन्य सम्वेदनाओ और क्रियाओ के सुख को भी सम्वर्धित करता है। अस्तु सामान्यत स्पश की सम्वदना जीवन मे अत्यन्त महत्वपूरा है। काम के रूप मे पखर होकर वह जीवन मे इतनी महत्वपूरा बन गई है कि उसे प्राकृतिक जीवन का सार कहा जा सकता है। जीवन के स्वस्थ निर्वाह, जीवन की सजनात्मक परम्परा तथा जीवन के प्राकृतिक सुख की दष्टि से सभी सम्वेद नायें महत्वपूरा हैं। सजन की महिमा और सुख की तीव्रता की दृष्टि से काम की सम्वेदना इनम अपना विशेष महत्व रखती है। महत्व और सुख दोनो ही दृष्टिया से य सम्वेदनायें प्राकृतिक जीवन को सार हैं।

काव्य शास्त्रो म जि ह रस कहा गया है वे मानसिक सवगो के अत्यन्त निकट हैं। रसो के उत्कष के अनुभाव मानसिक सवेगो के अनुभावो के समान होत हैं। सवगो की अवस्था म शरीर और मन दोनो म एक असाधारण उत्त जना जागत होती है। इस उत्तजना स इद्रिया तथा हृदय आदि अगो म एक अद्भुत आवेग उत्पन्न हो जाता है। इसक साथ साथ मन म भी एक तीव्र अनु भूति होती है। हष शोक भय, आश्चय क्रोध आदि मानसिक सवगो म इन सभी अनुभावो की अभिव्यक्ति एव अनुभूति होती है। चिति और लोकातर आनन्द क सवेता के अतिरिक्त काव्य शास्त्र क रसो का रूप मनोविज्ञान के सवेगो के समान ही दिखाई दता है। इन मानसिक सवगो का मनुष्य के जीवन म बडा महत्व है। किसी सीमा तक जीवन का सौ दय भी इनम निहित है। इनके बिना जीवन एकरस हो जायगा। एकरसता म सौन्दय नही है। सौन्दय जीवन के उतार चढाव की लय मे अभिव्यक्त होता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शरीर के विन्यास अथवा सगीत के राग का सौ दय अगो अथवा स्वरो के उतार चढाव की लय मे साकार होता है। सम्वदनाओ की भाति जीवन की सत्ता और उसके सुख मे भी मानसिक सवगो का बहुत बडा योग है। जीवन की सत्ता तथा उसके सुख और सौन्दय की दृष्टि स इन सवेगो को भी सम्वदनाओ के समान ही जीवन का 'सार' कह सकत हैं। प्रधानत सम्वदनायें और सवेग दोनो प्राकृतिक है। कि तु दोनो की ही परिधि जीवन के सास्कृतिक क्षितिजो की ओर बढती हैं। दशन और श्रवण की सम्वदनाओ का सास्कृतिक महत्व चित्रकला और सगीत म दिखाई देता है। कला ही सस्कृति का सवस्व नही है। हमारे सामाजिक व्यवहार मे भी दशन श्रवण आदि की सम्वेदनाओ के माध्यम से सास्कृतिक भाव चरिताथ होते हैं। स्वाद और ग ध की सम्वेदनाओ को भी भारतीय सस्कृति म एक सु दर ढग से समन्वित किया गया है। काम की सम्वे दना भी पूणत प्राकृतिक नही है। कला और का य के सौ दय के अतिरिक्त भारतीय सस्कृति के अनेक सामाजिक पव काम के पीठ पर ही सम्पन्न होते हैं। सभी सम्वदनाओ और सवेगो का प्राकृतिक जीवन म पर्याप्त महत्व है। सुखमय एव प्रिय सम्वेदनाओ एव सवेगो का महत्व तो स्पष्ट है कि तु कटु कषाय आदि सम्वेदनाओ तथा शोक भय आदि सवगो की भाति साधारणत अप्रिय प्रतीत होने वाले सवदनो और सवगो का भी अपना महत्व है। जीवन की सत्ता क सरक्षण मे ही उनका योग नही, जीवन के सौ दय की लय मे भी सगीत के विसम्वादी स्वरो की भाति उनका महत्वपूण स्थान है।

सवेगो का मानसिक और प्राकृतिक रस यदि काव्य का सवस्व न भी हो ता भी इनका का य मे महत्वपूर्ण स्थान है। काव्य स भी अधिक इनका महत्व जीवन म है। जीवन म इनके व्यापक महत्व के कारण इ हे जीवन का सार कहा जाता है। इन सवगो के अतिरिक्त काव्य क रस का कोई रूप है ता उसका भी मनुष्य जीवन मे विशेष महत्व है। 'काव्य' जीवन की एक सांस्कृतिक कला है। कला अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति म रूप का अतिशय सौ दय की सृष्टि है। सवेगरूप रस काव्य की अभिव्यक्ति के विषय बनते हैं। काव्य का विषय जीवन है और सवेग जीवन के महत्वपूर्ण अग हैं। अत विषय रूप मे इन रसो का काव्य मे एक प्रधान स्थान है। अभि यक्ति का सौ दय ही काव्य और कला का मूल रस है। सौ दय अभिव्यक्ति का रूप है। आन द उस सौ दय की आ तरिक अनुभूति है। यह आन द ही रस का मम है। कला और काव्य के सभी रूपो मे सौ दय और रस का वतमान रहता है। इसीलिए जीवन के सभी उपकरण कला और काव्य के विषय बन जाते हैं। कि तु श्र गार, वीर आदि के समान रस तथा प्रेम, काम हष आदि के समान जीवन के अनुभव मे प्रिय लगने वाले विषय काल मे अधिक प्रचुरता स पाये जाते हैं। जीवन मे सुखद और प्रिय होने क कारण काव्य म इनकी अभिव्यक्ति का सौ दय और आन द द्विगुणित हो जाता है। जीवन मे इनकी अभिव्यक्ति मे भी प्राय रूप का अतिशय रहता है। यह अतिशय काव्य म रूप के अतिशय से मिलकर उसके सौ दय को जटिलता से सम्पन्न करता है। कितु करुणा, क्रोध, भय आदि के समान अप्रिय भाव भी काव्य म अभि यक्ति के सौ दय से सम्पन्न होकर सु दर बन जाते है। इसीलिए का य क रसो मे अप्रिय भावो का भी समावेश किया गया है। का य सौ दय और रस मनुष्य के सास्कृतिक जीवन में काव्य क परिमाण स लगाया जा सकता है। काव्य के प्रति आदि काल से मनुष्य का जो अनुराग रहा है वह भी जीवन में काव्य के महत्व को प्रमाणित करता है। नीतिकारो के वचनो में काव्य के इस महत्व का समथन मिलता है। एक नीतिकार के अनुसार बुद्धिमानो का समय काव्य और शास्त्र के अनुशीलन में व्यतीत होता है। (काव्य शास्त्र-विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्)। साहित्य सगीत और कला से विहीन मनुष्य को नीतिकार पशु के समान मानते आये हैं (साहित्य सगीत कला विहीन, साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीन।) इस प्रकार मनोभावो के अतिरिक्त रूप और सौ दय की अभिव्यक्ति के रूप मे मनुष्य के सास्कृतिक जीवन मे काव्य के रस का

अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है और उसे निस्सदेह सांस्कृतिक जीवन का सार कहा जा सकता है। इस प्रसग मे काव्य के अ तगत अन्य कलाओं का भी अध्याहार मानना होगा।

इंद्रियों की सम्वेदना, मानसिक सम्वेग और काव्य के रस के अतिरिक्त बौद्धिक रस को भी इस विवेचन में स्थान देना उचित है। 'रस' पद को सामान्यत प्रियता एव आनन्द के अर्थ मे ग्रहण करने पर बौद्धिक रस को स्वीकार करने मे कुछ आपत्ति हो सकती है। किन्तु अभी हम सार के अर्थ मे 'रस' का विवेचन कर रहे हैं (सुख और आनन्द के अर्थ मे रस का विवेचन आगे करेंगे) अत यदि बौद्धिक व्यापार आनन्द के अर्थ मे नीरस भी हो तो भी जीवन के सार के अर्थ मे बुद्धि अथवा बौद्धिक रस का विवरण अपेक्षित है। सामान्यत बुद्धि को शुष्क और नीरस माना जाता है। किन्तु यह दृष्टिकोण मे दुर्बुद्धियों को ही शोभा देता है। ज्ञान के अनुरागी बौद्धिक रस से भली भांति परिचित हैं। उनके लिए बौद्धिक रस का आकर्षण लोक मे अध्यात्म, भक्ति, काम, काव्य आदि के रस से कम नही रहा है। वाचस्पति मिश्र के समान अनेक मनीषियो ने अपना समस्त जीवन बौद्धिक रस के सेवन मे लगाया है। वैज्ञानिको और दार्शनिकों की बौद्धिक रस मे तन्मयता विदित ही है। जिस प्रकार अध्यात्म के साधक, ईश्वर के भक्त, कामी और कवि अथवा काव्यानुरागी तत्तद् रसों मे तन्मय तन्मय जीवन को सुध बुध भूल जाते हैं, उसी प्रकार बौद्धिक रस के अनुरागी भी होकर उसमे सुध-बुध भूले रहते हैं। यह तन्मयता ही आनन्द का स्रोत है। प्रस्तुत प्रसग मे बौद्धिक रस के इस आनन्दमय पक्ष को मानना आवश्यक नही है फिर भी इस रस की सम्भावना का सकेत नितान्त अनपेक्षित नही है। प्रस्तुत प्रसग मे जीवन के सार के रूप मे बुद्धि का महत्व प्रदर्शित करना ही पर्याप्त है। बुद्धि का मनुष्य के जीवन मे इतना महत्व है कि प्राचीन काल से दार्शनिक एक 'बुद्धिमान प्राणी' के रूप मे मनुष्य की परिभाषा करते आये हैं।

निस्सदेह 'बुद्धि' मनुष्य की एक महान शक्ति है। बुद्धि के द्वारा ही मनुष्य ने ज्ञान का विस्तार और सभ्यता का विकास किया है। विकासवाद के अनुसार बुद्धि का विकास ही पशुओं की तुलना मे मनुष्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। सौन्दर्यबोध और सामाजिक भाव भी मनुष्य के सांस्कृतिक व्यक्तित्व की प्रमुख

के लिय अपेक्षित है। किन्तु बुद्धि इनका भी आधार है और इनकी कृतार्थता के लिये वह पहले अपेक्षित है। बुद्धि के बिना न मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन सफल हो सकता है और न उसके सांस्कृतिक भाव ही सम्पन्न हो सकते है। अत बुद्धि को मनुष्य के जीवन का सार मानना नितात उचित है। यदि बौद्धिक साधना मे वैज्ञानिको और दार्शनिको का त मय अनुराग सत्य है तो बौद्धिक रस को मनीषियो की दृष्टि म जीवन का सार मानना होगा।

अनुभव रूप लौकिक रसो के प्रसग मे 'सार' के अर्थ मे 'रस' का प्रयोग जितना घटित होता हैं उससे कही अधिक आध्यात्मिक रस के सम्बन्ध मे उसका प्रयोग सगत है। भौतिक दृष्टि से फलो और वनस्पतियो के रस उनके सार हैं। लौकिक दृष्टि से ऐन्द्रिक रसो और प्रिय मनोभावो को जीवन का सार माना जाता है। सांस्कृतिक दृष्टि से काव्य के रस और ज्ञान के अनुराग को जीवन मे सबसे अधिक महत्व पूर्ण मान सकते हैं। अध्यात्म का लोक इन सबसे परे होने के कारण दुगम अवश्य है। किन्तु जो अध्यात्म तत्व के ममज्ञ है वे आध्यात्मिक रस को सबसे उत्तम और जीवन का सवस्व मानते है। उनकी दृष्टि मे आध्यात्मिक जीवन ही जीवन का सार है। इसके बिना जीवन निष्फल है। दाशनिको ज्ञानियो और भक्तो का यही मत है। अलौकिक होने के नाते प्रस्तुत प्रसग मे भक्ति को भी हम अध्यात्म के अ तगत मान लेते है। भक्ति और अध्यात्म मे कुछ भेद भी है। इस भेद का विवेचन आगे चलकर यथा स्थान किया जायगा। अभी हम लौकिक जीवन के प्राकृतिक रसो से पृथक होने के कारण अलौकिक होने के नाते एक ही कोटि म मान कर उनकी स्पृहणीयता पर विचार करते हैं। उपनिषदो के ऋषियो ने तथा उनके उतराधिकारी आचार्यो ने अध्यात्म को जीवन का परमार्थ माना है उनकी दृष्टि मे यही जीवन का अन्तिम सार है। भक्ति के सम्बन्ध मे भी यही धारणा है। भक्ति के अनुरागी उसे जीवन का सवस्व और सर्वोत्तम लक्ष्य मानते हैं। अस्तु जिस प्रकार लौकिक जनो के मत मे ऐन्द्रिक रस और मानसिक सम्वेग जीवन के सार है। उसी प्रकार भक्तो और ज्ञानियो के मत मे भक्ति तथा आत्मा का आध्यात्मिक रस जीवन का सार है।

इस प्रकार हम देखते है कि 'सार' के सामान्य अर्थ मे रस का प्रयोग उन

वस्तुगत पक्ष रस के स्वरूप म एक सामजस्य का सकेत करता है। अनुभवगत रस की प्रियता म रस के वस्तुगत स्वरूप और व्यक्तिगत आस्वादन का सवाद प्रकट होता है। इस सामजस्य का प्रभाव भौतिक रसा की प्रियता पर भी दिखाई दता है। व सार होन क अथ म ही नही, प्रिय होन क अथ म भी रस हैं। फला क रस क विषय म तो यह पूणत सत्य है। भौतिक रसा के वस्तुगत हान पर भी उन्ह आस्वादन म प्रिय हान क अथ म भी रस कहा जाता है।

आस्वादन की प्रियता के अथ म भी रस का प्रयोग उसी प्रकार व्यापक है जिस प्रकार सार के अथ में उसका प्रयोग है। भौतिक रसा स लेकर आध्यात्मिक रस तक यह प्रयोग चरिताथ होता है। आयुर्वेद के रसा में माधुय लावण्य अथवा अम्लवत्ता न हाने के कारण उनके आस्वादन की प्रियता विदित और मा य नही है। कि तु उनक आस्वादन में कोई स्पष्ट अप्रियता भी नही है। फिर भी सार क रूप में ही आयुर्वेद के रसा का ग्रहण अधिक सगत है। आयुर्वेद के रसा में सारता का भाव प्रमुख होने का कारण यह है कि व स्थूल धातुओ के सूक्ष्म भस्मावशेष होते हैं। वनस्पतिया के रसो में आस्वादन का रस आयुर्वेद के रसो की अपेक्षा अधिक स्फुट हाता है। सार हान के साथ साथ वनस्पतिया क रस स्वादमय भी हाते है। कि तु वनस्पतियो के रस प्राय कषाय हाते हैं। कषाय रस की प्रियता का विचार आगे चलकर करेंगे। फिर भी आस्वाद्यमानता के अथ में रस का प्रयोग आयुर्वेद क रस की अपेक्षा वनस्पतियो के रस के प्रसग में अधिक उचित है। फलों का रस प्राय मधुर होता है। लवण, अम्ल कषाय आदि के तत्व फलो के रस के माधुय में मिलकर उसके स्वाद को अधिक सम्पन्न और उसकी प्रियता को अधिक पूण बनाते हैं। आम के लिए 'रसाल' पद का प्रयोग भौतिक रस की प्रियता को प्रमाणित करता है। रस से परिपूण होने के साथ साथ परिपक्व आम का फल स्वाद म अत्यन्त प्रिय हाता है।

मधुर, लवण, आदि रस रसना के द्वारा ग्राह्य होते है। इनके अतिरिक्त अन्य इन्द्रिया की सम्वेदनायें भी प्रिय और स्पृहणीय होती हैं। उन सम्वेदनाओ को भी हम रसमय और स्पृहणीय मानते हैं। रसना से ग्राह्य रसो में कटु कषाय और तिक्त की प्रियता सदिग्ध हो सकती है। वे सम्भवत मधुर और

लवण के समान प्रिय नही है। फिर भी उनका रस ग्राह्य है। भोजन और मद्य में इन रसो का उपयोग इनकी प्रियता को लक्षित करता है। सामान्यत प्रिय न होत हुए भी य प्रियता से रहित नही है। रसना से ग्राह्य रसो क अतिरिक्त अ य इन्द्रिया से ग्राह्य रसो में प्रियता का भाव अधिक स्पष्ट है। स्पश की सम्वेदना म यह प्रियता का भाव सबसे अधिक स्पष्ट और प्रखर हाता है। कि तु ऐन्द्रिक सम्वेदनाओ में भी जि ह हम अप्रिय मानते हैं व भी तिक्त, कषाय आदि रसा की भाति अथवा सगीत के विसम्वादी स्वरो की भाति एक सामजस्य की भूमिका म प्रिय और स्पहणीय बन जाती हैं। कदाचित् इन्द्रिय ग्राह्य सम्वेदनाओ के समस्त अप्रिय रूपो के विषय म यह सत्य न हो। अधिक पीडा पैदा करने वाली सम्वेदनाओ को प्राय हम रस मय नही मानत। कि तु जिन सम्वदनाओ क सम्ब ध म रस का प्रयाग होता है व प्राय प्रिय ही होती हैं। जिन पदार्थों अथवा दश्या क दशन म हम रस का अनुभव करते है, वे सु दर, रसमय और प्रिय मान जाते है। जिन स्वरो ध्वनियो और रागो को हम सरस मानत है वे भी प्रिय होत हैं। उन दश्यो के अवलोकन म हम त मय हो जाते है उन रागा का श्रवण हमे विभार बना दता है। हम उनकी बार बार आवति चाहत है। यही उनकी रसमयता का प्रमाण है।

स्पश की सम्वदना का रस सबसे अधिक स्फुट और तीव्र होता है। काम की सम्वेदना म वह तीव्रतम हा गया है। अनक अगो के द्वारा और अनक रूपो मे हम इस रस का आस्वादन करते है। जीवन म काम की आसक्ति और काव्य म श्र गार की विपुलता से यह विदित होता है कि काम की सम्वेदना का रस हमे कितना प्रिय और स्पहणीय है। भोजन का रस भी हमे कितना प्रिय है यह सभ्यता के क्रम मे स्वाद के विकास और आकषण से प्रकट होता है। दशन और श्रवण की सम्वदनायें अधिक सहज, सुलभ और सामा य है। प्रिय दश्यो और स्वरो से हम कभी नही अघात। अखियाँ प्रिय दशन और हरिदशन दोनो की प्यासी रहती हैं। सभ्यता के वि यास म रगो की महिमा दशन की प्रियता का एक सुलभ प्रमाण है। श्रवण म पहुचने वाले प्रिय स्वर सुधा रस' माने जात हैं। ग ध की सम्वेदना मनुष्य म बहुत म द हो गयी है। फिर भी ग ध क रस की महिमा मनुष्य की सभ्यता म बहुत कुछ शेष है। ग ध के लिए प्रयुक्त हाने वाला आमोद का पर्याय भाषा के इतिहास म इस बात को प्रमाणित

करता है कि सुग ध को सभ्य मानव कितना प्रिय और आह्लादकारी मानता रहा है। इस प्रकार विविध ऐन्द्रिक सवेदनाओ म रस का अनुभव और आस्वादन मनुष्य के सुख का एक अजस्र स्रोत है। रस क इस स्रोत म अवगाहन करके लौकिक जन अपने को कृतार्थ मानते हैं और पुन पुन अवगाहन की कामना करते हैं। अत प्रिय और स्पृहणीय सम्वेदनाओ के लिए रस का प्रयोग निता त समीचीन है। भोजन के रस का आस्वादन, अधर रस का पान श्रवणो का सुधारस आदि भाषा और व्यवहार क प्रयोगो म ऐन्द्रिक सम्वेदनाओ की रसवत्ता के प्रमाण सग्रहीत हैं।

हर्ष, प्रेम, उत्साह, आशा आदि के मनोभाव तथा प्रेम आदि के मनोवेग भी रसमय होते हैं। इनम भी प्रियता की अनुभूति रहती है। अत प्रियता और स्पृहणीयता के अर्थ म इन्ह भी रस कहा जा सकता है। काव्य शास्त्र म जिन मनोभावो को रस का अग माना गया है उनम कुछ रति, उत्साह आदि भाति प्रिय भाव है यद्यपि उनमें कुछ भय और शोक की भाँति अप्रिय भाव भी हैं। काव्य म ये अप्रिय भाव रस के उपकरण किस प्रकार बनते है यह विवेचन का विषय है, किन्तु जीवन क अनुभव और काव्य दोनो में प्रिय मनोभाव रस के उपकरण बनते हैं, इसमें सदेह नही। अप्रिय मनोभाव स्वरूपत तो प्रिय और रसमय नही कहे जा सकते कि तु करुणा सहानुभूति, समात्मभाव आदि के सहयोग से जीवन क अनुभव में ये तदनुरूप रस क सहयोगी बनते हैं। काव्य में रस का स्रोत पूर्णत जीवन क समान नही है। काव्य के सौ दय का रहस्य रूप और भाव के अतिशय की अभिव्यक्ति में निहित है। अतिशय की इसी अभिव्यक्ति का सौ दय काव्य में रस के स्रोत खोलता है। काव्य का यह सौ दय अप्रिय भावो की अभिव्यक्ति को भी एक अद्भुत ढग से रसमय बना देता है। अस्तु जीवन के प्रिय भाव जीवन में रसमय बनते है। कि तु काव्य मे सभी भाव रसमय बन जाते हैं। अप्रिय भावो को भी अभिव्यक्ति का सौन्दय सरसता स अचित करता है। साधारण जन जिस प्रकार सुखमय ऐन्द्रिक सम्वेदनाओ को जीवन में स्पृहणीय मानते हैं उसी प्रकार उनकी दष्टि म सुखमय मनोभाव एव मनोवेग जीवन में सबसे अधिक वाछनीय है। काव्य के ममज्ञो के मत में काव्य का लोकोत्तर रस सबसे श्रेष्ठ है। बौद्धिक अनुसधान में सलग्न रहने वाले मनीषी बुद्धि की सामा यत नीरस समझी जाने वाली क्रियाओ में भी रस और

आकर्षण का अनुभव करते हैं, उनकी दृष्टि में बुद्धि के उत्कृष्ट व्यापारों का आनन्द ही मनुष्य जीवन की सर्वोत्तम परिणति है। इसी प्रकार अध्यात्म के अनुरागी आत्मा की साधना में तथा भक्ति के ममज्ञ ईश्वर की आराधना में एक दिव्य आनन्द का अनुभव करते है कि उसके समक्ष वे जीवन के अन्य सभी सुखों को हेय मानते हैं। इस प्रकार रस के जिन विविध रूपों को जीवन का सार माना जाता है वे जीवन में प्रिय और स्पृहणीय भी हैं। अतः 'सारता' के अतिरिक्त प्रियता का भाव भी रस के अर्थ में सन्निहित है। कदाचित प्रियता की दृष्टि से ही वे जीवन के सार माने जाते हैं। अस्तु सारता और प्रियता का भाव रस के सभी रूपों के साथ है यद्यपि सभी रसात्मक अनुभवों की प्रियता के लक्षण समान नहीं है। रस के इन विभिन्न रूपों के लक्षणों में क्या भेद है इसका विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा।

——०——

अध्याय—३

रस के विविध लक्षण

पिछले अध्यायो म रस के विविध रूपो और अर्थों का विवरण किया गया है। रस के अनेक रूप हैं अथवा अनेक प्रकार के तत्वो और भावो के लिये समान रूप से 'रस' पद का प्रयोग होता है। समान पद क प्रयोग के कारण यह स्पष्ट है कि तत्व और भाव के इन अनेक रूपो म कोई समान लक्षण होगा। रस का कोई व्यापक और सामा य अथ आवश्यक है यद्यपि रस के इन विविध रूपो मे कुछ भेद भी अवश्य होगे। रस के इन विविध रूपो की समानता और उनके भेदो के आधार पर काव्य गत रस का विवेचन अत्य त उपयुक्त और लाभ प्रद होगा। इस सूक्ष्म और सम्पन्न भूमिका म काव्यगत रस सम्ब धी उन भ्रान्तियो का अनुस धान भी हो सकेगा जो ऐतिहासिक काव्य मीमासा को कलुषित करती रही है। रस के विविध अर्थों के प्रसग मे रस के केवल उ ही अर्थों का ग्रहण हो सका है जो सामा य रूप से प्राय रस के सभी रूपो क साथ सगत हैं। 'सार' के रूप म रस का अथ रस के सभी रूपो के साथ सगत है। फलो और वनस्पतियो का रस उनका सार है। आयुर्वेद के रस भी धातुओ के सार है। सुखमय ऐ द्रिक सम्वेदनायें, प्रिय मनोभाव, काव्य के रस तथा बुद्धि, भक्ति और अध्यात्म का अनुराग भी भिन्न भिन्न दृष्टिकोणो से जीवन के सार माने जाते है। प्रिय और स्पृहणीय आस्वादन एव अनुभव के रूप मे भी रस का अथ आयुर्वेद के रसो के अतिरिक्त रस के अ य सभी रूपो के साथ सगत है। रस के ये दो सामान्य अथ भी काव्य के अनुसधान म सहायक होगे कि तु इनके अतिरिक्त भी रस के कुछ ऐसे सामा य और विशेष लक्षण हैं जो इस अनुसधान को अधिक सम्पन्न और सफल बना सकते हैं। ये सामा य लक्षण रस के सामा य रूप और भाव म निहित हैं। विशेष लक्षण रस के सभी रूपो मे नही पाये जाते। इनम कुछ लक्षण रस के कुछ रूपो म पाये जाते हैं तथा अ य रूपो म नही पाये जाते हैं। इसी लिये इ है 'विशेष लक्षण' कहना उचित है। इ ही लक्षणो के आधार

पर रस के विविध रूपो की परस्पर तुलना की जा सकेगी और उन्हे एक दूसरे से पृथक किया जा सकेगा। इसी विश्लेषण के आधार पर हम काव्यगत रस क विशेष रूप का निर्धारण कर सकेगे। सार और प्रियता एव स्पृहणीयता के सामान्य लक्षण भी काव्य के रस म मिलते हैं जसे कि वे रस के अन्य सभी रूपो म मिलते है। किन्तु काव्य के कुछ ऐसे विशेष लक्षण भी अवश्य होने चाहियें जो रस के अन्य रूपो म नही पाये जाते तथा जो काव्य के रस को रस के अन्य रूपो से पृथक करते है। इस दृष्टिकोण से काव्य के रस का विवचन अत्यन्त मौलिक और महत्व पूर्ण होगा क्योकि काव्य गत रस को कभी जीवन के प्रिय मनोभावो से तथा कभी आध्यात्मिक रस से अभिन्न मानने के कारण काव्य शास्त्र के इतिहास म रस के सम्बन्ध म प्राय अनेक भ्रान्तिया पलती रही है। रस के सभी रूपो के लक्षणो के विश्लेषण की भूमिका म काव्य के रस का स्वरूप अपनी मौलिक विशेषता म प्रकाशित हो सकेगा साथ ही रस के अन्य रूपो की विशेषता भी तुलनात्मक दृष्टि से हमारे सामने उपस्थित होगी। इसी विश्लेषण के प्रसग म काव्य के रस के साथ काव्य का स्वरूप भी हमारे समक्ष स्पष्ट होगा तथा जीवन और सस्कृति म काव्य के स्थान का भी यथार्थ परिचय मिलेगा।

सार तथा प्रियता एव स्पृहणीयता के अर्थ म रस के व्यापक प्रयोग का विवचन पिछले अध्याय म किया जा चुका है। ये भी रस के एसे लक्षण है जो काव्य म रस के निरूपण की दृष्टि से महत्व पूर्ण है। कुछ आचार्यों की दृष्टि म रस ही काव्य का सार है और वह एक अत्यन्त प्रिय एव स्पृहणीय अनुभव है। सार के अर्थ म रस को ग्रहण करने पर प्राय यह लक्षणा होती है कि रस के अतिरिक्त पदार्थ का शेष भाग हेय है। किन्तु एसी लक्षणा भौतिक क्षेत्र म भी सवत्र नही होती अनुभव के क्षेत्र में तो इस लक्षणा का होना और भी कम आवश्यक है। नवनीत दधि मथन का सार है और दधि मथन के अवशेष को छाछ कहते हैं। किन्तु यह छाछ भी पूर्णत निस्वाद और नीरस नही होती यद्यपि नवनीत दधि का उत्तम सार है। गन्ने आदि का रस निकालने के बाद जो अवशेष रह जाता है उसे अवश्य एक नीरस और हेय तत्व समझा जाता है। किन्त वेद की धातुओ के प्रसग म समस्त अवशेष ही रस होता है। रस के म अन्य कोई अवशेष नही रहता। अनुभव के र भौतिक लागू नही होत। अनुभव का रस सुख अद एक है जो

बाह्य उपकरणों तथा इन्द्रियों आदि के माध्यम से प्राप्त होती है। इस अनुभूति में भी वनस्पतियों के रस के समान कुछ ग्रहण की प्रक्रिया अवश्य होती है। यह ग्रहण शक्ति अथवा ऊर्जा का आदान है। परस्पर होने पर इसमें आदान और प्रदान दोनों ही होते हैं। ऐसी स्थिति में एक ही प्रक्रिया रस का आदान और प्रदान दोनों बन जाती है। ऐसा तभी होता है जब रस का कर्ता और उपकरण दोनों ही सचेतन प्राणी हों। पारस्परिकता चेतना का ही लक्षण है। सम्बन्ध की दोनों ध्रुवायें अचेतन होने पर अथवा एक भी ध्रुव चेतन होने पर पारस्परिकता उत्पन्न नहीं होती। पारस्परिकता न होने पर रस का आस्वादन आदान मात्र रह जाता है।

ऐसी स्थिति में भी सार रूप रस की महत्वपूर्णता स्वाद शीलता, ग्राह्यता आदि का भाव ही 'रस' पद के प्रयोग में प्रधान होता है। अनुभव रूप रसों में रस के उपकरणों को 'अवशेष' नहीं माना जाता। अतः उनके प्रति हेयता की भावना नहीं होती। वस्तुतः वे अवशेष होते भी नहीं, क्योंकि रस उनका भौतिक निष्कर्ष नहीं होता। इन उपकरणों से चेतना में जो रुचिर और सुखमय प्रक्रिया होती है उसी को 'रस' कहते हैं। बाह्य उपकरणों का अवलम्ब इस प्रक्रिया के लिये आवश्यक है, अतः रस के उपकरण हेय नहीं वरन् उपादेय हैं। रस इनका भौतिक सार नहीं है अतः रस के ग्रहण कर लेने के बाद ये नीरस और निस्सार नहीं होते। चेतन उपकरणों से प्राप्त रसों का आदान पुनः पुनः किया जा सकता है। खाद्य पदार्थों के अतिरिक्त रस के अन्य भौतिक उपकरणों के विषय में भी यह सत्य है। इसीलिये ये हेय न होकर बार बार उपादेय बनते हैं। अस्तु, सार के अर्थ में रस का प्रयोग प्रधानतः रस की महत्वपूर्णता और उसकी स्पृहणीयता का ही वाचक है। उसका यह भावात्मक अर्थ ही प्रधान है। काव्य के प्रसंग में भी रस का यह भावात्मक अर्थ ही अधिक संगत है। काव्य का रस चाहे व्यंग्य तथा अनुभव गम्य ही हो किन्तु भाषा, शक्ति गुण, अलंकार आदि काव्य के सभी अंग उस रसानुभूति के अनुग्राहक हैं। उन्हीं के द्वारा रस की अनुभूति सम्भव होती है। अतः वे हेय नहीं वरन् उपादेय हैं। इसी उपादेयता के कारण काव्य की परम्परा में इनका इतना महत्व रहा है कि ये काव्य शास्त्र के सम्प्रदायों के आधार बने और काव्य के विवेचन में इन्हें स्वतन्त्र महिमा का गौरव मिला।

प्रियता और स्पृहणीयता का भाव सामान्यत रस के सभी रूपों में व्याप्त है। किसी सीमा तक रस के सभी रूपों को समानभाव से प्रिय और स्पृहणीय माना जा सकता है। फिर भी रस के सभी रूपों की प्रियता और स्पृहणीयता एक ही धरातल की नहीं है। रस के विविध रूपों में इस प्रियता और स्पृहणीयता के उपकरण, लक्षण और सिद्धान्त भी एक नहीं है। उपकरणों के साथ रस के ग्राहक का सम्बन्ध भी रस के सभी रूपों में समान नहीं होता। अत विविध रसों की प्रियता और स्पृहणीयता के रूप को इन विशेषताओं के विश्लेषण द्वारा निर्धारित करना होगा। ऐन्द्रिक और मानसिक रस प्रधानत प्राकृतिक होते हैं। अत इनमें प्रकृति के सभी लक्षण मिलते हैं। कारण, काल, इकाई, अहंकार आदि प्रकृति के प्रमुख लक्षण हैं। ऐन्द्रिक और मानसिक रसों के बाह्य अवलम्ब उनके कारण होते हैं। इनके सम्पर्क और उनकी उपस्थिति पर ही रस का उद्भव निर्भर होता है। ऐन्द्रिक रसों के उद्भव के लिये इन कारणों अथवा उपकरणों का सम्पर्क नितान्त अपेक्षित है। एक प्रकार से 'काल' समस्त सत्ता और अनुभव का सामान्य रूप है। जर्मन दार्शनिक कांट ने उसे आन्तरिक अनुभव का रूप माना है (जबकि दिक का प्रसार बाह्य सत्ता का रूप है)। हमारा समस्त जीवन अनुभव के अन्तर्गत है। अनुभव का अतिक्रमण जीवन में सम्भव नहीं है। अत काल का अतिक्रमण भी अकल्पनीय है। हमारे समस्त अनुभव काल के अन्तर्गत होते हैं। अनुभवों का आन्तरिक क्रम ही काल का क्रम और उसकी गति है। इस क्रम में वर्तमान क्षण अतीत बनते जाते हैं। यह अतीत स्मृति हो जाती है। ऐन्द्रिक रसों की अनुभूति अनुभव काल में ही होती हैं। उनके स्मरण में वह रसमयी सम्वेदना नहीं होती जो अनुभव का लक्षण है। साक्षात रूप से रसमय न होते हुए भी ऐन्द्रिक रसों के अनुभव कुछ ऐसे संस्कार अवश्य छोड़ जाते हैं जो उन रसों को पुन पुन स्पृहणीय बनाते हैं।

जहां इन ऐन्द्रिक रसों के उपकरण भौतिक होते हैं वहां रस की अनुभूति क्षणिक और क्षीयमाण होती है। रसना के रसों में यह सबसे अधिक क्षणिक है। नव नव उपकरणों के आगमन मे रसना के रस का क्रम निरन्तर बनता है। रसना के रस की यह क्षणिकता उनका दोष नहीं वरन् एक गुण है जो मनुष्य के लिए प्रकृति का वरदान है। इसी क्षणिकता के आधार पर रसों की विविधता का आस्वादन सम्भव होता है। यह विविधता आस्वाद्य रसों को

सौन्दर्य सम्पन्न बनाती है। श्रवण की सम्वेदना भी क्षणिक है। सम्वेदना के उपकरणों अथवा कारणों की निरन्तरता से ही श्रवण रस का सौन्दर्य सम्भव होता है। श्रवण सम्वेदना की क्षणिकता भी मनुष्य के लिए शान्ति और सौन्दर्य का साधन है। दृष्टि की सम्वेदना कुछ स्थायी प्रतीत होती है किन्तु स्वरूपतः वह भी क्षणिक है। सम्वेदना के कारण की निरन्तर स्थिति और सम्वेदना की आवृत्ति से दर्शन की निरन्तरता सम्भव होती है तथा हम दीर्घकाल तक एक दृश्य का ध्यान दे लेते हैं। गन्ध की सम्वेदना में भी उपकरण की स्थिरता से निरन्तरता सम्भव है किन्तु यह निरन्तरता सम्वेदना को क्रमशः मन्द बनाती है। स्पर्श की सम्वेदना में भी निरन्तरता का फल यही होता है। ऐन्द्रिक रस की सजगता को बनाये रखना स्वास्थ्य, सुख और सभ्यता की एक कठिन समस्या है।

ऐन्द्रिक रस की निरन्तरता भी काल क्रम के अनुरूप है। काल के इस क्रम में एक ओर हमारे वर्तमान अनुभव क्षीण होकर अतीतवत् जाते हैं और दूसरी ओर नवीन अनुभव का उत्साह हमारी सम्वेदना का पोषण करता है। क्षय और नवस्फूर्ति से युक्त यह भौतिक उपकरणों से प्राप्त ऐन्द्रिक रस का एक सापेक्ष और मिश्रित सुख है। इस सुख में काल क्रम जनित क्षय के क्षोभ का भी अन्तर्भाव रहता है। इसीलिए इसमें प्रायः तृप्ति का अनुभव नहीं होता। तृप्ति एक शुद्ध सुख है जिसमें क्षय के क्षोभ का अन्तर्भाव नहीं रहता। चेतन उपकरणों से प्राप्त ऐन्द्रिक रस में किसी सीमा तक अनुभव में काल का अतिक्रमण और स्मृति के अधिक सजग संस्कारों में क्षय का अतिक्रमण होने के कारण अधिक तृप्ति मिलती है। फिर भी कारण और काल के प्राकृतिक लक्षण सभी ऐन्द्रिक रसों में विद्यमान रहते हैं। इकाई का प्राकृतिक लक्षण भी इनमें प्रकट होता है। सत्ता और अनुभव की केन्द्रीयता इकाई का मुख्य स्वरूप है। सत्ता की केन्द्रीयता एक इकाई को दूसरी इकाई से पृथक बनाती है। अनुभव की केन्द्रीयता इस पृथक्त्व के भाव को हमारी चेतना में अनुस्यूत करती है। सचेतन इकाइयाँ इस पृथकत्व का अनुभव करती हैं और उनकी प्रवृत्तियाँ इस पृथकत्व के भाव से प्रभावित होती हैं। सजग चेतना से रहित इकाइयों की प्रक्रियाओं में भी पृथकत्व का संग्रह और संरक्षण दिखाई देता है। यह पृथकत्व जगत और समाज में विरोध एवं संघर्ष का कारण बनता है। पशुओं की मन्द चेतना में यह इकाई स्वार्थ बन जाती है। मनुष्य में वह अहंकार बनकर प्रकट होती है। ऐन्द्रिक

सम्वेदनाओ के रस इसी अहकार का पोषण करते हैं। अहकार भी स्वार्थमय है। वृक्षो और पशुओ मे यह स्वार्थ की भावना क्रमश अचेतन और मन्द चेतन रहती है। मनुष्य मे वह अधिक सजग और सचेतन बन जाती है। सजग और तीव्र चेतन स्वार्थ का नाम ही 'अहकार' है। ऐन्द्रिक रसो की सम्वेदना मे कारण, काल अहकार आदि प्रकृति के ये लक्षण प्राय सदा विद्यमान रहते हैं।

जहा ऐन्द्रिक रसो के उपकरण चेतन अथवा मानवीय होते हैं वहा भी प्रकृति के इन लक्षणो का पूर्णत परिहार नही होता, किन्तु साथ ही इन लक्षणो का प्रभाव भी आवश्यक रूप से इतना पूर्ण नही होता जितना कि भौतिक उपकरणो से उत्पन्न ऐन्द्रिक रसो मे होता है। 'मनुष्य' प्रकृति और आत्मा का सगम है। 'आत्मा चेतना का शुद्ध और परम स्वरूप है। वह चेतना के अवर रूपो मे भी व्याप्त रहती है। प्रकृति का पुत्र होने के कारण मनुष्य मे प्रकृति के सभी लक्षण विद्यमान हैं। उसका जीवन कारण से प्रभावित और काल से सीमित है। अहकार की इकाई मनुष्य जीवन की एक महान् शक्ति और समस्या है। किन्तु दूसरी ओर आत्मा की विभूति मनुष्य का एक अद्भुत सौभाग्य है। प्रकृति का ज्ञाता होने के कारण आत्मा प्रकृति से अतीत है। कारण, काल, अहकार आदि उसके विषय है। अत वह इनसे परे है। जहा ऐन्द्रिक सम्वेदना के उपकरण सचेतन अथवा मानवीय होते है वहां भी मनुष्य की सत्ता अशत प्राकृतिक होने के कारण इसके रसानुभव मे प्रकृति के ऊपर विवेचित लक्षण विद्यमान रहते हैं। किन्तु प्रकृति के साथ साथ अमृतात्मा का भागी होने के कारण प्रकृति के इन लक्षणो के कुछ अतिक्रमण की भी सम्भावना मनुष्य मे रहती है। ऐन्द्रिक रस के चेतन उपकरणो की स्थिति भी भौतिक उपकरणो के समान हो सकती है। यह रस के ग्राहक के दृष्टिकोण पर निर्भर है। ऐसी स्थिति होने पर ऐन्द्रिक रस की अनुभूति मे प्रकृति के वे सभी लक्षण विद्यमान रहते है जो भौतिक उपकरणो से प्रसूत ऐन्द्रिक रस मे होते हैं। बालक का अनिच्छापूर्ण चुम्बन काम का अतिचार आदि इसके उदाहरण हैं। वस्तुत ऐसी स्थिति मे रस का ग्राहक रस के उपकरण अथवा कारण को अपने समान चेतन प्राणी नही मानता। अतएव वह उसकी स्वतन्त्रता और उसके सहयोग को स्वीकार नही करता। फलत एक का रसास्वादन दूसरे के लिए उत्पीडन बन जाता है। मानवीय स्थितियो मे अहकार के अन्ध एव उद्दाम होने पर ही ऐसा

होता है। दूसरे के अहकार का हनन करके रस ग्राहक का अहकार और भी उग्र हो जाता है।

मनुष्य के शरीर की भाति मनुष्य का मन भी प्राकृतिक है। अत हष, प्रेम, विनोद उत्साह आदि के मानसिक रसो म भी प्रकृति के ऊपर विवेचित लक्षण प्रकट होते हैं। कारण और काल के अनुभव का आधार मन ही है और वही अहकार का अधिष्ठान है। ऐद्रिक सम्वेदना (विशेषत स्पश की सम्वेदना) और मनोवेगा म यह एक महत्वपूर्ण अन्तर है कि ऐन्द्रिक सम्वेदना की भाति मनावेगो म उपकरणो अथवा कारणो का निकट एव साक्षात सम्पक अपेक्षित नहीं रहता। मानसिक रस के ग्राहक मे इन उपकरणो के प्रति दूरता और परोक्षता का भाव रहता है। दूरता रस ग्राहक के अहकार का अवकाश दती है। इसी स्थिति म स्वाथ और अहकार को तथाकथित प्रेम मे प्रवेश मिलता है। यह आश्चय की बात है किन्तु यह सत्य है कि तथाकथित प्रेम मे काम से भी अधिक अहकार और स्वाथ रहता है। इसका कारण काम मे सचेतन उपकरण की निकटता और प्रेम म उसकी दूरता है। समस्त मनोभाव अथवा मनोवग रसमय एव स्पृहणीय नही हाते कि तु इनम जो रसमय माने जात हैं उनम प्राय अहकार का आधार रहता है। हमारे हष प्रेम, विनोद, उत्साह आदि हमारे ही हाते हैं। इनके कारण भी सदा सचेतन नहीं हाते। भौतिक उपकरणा के इस प्रसग म अहकार अधिक सजग होता है। जहा सुखमय और स्पृहणीय मनोभावो तथा मनोवेगो के कारण सचेतन होते है वहाँ काम की भाति ही प्राकृतिक लक्षणा के अतिरिक्त लक्षणा के अतिक्रमण की सम्भावना अधिक रहती है। ऐसी स्थिति म काम की ऐद्रिक पारास्परिकता की भाति मानसिक पारस्परिकता उदय हो जाती है। इन्द्रियाँ परोक्ष का ग्रहण नही कर सकती किन्तु मन परोक्ष को भी विषय बनाता है। स्मृति और कल्पना की विभूति मन के रस को सम्पन्न बनाती है। मानसिक रसो म प्राकृतिक लक्षणों के प्रभाव भी रहते हैं कि तु साथ ही उनमे इनके अतिक्रमण की सम्भावना भी है। यही सम्भावना मानसिक रस को स्वतन्त्र, स्थायी और अलौकिक बनती है। मन की इसी सम्भावना के सहयोग से काम का लौकिक रस भी अलौकिक बनता है और काम की 'मनसिज' सना साथक होती है। मन की स्थिति प्रकृति और आत्मा के क्षितिज पर है। मन की इसी सध्या मे आत्मा के क्षितिज पर सौन्दय और आन द के इन्द्र धनुप प्रकाशित होते हैं।

बुद्धि के साथ रस की कितनी संगति है यह एक विचारणीय प्रश्न है। किंतु दर्शन और विज्ञान के क्षेत्रों में ज्ञान का अनुराग विदित है। अतः बौद्धिक रस को मानकर ही उसके स्वरूप और लक्षणों का निरूपण करना होगा। दर्शनों में बुद्धि को भी प्रकृति का परिणाम माना जाता है। किन्तु वह प्रकृति का पहला ही परिणाम है। 'बुद्धि' सर्ग का प्रथम चरण है। बुद्धि में सत्व की प्रधानता रहती है। इसी कारण बुद्धि में निश्चयात्मक वृत्ति होती है। रजोगुण चंचल है और तमोगुण प्रमाद पूर्ण है। अतः सत्व गुण ही निश्चयात्मक ज्ञान में उपकारक होता है। सत्व गुण प्रधान होने के कारण बुद्धि की अपनी वृत्ति ज्ञान के अनुसंधान में ही होती है। ज्ञान में मनुष्य की तत्परता अधिक होने पर ज्ञान के प्रति उसका अनुराग भी हो जाता है। सत्व गुण की प्रधानता के कारण ज्ञान के प्रति अनुराग रज प्रसूत होते हुए भी सत्व से परिष्कृत होता है। हम उसे सात्विक अनुराग कह सकते हैं। रस अनुराग के कारण ज्ञान का बौद्धिक व्यापार भी प्रिय लगने लगता है और बौद्धिक रस की संगति सम्भव होती है। सात्विक और सूक्ष्म होने के कारण बौद्धिक रस की वृत्ति शांत होती है। उसमें ऐंद्रिक रसों के तुल्य सम्वेदना अथवा मानसिक रसों का आवेग अथवा आंगिक उद्वेलन नहीं होता। वह काव्य के शांत रस के समकक्ष होता है। सूक्ष्म और शांत होने के कारण बौद्धिक रस में बाह्य उपकरणों का अधिक महत्व नहीं होता। बौद्धिक रस पूर्णतः निर्विषय नहीं होता। किंतु उसके विषय स्थूल न होकर सूक्ष्म होते हैं। ज्ञान के सूक्ष्म प्रत्यय और सिद्धांत बौद्धिक रस के विषय बनते हैं। सत्व गुण की प्रधानता होने के कारण बौद्धिक रस में रज प्रधान रसों की अपेक्षा अधिक स्थिरता होती है।

इस प्रकार कारण और काल के प्राकृतिक लक्षण बौद्धिक रस में उस स्थूल रूप में नहीं पाये जाते जिस रूप में वे ऐंद्रिक अथवा मानसिक रसों में पाये जाते हैं। बुद्धि प्रकृति का परिणाम है। अतः बौद्धिक रस को प्रकृति से अतीत तो नहीं कहा जा सकता किंतु वह सर्गक्रम में प्रकृति का प्रथम परिणाम है और लय क्रम में साधना की अंतिम भूमि है। अतः प्राकृतिक होते हुए भी बौद्धिक र चेतना की अत्यंत उत्कृष्ट अवस्था है। सूक्ष्म विषयों और काल का प्रसंग उसमें रहता है किन्तु काल के मंद और विषय के सूक्ष्म होने के कारण सम्बंध मूलक भेद का अवच्छेद उसमें बहुत कम रहता है। बौद्धिक रस की तन्मयता का यही

रहस्य है। भेद मूलक अवच्छेद का एक प्रधान कारण अहंकार है जो ऐंद्रिक और मानसिक रसों में प्राय विद्यमान रहता है। दर्शन के अनुसार बुद्धि की स्थिति अहंकार से ऊपर है। अहंकार व्यक्तित्व की इकाई की सदर्प चेतना है। दर्प के साथ साथ वह सीमा का भी कारण है। अल्पस्थायी होने के साथ साथ ऐन्द्रिक और मानसिक रस अनेकधा अवच्छिन्न होते हैं। उनकी तन्मयता चेतना का स्वतन्त्र व्यापार होने की अपेक्षा प्रकृति की आत्म विभोरता अधिक है। बौद्धिक रस में अहंकार आदि के अवच्छेदों का बहुत कुछ अतिक्रमण हो जाता है। अत बौद्धिक रस में चेतना की स्वतन्त्रता और सम्पन्नता का विस्तार अधिक होता है। सूक्ष्म और शान्त होने के साथ साथ बौद्धिक रस अधिक स्थायी और सम्पन्न है। प्रकृति के स्थूल उपकरणों से अपेक्षाकृत अधिक मुक्त होने के कारण वे ऐंद्रिक और मानसिक रसों की तुलना में अधिक दुर्लभ भी है।

काव्य का रस ऐन्द्रिक, मानसिक और बौद्धिक रसों से भिन्न एक अपूर्व रस है। एक ओर कुछ आचार्य उसे आत्मिक रस के समकक्ष मानते हैं। किन्तु दूसरी ओर रति आदि के अवच्छेदक भी उसके आवश्यक अंग मान गये हैं। ऐन्द्रिक उपकरणों मानसिक संवेगों तथा कारण काल, अहंकार आदि के प्राकृतिक लक्षणों का अतिक्रमण काव्य के रस में आवश्यक नहीं है। इनके साथ काव्य के रस का कोई विरोध नहीं है। आलम्बन उद्दीपन आदि के रूप में काव्य के रस में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। ये अवच्छेदक काव्य के रस में बाधक होने के स्थान पर उसके उपकारक हैं। इन्हीं के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इनका सहयोग काव्य के रस को सम्पन्न बनाता है। अध्यात्म के निरवच्छिन्न रस से काव्य के रस का भेद स्पष्ट है। किन्तु दूसरी ओर वह ऐंद्रिक मानसिक और बौद्धिक रसों से भी भिन्न हैं। काव्य का रस न तो रस के इन अन्य रूपों का विरोधी है और न इनका संकर मात्र है। उसका एक अपना स्वरूप है यद्यपि उसका यह स्वरूप अन्य रसों के सहयोग से ही सम्पन्न होता है। इंद्रिया, मन बुद्धि और आत्मा के अतिरिक्त रस के किसी अन्य अधिष्ठान की कल्पना नहीं की जा सकती। आत्मा सभी रसों का व्यापक अधिष्ठान हैं। बुद्धि, मन और इंद्रियों के रस भी अपने अपने अवच्छेदकों में आत्मा की पीठ पर ही सम्पन्न होते हैं। आत्मा का मूल पीठ ही काव्य के रस का भी अधिष्ठान है। अत पंडित

जगन्नाथ के अनुसार 'भग्नावरणा चित्' को रस मानना उचित ही है। किन्तु आवरणा के भग होने का अभिप्राय अवच्छेदको का विलीन होना नही हैं। शुद्ध आध्यात्मिक रस की समाधि म वे अवश्य विलीन हाजाते हैं किन्तु काव्य के रस मे वे विलीन नही होते। काव्य के रस म विविध रस वृत्तियो का सामजस्य है। प्राकृतिक रसो के उपकरण उसे सम्प न बनाते हैं। आत्मा का आधार इन उप करणो की सीमाओं का सौन्दय के क्षितिजो मे विस्तार करता हैं। काव्य का रस लौकिक उपकरणो के द्वारा अलौकिक रस की सृष्टि है। काव्य के इस रस का मूल रहस्य रूप और भाव के अतिशय म है। इसी अतिशय के सौन्दय से युक्त रौद्र और भयानक भी रस पदवी के योग्य बनते हैं। काल और अहकार के प्राकृतिक लक्षण म द होकर आत्मा क अनन्त सौन्दय के साथ अन्य अवच्छेदका का सामजस्य स्थापित करते है।

आत्मा अथवा परमात्मा की स्थिति बुद्धि से पर है। आत्मा प्रकृति से अतीत है। अत प्रकृति के समस्त उपकरणो का अतिक्रमण करके ही हम आत्मा की स्थिति मे आते है। प्रकृति से आत्मा का आवश्यक विरोध नही है। क्योकि वह प्रकृति के उपकरणो म व्याप्त है। कि तु प्रकृति के ये उपकरण आत्मा के अवच्छेदक नही बनते। प्रकृति से अतीत होने के कारण आत्मा का आध्यात्मिक रस निरवच्छिन्न और अन त है। उसम कारण और काल का प्रसग नही होता। अहकार के बुदबुद आत्मिक रस के महासागर म विलीन हो जाते है। आत्मा का यह रसार्णव अपने वैचल्य म विलसित होता है। उप करणो स मुक्त होने के कारण आत्मा का रस सबस अधिक स्वत त्र है। ऐन्द्रिक रस से लेकर आत्मिक रस तक स्वातन्त्र्य की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। यह स्वात त्र्य रस की विभूति का एक महत्वपूर्ण तत्व है। कदाचित् इसी स्वातत्र्य की पूर्णता के कारण आत्मिक रस को सवश्रेष्ठ माना जाता है।

प्रियता की दृष्टि से रस के सभी रूप मधुर और स्पृहणीय हैं। इस प्रियता को प्राय सुख अथवा आन द का नाम दिया जाता है। सुख और आनन्द दोनो ही स्पृहणीय अनुभूतिया है। ऐसी स्पृहणीय अनुभूति हम ऐन्द्रिक सम्वेदना से लेकर आत्मिक अनुभव तक सवत्र प्राप्त होती है। किन्तु अनुभूति के ये सभी रूप समान नही है। प्रियता अथवा स्पृहणीयता का एक लक्षण चाहे इन सब

मे समान हो कि तु इन अनुभूतियो मे अनेक लक्षणो म असमानता भी हैं। इनमे कुछ असमानताओ का सकेत ऊपर किया गया है। भापा के प्रयोग मे सामा यत सुख और आनन्द मे भेद नही किया जाता। भापा की इस अस्पष्टता का सूत्र उपनिपदो तक खोजा जा सकता है। उपनिषदो म आत्मिक अनुभूति के लिये सुख और आन द दाना शब्दा का प्रयोग हुआ है। तैत्तिरीय उपनिपद मे ब्रह्म को रस स्वरूप बताते हुए उसे आन दमय कहा है। (रसो वै स । रसम् ह्येव लब्ध्वा आन दी भवति)। अ यत्र छा दोग्य उपनिपद म ब्रह्म को 'भूमा' अथवा अ न त की सना दी गई हैं और उसे सुखमय बताया गया है। (यो वै भूमा तदेव सुखम्। न अल्पे सुखमस्ति)। उपनिपदो मे सुख का प्रयोग आत्मिक आन द के पर्याय के रूप मे हुआ है कि तु फिर भी उपनिपदो मे "आन द" पद के प्रयोग की ही बहुलता है। आगे चलकर आत्मिक अनुभव के लिये आन द' का ही प्रयोग अधिक हुआ है और सुख का प्रयोग ऐ द्रिक, मानसिक आदि प्राकृतिक और प्रिय अनुभवो के लिये होने लगा। सुख और आन द का यह अ तर काव्यगत रस की मीमासा मे अत्य त उपयोगी होगा। यदि काव्य के रस म आत्मा का आधार है तो काव्य के रस को 'आन द' कहना उचित है और विपयान द को 'विपय सुख' कहना अधिक उपयुक्त हैं। जैसा कि तुलसीदास जी ने कहा है—

वन हित कोल किरात किशोरी।
रची विरचि विपय सुख भारी॥

काव्य के रस मे उद्दीपन के ऐ द्रिक उपकरणो और स्थायी भावो के मनोवेगो के स्पृहणीय अनुभव को 'सुख' कहना ही अधिक उचित हैं, क्योकि वह अनेक अवच्छेदको से सीमित रहता है जब कि आत्मा का आन द अनवच्छि न और अन त है। कारण, काल, माध्यम आदि के उपकरणो के अनुसार प्राकृतिक सुख के विविध रूपा म अ तर है। अहकार की व्यक्ति निष्ठता इनम और आत्मिक आन द मे एक प्रमुख भेद का आधार है। काव्य के रस मे स्थायी भाव, उद्दीपन भाव आदि तथा अहकार आदि के अवच्छेदको के साथ आत्मा के आधार का सामजस्य किस प्रकार होता हैं अथवा होता है या नही, इसका निर्णय काव्य मीमासा के प्रसग मे अत्य त महत्वपूर्ण हैं।

उक्त लक्षणो के अतिरिक्त रस' के सामा य प्रयोग म कुछ अ य उपलक्षण भी खोजे जा सकते हैं जो काव्य के इस रस का स्वरूप निर्धारित करने म महत्व-

पूर्ण योग दे सकते हैं। यद्यपि आयुर्वेद का रस द्रव नहीं होता, किन्तु सामान्य 'रस' के अर्थ में द्रवत्व का भाव अन्तर्निहित है। कोष में 'रस' 'जल' का पर्याय भी है। गीता में रस का जल में भगवान की विभूति कहा है (रसोऽहमप्सु कौन्तेय—गीता ७ ८)। 'रस' जल का द्रवणशील गुण है। रसनेन्द्रिय से ग्राह्य रस अपनी द्रवणशीलता के द्वारा ही स्वाद की सम्वेदना जागृत करते हैं। फलों और वनस्पतियों के रस का द्रवत्व सर्वविदित है। अनुभव गत रसों की द्रवणशीलता विचारणीय है। यह स्पष्ट है कि इनके द्रवत्व को हम भौतिक अर्थ में नहीं ले सकते, फिर भी भौतिक रसों के द्रवत्व का समान धर्म इनमें मिलता है। 'द्रव ग्राह्य और सचरणशील होता है। वह प्रवाहित और सुग्राह्य होता है। दूध तथा फलों के रसों की सुपाच्यता द्रव रस की शरीर द्वारा सुग्राह्यता को सूचित करती है।

हम हृदय के द्रवित होने की बात करते हैं। अनुभवगत रसों में चेतना का सचार होता है। ऐन्द्रिक सम्वेदनाओं और मानसिक सम्वेगों में स्नायु तन्तुओं मे ऊर्जा का सचार होता है। काव्य आदि के सास्कृतिक रसों में भाव का सचार होता है। भौतिक द्रव रसों की भाँति इन अनुभवगत रसों में ग्राह्यता का गुण भी होता है। ऐन्द्रिक सम्वेदनायें, मनोवेग, काव्यानन्द आदि सभी सुग्राह्य होते हैं। रस की तरलता सभी रूपों में मिलती है। करुणा की आर्द्रता से सभी परिचित हैं। तरल अश्रुओं का करुणा से सम्बन्ध एक प्राकृतिक सयोगमात्र नहीं है। अश्रुओं की तरलता करुणा की आन्तरिक तरलता का ही प्रतिबिम्ब है। काव्य के रस में भी तरलता और सुग्राह्यता का रूप अनुसधेय है। काव्य प्रकाश के कान्ता सम्मित तया में काव्य की सुग्राह्यता और तरल रस तुल्य प्रभविष्णुता का सकेत है। रस के सागर आदि के भाषागत प्रयोग भी रस की आन्तरिक तरलता के सूचक है। करुणा आदि तरल भावों के साथ ही प्राय सागर का प्रयोग अधिक और उचित होता है।

काव्य शास्त्र में प्राय 'चर्वणा' का प्रसग आया है। यह चर्वणा' एक व्यापार है जिसके द्वारा रस की निष्पत्ति होती है। हिन्दी का 'चबाना' उसी का अपभ्रंश हैं। यद्यपि काव्य शास्त्र मे चर्वणा' के अर्थ मे आस्वादन को ही प्रधान माना गया है। किन्तु शब्द और भाव दोनों दृष्टियों से रस के निष्पादन और

आस्वादन दोनो को'चर्वणा'में सम्मिलित करना उचित है। रस का निष्पादन और आस्वादन युगपत् भी हो सकता है। फिर भी ये दोनो विविक्त व्यापार हैं। निष्पादन रस की अभिव्यक्ति मे पूर्ण होता है। आस्वादन निश्चलरस का ध्यान है जो अभिव्यक्ति के बाद भी दीर्घकाल तक चल सकता है। भौतिक रस से लेकर आध्यात्मिक रस तक निष्पादन और आस्वादन का यौगपद्य क्रमश बढता जाता है। भौतिक क्षेत्र म ये दोनो व्यापार युगपत् नही हो, निरन्तर अवश्य है। फल आदि को चबाने स रस निष्पन्न होता है। निष्पन्न होने के अनन्तर अव्यवहित रूप से उसका आस्वादन आरम्भ हो जाता है। फलो आदि के देह सरस होने के कारण इतने मदुल होते हैं कि रस का निष्पादन और आस्वादन बहुत कुछ युगपत से प्रतीत होते हैं। निष्पादन और आस्वादन दोनो की क्रियायें साथ साथ चलती रहती हैं। अनुभवगत रसो मे यह यौगपद्य और बढता जाता है। अन्त मे आत्मिक रस म आकर ये दोनो व्यापार अभिन्न हो जाते हैं।

रस के सुख अथवा आनन्द मे यह यौगपद्य अत्यन्त उपकारक और अभीष्ट है। जहा यह यौगपद्य शिथिल होता है वहा रस का आनन्द भी मन्द हो जाता है। उदाहरण के लिये फलो अथवा गन्ने के रस का पहले किसी यन्त्र द्वारा निकाल कर फिर उसका पान करने म वह स्वाद और आनन्द नही आता जो मुख की चर्वणा द्वारा निष्पन्न रस क आस्वादन म आता है। इसका कारण यह है कि रस का स्वाद अथवा सुख बहुत कुछ चेतना एव उसके उपकरणो की सक्रियता म है। चर्वणा म रस के निष्पादन और आस्वादन की क्रियायें सम्मिलित रहने के कारण सक्रियता का रूप अधिक सम्पन्न होता है। इन क्रियाओ के पृथक होने पर दोनो की सक्रियता मन्द हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि यौगपद्य होने पर दोनो क्रियाये एक दूसरे को स्फूर्ति प्रदान करती है। इस यौगपद्य के विवेचन म चर्वणा के एक ही व्यापार मे दोनो का समाहार किया गया है। रस में चर्वणा का महत्व यही सकेत करता है कि रस का सुख अथवा आनन्द सृजनात्मक है। सृजनात्मकता सक्रियता का ही एक रूप है। सृजन एक क्रिया है। वह एक नवीन रूप की सृष्टि है। इस रूप का सौन्दर्य सृजन की क्रिया को आनन्दमय बनाता है।

अत निष्पादन और आस्वादन के यौगपद्य के साथ साथ रूप के सृजन की सक्रियता जितनी अधिक बढती जाती है उतना ही रस अधिक निखरता है।

कला और काव्य का सांस्कृतिक रस इसी कारण श्रेष्ठ माना जाता है। लोक नृत्य आदि सांस्कृतिक व्यापारों में अनेक पात्रों के सहयोग से यह सृजनात्मक सक्रियता और जटिल हो जाती है तथा जटिलता के द्वारा अधिक सम्पन्न बनकर अधिक सौन्दर्य और रस की सृष्टि करती है। ऐन्द्रिक और मानसिक रसों में भी आनन्द का अनुपात सक्रियता के अनुरूप रहता है। मिथुन पात्रों के सक्रिय सहयोग से सम्पन्न होने के कारण ही काम का रस इतना मधुर होता है। आनन्द अपना विस्तार चाहता है इसीलिये वह ब्रह्म का स्वरूप है। चर्वणा में आस्वादन की आवृत्ति रस के इसी प्रस्तार का संकेत करती है। ऐन्द्रिक रस में यह प्रस्तार सम्भव न होने पर हम आवृत्ति से अपना संतोष करते हैं। काम के रस प्रस्तार की ओर आयुर्वेद का अध्यवसाय साम बहुत रहा है। इस प्रस्तार की अधिक सम्भावना होने के कारण कला और काव्य के रस श्रेष्ठ हैं। अध्यात्म में कदाचित यह प्रस्तार सबसे अधिक होता है इसी लिये अध्यात्म का रस सर्वश्रेष्ठ है। निष्पादन और आस्वादन तथा रस प्रस्तार से युक्त चर्वणा का सक्रिय और सृजनात्मक व्यापार जीवन एवं काव्य के रस का गम्भीर रहस्य है। रस के अन्य लक्षणों में इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

आस्वादन की प्रियता प्रायः सभी रसों का एक महत्वपूर्ण लक्षण है। चर्वणा की सृजनात्मक सक्रियता में रस की इस सामान्य प्रियता का मूल रहस्य निहित है। इस सृजनात्मक सक्रियता से संबंध रखने वाला रस का एक और महत्वपूर्ण लक्षण है जो प्रायः सभी रसों में पाया जाता है। रस के सामान्य स्वरूप तथा काव्य के रस की मीमांसा की दृष्टि से रस का यह लक्षण भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। रस के इस लक्षण को हम 'स्फूर्ति' कह सकते हैं। स्फूर्ति को हम शक्ति अथवा ओज की अभिव्यक्ति के रूप में समझ सकते हैं। वह शक्ति के समुद्र का ज्वार है। उसकी तरंगों में रस का विलास है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी हम स्फूर्ति को ऊर्जा की तरंगों का उद्वेलन कह सकते हैं। स्फूर्ति के क्रम में प्राणों इन्द्रियों, मन आदि का उत्कर्ष होता है। मानो इन की धाराओं में वसन्त के नये जल के प्रवाह उमड़ आते हैं। शरीर में रक्त की धारायें वस्तुतः शक्ति की ही धारायें हैं। रसों के आस्वादन में इन धाराओं में रक्त का अथवा यों कहिये शक्ति का वेग बढ़ जाता है। यह वेग स्फूर्ति का प्रकट रूप है। मानसिक संवेगों में यह अधिक स्पष्ट होता है। काम के व्यापार में भी यह वेग प्रखर होता है।

भौतिक रस के आस्वादन अथवा काव्य और अध्यात्म के रस मे यह इतना प्रकट और प्रखर नही होता। इसका कारण यह है कि भौतिक रस से प्राप्त होने वाली स्फूर्ति की प्रक्रिया आस्वादन मे ही पूर्ण नही हो जाती। पाचन की अय आंगिक क्रियाओं के द्वारा वह विलम्ब से और दीर्घ काल मे पूर्ण होती है। शरीर और स्वास्थ्य के सामान्य स्तर के बढने पर एक स्थायी सम्पत्ति के रूप में यथाकाल उसका अनुभव होता है। काम के ऐन्द्रिक रस तथा मनोवेगो की स्फूर्ति अल्प काल के आवेग मे सीमित और तात्कालिक होने के कारण अधिक तीव्र होती है। कला, काव्य और अध्यात्म के रसो की स्फूर्ति शारीरिक नही होती। किसी सीमा तक हम उसे मानसिक कह सकते है। मूलत वह आध्यात्मिक होती है। आत्मिक स्फूर्ति मे एक अपूर्व उल्लास होता है। इस उल्लास का आलोक शरीर और मन म भी विभासित होता है। किन्तु वह आवेग अथवा उत्तेजना के असाधारण रूप मे नही होता। आत्मा स्वरूप से ही शान्त एव प्रसन्न है। इसी रूप मे उसकी स्फूर्ति भी विकसित होती है। किन्तु सभी रूपों मे रस के आस्वादन मे शक्ति के स्रोत खुलते हैं और स्फूर्ति का उल्लास उमडता है।

मन, बुद्धि और आत्मा की भूमियो पर यह उल्लास क्रमश सूक्ष्मतर होता जाता है। हम यो कह सकते है कि इनमे स्फूर्ति की अभिव्यक्ति आंगिक आवेग के स्थान पर आन्तरिक अनुभूति का स्थान ग्रहण करने लगती है। स्फूर्ति की इस आन्तरिक अनुभूति म उत्तेजना न होने पर भी एक अपूर्व उल्लास रहता है। सूक्ष्म और आतरिक होने के साथ साथ यह स्फूर्ति अधिक स्थायी भी होती है। स्फूर्ति के सभी रूप एक ओर शक्ति की अभिव्यक्ति है तो दूसरी ओर हम उसे शक्ति की समृद्धि मान सकते हैं। मानसिक आवेग की अवस्था मे, चाहे वह हर्ष हो अथवा क्रोध, मनुष्य की शक्ति साधारण से कितनी अधिक बढ़ जाती है। यह लोक के सामान्य अनुभव मे विदित होता है। आन्तरिक और आत्मिक स्फूर्ति म भी हमे शक्ति की समृद्धि का अनुभव होता है। यह समृद्धि ब्रह्म का ही स्वरूप है। अतएव स्फूर्ति की समृद्धि मे आनन्द का अनुभव होता है। ब्रह्म आनन्दमय है। अभिधार्थ मे ब्रह्म बृंहणशील अथवा वृद्धिशील है। ब्रह्म के स्वरूप की इस समृद्धि मे ही आनन्द का रहस्य है।

काव्य के रस म भी स्फूर्ति का रूप बहुत कुछ आन्तरिक और आत्मिक है। विभाव, अनुभाव आदि उसके उपकरण मात्र है। किन्तु काव्य का रस केवल

नुरूप आवेग से अभिन्न नही है। अभिन्न होने पर कवि अथवा पाठक की स्थिति काव्य के पात्रो के समान हो जाती है और रस के प्रसग मे काव्य का अतिरिक्त रूप अ यथा सिद्ध हो जाता है। यदि काव्य का अपना कोई स्वरूप है तो काव्य के रस का भी पृथक स्वरूप अवश्य है और उसे जीवन के रस के साथ अभिन्न मानना उचित नही है। जीवन के रस के साथ काव्य के रस का सामजस्य सम्भव हो सकता है और काव्य का विषय बन कर जीवन का रस काव्य के रस को अधिक सम्पन्न बना सकता है। कि तु काव्य के सभी विषय जीवन की दृष्टि से रसमय नही होते। नीरस और रस विरोधी विषय भी का य के आधार बनते हैं। रौद्र, वीभत्स आदि प्रसग ऐसे ही विषय हैं। ये अपने अनुरूप रस की सृष्टि करते है यह काव्य शास्त्र की एक महती भूल है। काव्य का रस सर्वदा जीवन के अनुरूप नही होता। अनुरूप होन पर वह जीवन के रस स अधिक समृद्ध बनता है। कि तु जीवन के वे विषय भी जो जीवन म रस मय नही होते, काव्य के उपकरण बनते हैं। काव्य के रस का स्रोत अपने स्वरूपगत सौ दय म है। और वह जीवन के रस से पूर्णत भिन्न न होते हुए भी विविक्त है। सजनात्मक सक्रियता की भाति उसकी स्फूर्ति का रूप भी ऐन्द्रिक और मानसिक रस की अपेक्षा अधिक आ तरिक है।

स्फूर्ति के अतिरिक्त रसो का एक और भी सामा य लक्षण है जो कला के रस म अधिक स्पष्ट दिखाई देता है यद्यपि वह रस क अ य रूपो म भी वर्तमान होता है रस का लक्षण 'साम्य' है साम्य का अथ अनेक तत्वो का सामजस्य ह या जहा आत्मा की भाति अनेक तत्वो की कल्पना नही की जा सकती वहां साम्य का अथ अनेक तत्वो के विरोध का अभाव है। यद्यपि अनेक तत्वो की पृथकता अथवा विविक्तता आवश्यक रूप से विरोध उत्पन्न नही करती कि तु वह भी साम्य की बाधक है। साम्य केवल विरोध का अभाव ही नही वरन् भावात्मक साम जस्य का वह रूप है जिसम अनक तत्व एक रूप म समाहित होकर एक समवत सौ दय की सष्टि करत हैं। आत्मा का साम्य तो कवल विरोध का अभाव नहीं वरन् द्वैत का अभाव है। इसलिए आत्मा अद्वैत है। कला अथवा वनस्पतियों का रस साम्य का एक सुलभ उदाहरण है। इन रसो म अनेक तत्वो का समवाय होता है। कि तु रसो म य तत्व पृथक पृथक दिखाई नही देते। य पुनर्मिल कर एक हो जात हैं। अनक तत्वो के समवाय स एक रूप की रचना ही साम्य

की सृष्टि है। भौतिक रसो का साम्य अनेक तत्वो की भौतिक सत्ता और उसके भौतिक स्वरूप का सामजस्य अथवा समवाय है।

अनुभवगत रसो को इस स्थूल दृष्टि से आकना उचित नही है। अनुभव भौतिक सत्ता की तुलना म अधिक सूक्ष्म है। सूक्ष्म रूप म अनेक उपकरणो का सामजस्य अनुभवगत रसो म भी उपलब्ध होता है। रस के अर्थो मे आस्वादन अथवा अनुभव की प्रियता सबस अधिक महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से जो ऐन्द्रिक सम्वेदनायें अथवा जो मनोभाव प्रिय होत हैं उनम उपकरणा का अन्तगत विरोध नही होता वरन् एक सामजस्य होता है। रस की ग्राह्यता इस सामजस्य का प्रमाण है। जहा सामजस्य के स्थान पर विरोध होता है वहा ग्रहण के स्थान पर तिरस्कार होता है। अनुभवगत रसो म भौतिक सत्ता की एकता नही होती किन्तु प्रिय लक्ष्य और अनुभव का सामजस्य अवश्य होता है। 'चवणा' म रस के प्रस्तार की अनोप्सा इसी सामजस्य के कारण होती है। 'सामजस्य' सुख अथवा आनन्द का रहस्य है। उसम सत्ता क एक न होते हुए भी रस की आन्तरिक विभूति का विस्तार होता है और उसी ब्रह्म भाव से समृद्धि के आनन्द की प्राप्ति होती है जिसका सकेत ऊपर किया जा चुका है।

विरोध से दुख उत्पन्न होता है। विरोध दो सत्ताओ का सघष है जो उन सत्ताओ के स्वरूप म सकोच का कारण बनता है। सकोच मे सुख नही मिलता। सुख और आनन्द तो विस्तार म हैं (न अल्पे सुखमस्ति। योवै भू मा तदेव सुखम्)। ऐन्द्रिक और मानसिक रसा मे पात्रो, उपकरणा आदि का साम्य स्पष्ट होता है। विरोध चाहे परम्परया रस को समद्ध बनाता हो किन्तु स्वरूपत वह रस का अग नही है। काव्य के रस म रौद्र, बीभत्स आदि विरोधपूर्ण भावो का भी सामजस्य होजाता है। काव्य का साम्य अधिक समृद्ध होने के कारण काव्य का रस लोकोत्तर है। काव्य के रस म जीवन के उपकरणो का ही समृद्धतर साम्य नही है वरन् काव्य के स्वरूप मे शब्द और भाव का भी साम्य है। वस्तुत काव्य के इस स्वरूपगत सम्य को विस्तृत परिधि म काव्य के अ य उपकरणा के साम्य समाहित होत है। काव्य के इस व्यापक साम्य का निरूपण हम अगले अध्यायो म करेगें। यहा केवल इतना ही सकेत करना अभीष्ट है कि भौतिक रसो के तत्वा के अनुरूप क्रिया, भाव, लक्ष्य आदि का साम्य जीवन और काव्य दोना से रस का एक महत्वपूर्ण लक्षण है।

रस का एक अंतिम और महत्वपूर्ण लक्षण उसकी सूक्ष्मता और अलक्ष्यता है। सूक्ष्म का एक अर्थ परिमाण की लघुता भी है। किन्तु अलक्ष्यता ही उसका प्रसिद्ध लक्षण है। भौतिक रस अपने उपकरणों की अपेक्षा परिमाण में लघु होते है। सार के अर्थ में यह लघुता का भाव सन्निहित है। किन्तु अलक्ष्यता का भाव रस के प्रसंग में अधिक महत्वपूर्ण है। यह अलक्ष्यता ही रस के निष्पादन की क्रिया को सार्थक बनाती है। प्राय रस के सभी रूपों में यह अलक्ष्यता मिलती है। फलों और वनस्पतियों के रस भी अपनी मौलिक स्थिति में अलक्ष्य होते हैं। प्रकट रूप में वे दिखाई नहीं देते। फलों और वनस्पतियों का निष्पन्न रस अपने उपकरणों से पृथक एक प्रत्याहार है। इस निष्पन्न रस में भी तत्वों का साम्य होता है। किन्तु भौतिक अवस्था में उपकरणों के साथ भी इस रस का साम्य रहता है। साम्य का यह अधिक व्यापक रूप भी फल फूलों और वनस्पतियों के सौन्दर्य का पोषण करता है। वनस्पतियों में साम्य की यह व्यापकता काव्य के ही समान है। इसीलिए विधाता को कवि और सृष्टि को उसका काव्य कहते है।

इस व्यापक साम्य में रस का स्वरूप अधिक अलक्ष्य बन जाता है। रस की यह अलक्ष्यता चर्वणा के व्यापार को सार्थक बनाती है तथा उसकी सृजनात्मक सक्रियता में रस की सरलता चरितार्थ होती है। ऐन्द्रिक और मनोगत रस भी इस दृष्टि से अलक्ष्य होते है कि वे स्थूल रूप में प्रकट नहीं किए जा सकते। उनका अनुभव आत्मगत और अनिर्वचनीय होता है। प्राय सभी के अनुभव समान होते है। अत उनका संकेत किया जा सकता है किन्तु वस्तुत शब्द उनके संकेत मात्र हैं। स्थूल पदार्थों की भांति रस का अभिधान नहीं हो सकता। लक्षणा के द्वारा भी रस का निर्वचन सम्भव नहीं है। इसीलिए काव्य शास्त्र में रस को व्यंग्य मानते है। व्यंजना शक्ति एक अतिरिक्त भाव का गूढ़ संकेत करती है। रस की इस व्यंजना में कवि की सृजनात्मक शक्ति भी अधिक सक्रिय होती है। पाठकों की कल्पना भी उससे अधिक प्रेरित होती है। व्यंजना का ग्रहण और रस का आस्वादन उन्हें भी अधिक सक्रिय बनाता है। अतएव रस की अलक्ष्यता काव्य के सृजनात्मक व्यापार को सार्थक बनाकर सौन्दर्य और आनन्द की सृष्टि करती है। भौतिक रसों के सम्बन्ध में भी यह सत्य है। स्फूर्ति के अतिरिक्त सृजनात्मक क्रियाओं की समृद्धि साम्य और तद्गत सौन्दर्य को

वृद्धि भी करती है। फला के तद्गत रस भी शरीर के साथ विस्तृत साम्य मे समाहित होकर ही सौन्दय की सृष्टि करत हैं। जल और पृथिवी के रसो के सम्बन्ध म भी यह सत्य है। वे वनस्पतियो के साथ विस्तृत साम्य म सौन्दर्य का सृजन करत हैं। जीवन म रस की अलक्ष्यता उसे स्पृहणीय और साम्य से सम्पन्न बनाती है। काव्य के रस मे इस साम्य का विस्तार अधिक होता है। इस विस्तार म काव्य का सौन्दय समद्ध होता है। व्यजना का सृजनात्मक व्यापार इस साम्य मे सक्रियता की स्फूर्ति के ज्वार भरता है। ये ज्वार काव्य मे कलाधर की पूर्णिमा के उल्लास हैं। कदाचित् सबसे अधिक अलक्ष्य, अत सबसे अधिक सजनात्मक और साम्यपूण, होने के कारण अध्यात्म का ब्रह्मान द सबसे अधिक श्रेष्ठ होता है।

—∞—

अध्याय–४

रस की त्रिवेणी

पिछले अध्यायो मे रस के विविध रूपो और अर्थों का विवरण दिया गया है। 'रस का प्रयोग केवल काव्य तक ही सीमित नही है। रस शब्द का प्रयोग भाषा के व्यवहार मे बहुत व्यापक रूप म होता हैं। रस के अनेक रूप है और रस पद का प्रयोग विविध अर्थों म होता है। रस के इन अनेक रूपो के लक्षण भी पूणत समान नही है। प्रियता साम्य, स्फूर्ति आदि के कुछ लक्षणो म रस के सभी रूप प्राय समान है। किन्तु रस के विविध रूपो के कुछ लक्षणो म असमानता भी है। 'रस' पद का प्रयोग व्यापक होने के कारण सम्भवत इस व्यापक भूमिका म काव्यगत रस का निरूपण भी अधिक सूक्ष्म और सगत रूप म हो सके। रस के अनेक रूपा, अर्थों और लक्षणो की परस्पर तुलना से रस क अनेक पक्ष एव तत्व प्रकाशित होते हैं। इस सूक्ष्म विश्लेपण स यह अधिक यथा यता के साथ निश्चित किया जा सकता है कि काव्यगत रस के प्रसग मे इनम कौनसे पक्ष और तथ्य घटित होते हैं तथा रस के किन तत्वो को काव्यगत रस का अग बनाना उचित नही है। रस के विभिन्न रूपो के यथेष्ट विश्लेपण के अभाव म का॒य शास्त्रा की रस मीमासा मे कुछ भ्रा तिया हुई है जिनका निराकरण उचित विश्लेपण के द्वारा हो सकता है। उदाहरण के लिये एक सकेत पर्याप्त होगा कि लौकिक अथवा प्राकृतिक रस और आध्यात्मिक रस के साथ काव्यगत रस का विवेक का॒य शास्त्रा म यथोचित रूप स नही किया गया हैं। जिन अगो क सयोग से काव्य का रस निष्पन्न होता है उनका विस्तत विवेचन काव्य शास्त्रो म अवश्य मिलता है। कि तु का॒व्यगत रस का स्वरूप क्या है और उसके अ तगत किन किन भावा अथवा तत्वो का समावेश है, इसका विवेचन काव्य शास्त्रो म नही मिलता। रस के विविध रूपो के साथ तुलना के द्वारा काव्यगत रस के निरूपण का प्रयत्न कदाचित् नही किया गया हैं। सम्भवत इस व्यापक

भूमिका मे काव्यगत रस का निरूपण अधिक समीचीन और सम्यक रूप से हो सकेगा।

इस व्यापक भूमिका मे रस के जिन विविध रूपो का निदर्शन किया गया है उन्हे सबसे पहले लौकिक और अलौकिक दो भागो मे विभाजित किया गया है। आध्यात्मिक रस अलौकिक है। उसके अनेक लक्षण लौकिक रसो से भिन्न है। लौकिक रसो को जिन दो भागो मे विभाजित किया गया है उन्हे भौतिक और अनुभवगत रसो का नाम दिया गया है। भौतिक रस के अन्तर्गत फलो, वनस्पतियो आदि के वस्तुगत रस हैं जिनकी रसवत्ता अपने स्वरूप मे ही निहित है। इनकी यह रसवत्ता सचेतन आस्वादन पर आवश्यक रूप से निर्भर नही है। अनुभवगत रस वे हैं जिनकी रसवत्ता मनुष्य के सचेतन अनुभव पर आश्रित हैं। चेतना का यह आश्रय सब मे समान है यद्यपि चेतना का रूप इन सब मे समान नही हैं। इन सब रसो मे आश्रय कारण माध्यम प्रवृत्ति आदि के आधार पर अनेक विशेषतायें अथवा विभिन्नतायें खोजी जा सकती है। इन विभिन्नताओं के आधार पर इनके ऐन्द्रिक, मानसिक बौद्धिक और सांस्कृतिक रसो के रूप मे चार भेद किये गये है। ये चारो ही रस अनुभवगत एवं लौकिक है। अनुभव की प्रियता और स्पृहणीयता मे ही इनकी रसवत्ता निहित है। साधारण रूप से लोक जीवन मे लभ्य होने के कारण इन्हे लौकिक कहा जा सकता है। [illegible] रूप से अनुभवगत इन रसो के लक्षण और उपकरण भिन्न हैं।

बौद्धिक रस का अधिक विवेचन हमे अभीष्ट नही है। [illegible] प्रसिद्ध होने के कारण कुछ लोगो को उसकी रसवत्ता [illegible] हो। सकती है दूसरे सभी दर्शनो मे बुद्धि की स्थिति [illegible] दर्शन सांख्य के अनुरूप बुद्धि को अहंकार से ऊपर मानते है [illegible] बौद्धिक रस निर्वैयक्तिक होगा तथा इस दृष्टि से [illegible] कुछ दर्शनो में शैवदर्शन के अनुरूप अहंकार को बुद्धि से [illegible] अहंकार लौकिक और व्यक्तिगत अहंकार नहीं है [illegible] है जो परशिव के अत्यन्त निकट है। न्याय [illegible] को व्यक्ति की निश्चयात्मिका शक्ति मानते हैं। [illegible] युक्त हो सकती है। बुद्धि के सम्बन्ध मे [illegible]

सत्व की प्रधानता माननी होगी और शा त रस के अनुरूप एक सात्विक रस व सम्भावना उसमें कल्पनीय है। इस दृष्टि स बौद्धिक रस की स्थिति इ द्रिया भ्रौ मन के पूणत प्राकृतिक रस तथा कला और का य के सास्कृतिक रस के बीच मानी जा सकती है। एक प्रकार से उसे सास्कृतिक और आध्यात्मिक रस क बीच मान सकत है। पहली स्थिति का आधार यह ह कि बौद्धिक रस की सात्विकता मे इ द्रिया और मन के अधिकाश प्राकृतिक अवलम्ब छूट जात हैं। दूसरी स्थिति का आधार यह है कि बुद्धि की निर्वैयक्तिकता उसे आत्मा के निकट ले आती हैं। आन द के उल्लास के अतिरिक्त दोना में अ य काई भेद खोजना कठिन है। यदि अ य कोई भेद सम्भव हो सकता है तो वह यही है कि बुद्धि के अत्य त उत्कष मे भी सूक्ष्म प्रत्ययो के अवच्छेद शेप रह जात है जिस प्रकार काव्य के रस में (काव्य शास्त्र के अनुसार) आत्मान द के अनुरूप होते हुए भी रति आदि के अवच्छेदक रहते है।

मन और इ द्रियो के रस बौद्धिक और काव्यगत रसा की अपेक्षा अधि प्राकृतिक है। इनमें प्राकृतिक उपकरणो के अवलम्ब अधिक है। इसक अतिरिक्त इन रसो की प्रक्रिया में भी प्रकृति की गति की प्रधानता होती है। प्रकृति एक स्वत त्र और वाह्य सत्ता है। प्रकृति की स्वत त्रता का आशय यह है कि वह मनुष्य के शासन म नही है। विनाना के विकास के प्रसग म कहा जाता है कि मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त कर रहा है। कि तु वस्तुत विनानो का विकास केवल प्रकृति का उपयोग है उसका शासन नही। प्रकृति का शासन स्वत त्र है। वह सदा अपन नियमा के अनुसार चलती है। विनाना का विकास भी इ ही नियमो के अनुसार होता है।

मनुष्य एक ओर आत्मा का उत्तराधिकारी होते हुए भी दूसरी ओर प्रकृति का पुत्र है। उसका शरीर मन इ द्रियाँ आदि प्रकृति के ही तत्वो से निर्मित हैं। त मनुष्य के जीवन की बहुत कुछ प्रक्रिया प्रकृत के नियमा क अनुसार चलती । मन और इ द्रियो के रस की प्रक्रिया भी इस दृष्टि स प्राकृतिक है। इसमें नुष्य की स्वत त्रता का अधिक अधिकार नही है। मनुष्य मे स्वत त्रता का धार मुख्यत चेतना ही है। इस चेतना की विवशता नान की उदासीनता मे दित हाती है। सकल्प म चेतना की स्वत त्रता का कुछ अधिक उत्कृष्ट रू

दिखाई देता है इसी उत्कृष्टता के कारण शैव दर्शनों में इच्छाशक्ति की इतनी महिमा है। यह संकल्प अथवा इच्छा प्रकृति की विवशता से जितनी मुक्त होती है, वह उतनी ही अधिक स्वतन्त्र और महनीय है। स्वतन्त्रता की इस महिमा में इसके स्वरूप का विकास आत्मा की ओर होता है। प्रकृति के उपकरण शेष रहते हुए भी तथा उनकी प्रक्रिया प्रकृति के नियमों के अनुसार होते हुये भी प्रकृति का परिग्रह आत्मा के अनुरूप होता है। प्रकृति के नियमों में तो कदाचित आत्मा का अधिकार नहीं है किन्तु प्रकृति के परिग्रह में आत्मा किसी सीमा तक स्वतन्त्र है। आत्मा को प्राप्त यह परिग्रह की स्वतन्त्रता ही प्रकृति और आत्मा दोनों की स्वतन्त्रता का सामंजस्य सम्भव बनाती है। कला काव्य आदि के सांस्कृतिक रसों में यह सामंजस्य साकार होता है। इस प्रकार कला और काव्य का सांस्कृतिक रस प्रकृति और आत्मा का सामंजस्य है तथा दोनों के लक्षणों का साम्य है। इस साम्य के स्वरूप का अधिक विवेचन आगे किया जायगा। प्रकृति और आत्मा के स्वरूप तथा प्राकृतिक एवं आध्यात्मिक रसों के लक्षणों के पर्याप्त विवेचन के बाद ही इस साम्य का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो सकेगा। यदि हम भौतिक और बौद्धिक रसों को छोड़ दें तो शेष अनुभवगत रसों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है। मन और इन्द्रियों के रसों को हम प्राकृतिक रस कह सकते हैं, क्योंकि उनमें प्रकृति के उपकरणों, लक्षणों, नियमों आदि की प्रधानता होती है। आत्मा का रस अलौकिक और आध्यात्मिक रस है ऐसा अनेक बार कहा जा चुका है। इनसे भिन्न कला और काव्य के रस को हम 'सांस्कृतिक रस' कह सकते हैं। इस रस के स्वरूप और लक्षणों का निरूपण करने के लिये संस्कृति के स्वरूप को प्रकाशित करना होगा। संस्कृति के निरूपण के लिये प्रकृति और अध्यात्म के स्वरूप से उसका विवेक करना होगा। प्राकृतिक और आध्यात्मिक रसों के विवरण के लिये भी प्रकृति और अध्यात्म के स्वरूपों को स्पष्ट करना होगा।

इस प्रकार रस का यह विवेचन त्रिवेणी के प्रवाह के अनुरूप होगा। भौतिक और बौद्धिक रस को छोड़ देने के बाद जो अनुभवगत रस शेष रह जाते हैं उनका वर्गीकरण इस प्रकार होगा—मन और इन्द्रियों के रस 'प्राकृतिक रस' की कोटि में होंगे। आत्मा का अलौकिक रस आध्यात्मिक रस कहा जा सकता है। कला और काव्य का रस 'सांस्कृतिक रस' की कोटि में रहेगा। प्राकृतिक रस का मधुर और गम्भीर प्रवाह यमुना के समान है। आध्यात्मिक रस की प्रसन्न

रस के मनोवैज्ञानिक अध्ययन हुए हैं। प्राय सभी आचार्य इसी भ्रम में रहे हैं कि रस का एक ही रूप है जिसका अनुभव नाटक अथवा काव्य के मूल पात्र करते हैं। वे यह कल्पना नहीं कर सके हैं कि रस अनेक प्रकार का होता है तथा मूल-पात्रों और सामाजिकों का रसास्वादन एक समान नहीं होता। उपनिषदों के आध्यात्मिक रस के साथ भी वे काव्यगत रस की संगति का निदर्शन नहीं कर सके। इन सब भ्रांतियों का कारण उनकी वही मौलिक मान्यता है कि रस एक ही होता है और मूल पात्र नट, सामाजिक आदि सब एक ही रूप में उसका आस्वादन करते हैं। इसी मान्यता के समर्थन के लिये साधारणीकरण आदि सिद्धान्तों का उद्भव हुआ। प्रकृति संस्कृति और अध्यात्म के लक्षणों में स्पष्ट विवेक न हो सकने के कारण शास्त्र में रस विवेचन में ये भ्रांतियां पलती रहीं। काव्य शास्त्र की रस सम्बन्धी मान्यताओं से प्रसूत समस्याओं का विवेचन और पिष्टपेषण तो आलोचना की परम्परा में बहुत होता रहा है। किन्तु किसी भी आचार्य ने इन मौलिक मान्यताओं के सम्बन्ध में सन्देह करके रस विवेचन की नई दिशा का संकेत नहीं किया। न तो रस के विभिन्न रूपों का भेद प्रखरता से प्रस्तुत किया जा सका और न काव्यगत रस के स्वरूप का ही सम्यक् निरूपण हो सका। प्राकृतिक आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रस की त्रिवेणी में अवगाहन के द्वारा सम्भवतः प्रस्तुत रस मीमांसा के प्रणेता को कुछ अपूर्व पुण्य का लाभ हो सके।

रस की इस त्रिवेणी में ऐन्द्रिक और मानसिक रसों को 'प्राकृतिक रस' कहा गया है। इसका कारण यह है कि इन रसों के उपकरण नियम और तत्व प्राकृतिक होते हैं। ऐन्द्रिक रसों से अभिप्राय उन ऐन्द्रिक सम्वेदनाओं से है जो प्रिय और स्पृहणीय होती हैं। मानसिक रस के अन्तर्गत मानसिक आवेग अथवा संवेग हैं। काव्य शास्त्र में स्वीकृत मुख्य रस मानसिक रस के ही अनुरूप हैं। उनके स्थायी भाव, अनुभाव आदि मानसिक संवेगों के समान होते हैं। ऐन्द्रिक सम्वेदनाओं में चाहे आवेग न हो किन्तु प्रिय और स्पृहणीय अनुभव के कारण उन्हें रस के अन्तर्गत मानना अनुचित नहीं है। रसमयी ऐन्द्रिक सम्वेदनायें मानसिक रसों का अंग भी बन सकती हैं। किन्तु उनका स्वतन्त्र अस्तित्व भी है। ऐन्द्रिक और मानसिक दोनों ही प्रकार के रसों में प्रकृति का प्रमुख प्रधान होता है। इसीलिये इन्हें प्राकृतिक रस कहा गया है। प्रकृति के उपकरण, नियम और

तत्व इनम समान रूप से पाये जाते हैं। रस के सामान्य लक्षण इनम भी मिलते हैं। किन्तु इन लक्षणों का सामान्य रूप इन रसो मे प्राकृतिक परिधान म ही व्यक्त होता है। ऊपर सकेत किया जा चुका है कि प्रकृति एक बाह्य और स्वतन्त्र सत्ता है। मनुष्य का उस पर अधिकार नही है। मनुष्य के शरीर के रूप म वह उसकी जीवन साधना का पीठ बन गई है। किन्तु इस रूप म भी उसका सचालन अपने नियमो के अनुसार ही होता है। वस्तुत प्राकृतिक रसों की निष्पत्ति प्रकृति की प्रक्रियाओ पर ही निभर होती है। ये प्रक्रियायें मनुष्य के आधीन नही हैं अत एक दृष्टि से प्राकृतिक रस का आस्वादन मनुष्य की विवशता है। आस्वादन की तीव्र कामना मे वह इस विवशता का अनुभव एक परवश प्रेरणा के रूप म करता है। शरीर और उसकी प्रवृतिया के रूप म प्रकृति मनुष्य के अस्तित्व के साथ एकाकार हो गई है। अत वह रस के आस्वादन और उसकी कामना दोनो को अपना स्वभाव मानता है तथा इस प्रकार विवशता म भी कुछ स्वतन्त्रता का आभास पा जाता है दशना के अनुसार यह आभास शरीर मे अहकार के अध्यास पर निभर है। मनुष्य की आत्मगत चेतना लौकिक ज्ञान म भी परवश दिखाई देती है। सकल्प द्वारा प्रकृति के त्याग अथवा उसके साथ सामजस्य म ही इस चेतना का स्वातन्त्र्य कुछ प्रकट होता है। प्राकृतिक रसो के आस्वादन मे यह चेतना प्रकृति की अनुगामिनी बन कर इस अनुगमन मे ही अपनी स्वतन्त्रता मानती है। अहकार का यह अध्यास ही प्राकृतिक रसो का मूल रहस्य है। अध्यात्म मे इस अध्यास का निरास हो जाने के कारण ही प्राकृतिक रस नीरस हो जाते हैं और साधक वीतराग बन जाता है।

अस्तु प्राकृतिक रस प्रकृति के बाह्य उपकरणो, नियमो और तत्वो पर निभर हैं। ऐन्द्रिक रसो मे ये उपकरण प्रकृति के नियमो के अनुसार रसमयी सम्वेदना का उत्तेजन करते है। मानसिक रसो के असाधारण विकार और आवेग भी इन्ही के द्वारा प्रेरित होते है। काल, अहकार आदि के अन्य प्राकृतिक तत्व भी प्राकृतिक रसो के महत्वपूण अग हैं। प्राकृतिक रसो की निष्पत्ति और उनका प्रसार काल के अन्तगत होते ह। उनके आस्वादन की अवधि प्राय अल्प होती है। स्मृति मे केवल उनके सस्कार शेष रह जाते है जो उनकी पुन कामना के कारण बनते हैं। किन्तु सास्कृतिक और आध्यात्मिक रसो की भाति प्राकृतिक रसो का रसात्मक तत्व स्मृति मे सजग नही रहता। अहकार

की इकाई प्राकृतिक रसा की अनुभूति का केन्द्र है। इस दृष्टि से प्राकृतिक रसो को स्वाथमय कहा जा सकता है। दशन की भाषा म प्रकृति के य उपकरण प्राकृतिक रसो के अवच्छेदक कहे जा सकते हैं। य प्राकृतिक रसो का व्यक्ति काल, सम्बन्ध आदि अनक दृष्टिया से सीमित बनाते हैं। यद्यपि किसी सीमा तक प्राकृतिक रस का आस्वादन भी मन और इन्द्रियो की क्रिया पर निभर होन के कारण सक्रिय कहा जा सकता है फिर भी दूसरी ओर यह क्रिया बाह्य कारणा पर निभर होती है। य बाह्य करण रस के उत्तेजक कहे जा सकते हैं। य कारण निमित्त मात्र नही हैं वरन् रस के स्वरूप का भी निधारित करते हैं।

प्राकृतिक रसो के अनेक रूप हैं और वे कारणो की प्रकृति से नियमित हैं। अत प्राकृतिक रसो के आस्वादन मे कुछ सक्रियता होते हुए भी इस सक्रियता की स्वत त्रता बहुत सीमित है। रसास्वादन की क्रिया का बहुत कुछ अश प्राकृतिक प्रक्रिया कहा जा सकता है। प्राकृतिक रसास्वादन की सक्रियता बहुत कुछ ज्ञान कोटि की है जिसमे व्यक्ति की चेतना विधायक की अपेक्षा ग्राहक अधिक होती है। सकल्प कोटि की सृजनात्मक अथवा विधायक सक्रियता प्राकृतिक रसा मे बहुत कम होती है। ऐन्द्रिक रसो म स्वतत्रता और सक्रियता का परिमाण सबसे कम होता है। मानसिक रसा म यह परिमाण ऐन्द्रिक रसो की अपेक्षा अधिक होता है। ऐन्द्रिक रसा की कारणनिष्ठता अधिक तथा सकल्पात्मक स्वतत्रता कम होने के कारण उनका स्वरूप बहुत अधिक सामान्य होता है। मधुरता, लवणता मृदुलता आदि की सरस सम्वेदनाओ का स्वरूप और उनकी प्रियता प्राय सबके लिये समान होती है। इनमे व्यक्तिगत भेद कम और सामान्य लक्षण अधिक होता है। हप, प्रेम उत्साह आदि के मानसिक रसो मे व्यक्ति की सकल्पात्मक स्वत त्रता ऐन्द्रिक रसो की अपेक्षा अधिक होती है। इसीलिये इनके सम्बन्ध म विभिन्न व्यक्तियो की प्रतिक्रियाओ मे बहुत भिन्नता होती है। विभिन्न व्यक्तियो की मानसिक प्रतिक्रियाओ मे इतनी समानता नही मिलती जितनी कि ऐन्द्रिक रसो म मिलती है। कला और काव्य के सास्कृतिक रस मे सकल्पात्मक स्वतन्त्रता एव सक्रियता मानसिक रसो से भी अधिक होती है। इसीलिये विभिन्न व्यक्तियो के काव्य-रसास्वादन मे भिन्नता अधिक होती है। स्वत त्रता और सक्रियता की अधिकता काव्यगत रस की एक यह ही विशेषता है। इसका अधिक विवरण आगे चलकर

किया जायगा। काम के रस मे यह सक्रियता और स्वतन्त्रता अन्य संवेदनाओं की अपेक्षा अधिक होने के कारण ही उसका आनन्द अधिक होता है।

काल की दृष्टि से प्राकृतिक रसो की अवधि बहुत अल्प होती है। इन्द्रियों की सम्वेदना तात्कालिक होती है। मन के सुखमय आवेग भी अधिक देर नही ठहरते यद्यपि वे ऐन्द्रिक सम्वेदनाओ की अपेक्षा अधिक स्थायी होते हैं। ऐन्द्रिक सम्वेदना की निरन्तरता सम्वेदना के स्थायित्व के कारण नही वरन् उत्तेजना की आवृत्ति के कारण बनी रहती है। ऐन्द्रिक सम्वेदना की इस आवृत्ति जन्य निरन्तरता की अवधि भी बहुत सीमित होती है। किन्तु उसकी यह काल गत सीमा ही ऐन्द्रिक सम्वेदनाओ का सौन्दर्य है। यह सीमा सम्वेदनाओं की विविधता को अवकाश देती है। इस विविधता में प्राकृतिक जीवन का रस और सौन्दर्य अधिक सम्पन्न बनता है। ऐन्द्रिक रसो मे जहा विभिन्न व्यक्तियो द्वारा एक रस के आस्वादन मे सामान्यता अधिक होती है वहा दूसरी ओर रसो की अनेकता उसमे विविधता उत्पन्न करती है। इस विविधता के सौन्दर्य के आधार पर अनेक प्रकार की सम्वेदनायें हमारे प्राकृतिक जीवन मे क्रमगति से व्याप्त होकर उसे रसमय बनाती है। स्वतन्त्रता और सनियता कम होते हुए भी विविधता सम्वेदना के सौन्दर्य को समृद्ध बनाती है।

मन के क्षेत्र मे ऐसी विविधता नही है जैसी ऐन्द्रिक क्षेत्र मे मिलती है। मन एक है और इन्द्रिया अनेक हैं। ऐन्द्रिक सम्वेदना कारणनिष्ठ होती है। ये कारण स्वरूपत भिन्न है और इनकी ग्राहक इन्द्रिया भी भिन्न है। अत ऐन्द्रिक रसो की विविधता वास्तविक और विविक्त है। मन के भाव कारण की अपेक्षा मन पर अधिक निर्भर करते है। भिन्न कारणो से समान कारणो से भिन्न भाव उत्पन्न होते हैं। अत मनोभावो की विविधता वस्तुगत न होकर आत्मगत अधिक है। हर्ष, प्रेम उत्साह आशा आदि मनोभावो के कारण तथा उपकरण अनेक हो सकते हैं। किन्तु उपकरणो के भेद ऐन्द्रिक रसो मे जितनी विविधता उत्पन्न करते है उतनी विविधता वे मानसिक रसों मे उत्पन्न नही करते। इसका कारण यह है कि ऐन्द्रिक सम्वेदनाओ मे संकल्प की स्वतन्त्रता कम होने के कारण प्रकृति के साथ इन्द्रियों का समवाय अधिक है। मन इन्द्रियो से अधिक स्वतन्त्र है। मानसिक रसो मे संकल्प की स्वतन्त्रता अधिक होने के कारण आन्तरिक

विविधता अधिक होती है। ऐंद्रिक रसों में इस विविधता का आधार उपकरणों की विविधता है। मानसिक रसों में विविधता का आधार उपकरण नहीं वरन् व्यक्तियों की प्रतिक्रिया का भेद है। अनेक उपकरण समान मनोभाव उत्पन्न करते हैं। अतः उपकरणों का प्राकृतिक भेद मनोभावों की विविधता में उपकारक नहीं होता। मनोभावों की विविधता अथवा एक मनोभाव की विविधरूपता का आधार व्यक्तिगत अथवा आत्मगत है। इसी कारण विभिन्न व्यक्तियों की सम्वेदनाओं में बहुत समानता होती है। किन्तु उनके मनोभावों में व्यक्तिगत भेद सम्वेदनाओं की अपेक्षा अधिक होता है। यद्यपि मनोभाव भी सम्वेदनाओं के समान बाह्य कारणों पर निर्भर होते हैं किन्तु वे कारण मनोभावों के निमित्त मात्र होते हैं। *सम्वेदनाओं की भांति उनके विधायक अंग नहीं होते।*

इन कारणों से अपेक्षाकृत स्वतन्त्र होने के कारण मनोभावों में सम्वेदनाओं की अपेक्षा अधिक स्थायित्व होता है। उनकी कालगत अवधि सम्वेदनाओं से अधिक होती है। मन की स्वतन्त्र संकल्प शक्ति अपनी स्वच्छन्द प्रक्रिया द्वारा मनोभाव को बनाये रखती है। मनोभाव की आवेगपूर्ण स्थिति बहुत अधिक काल तक नहीं रह सकती किन्तु उनके शान्त संस्कार बहुत अधिक समय तक बने रहते हैं। मनोभावों के इन संस्कारों में रस का तत्व सम्वेदनाओं के संस्कारों की अपेक्षा अधिक होता है। सम्वेदनाओं के संस्कार भी मन का अवलम्ब लेकर ही आवृत्ति की प्रेरणा बनते हैं। किन्तु आवृत्ति ही इस बात की सूचक है कि सम्वेदना के संस्कार स्वयं अपने स्वरूप में रसमय नहीं होते। मनोभावों के संस्कार अपने स्वरूप में ही रसमय होते हैं। अतएव वे आवृत्ति की अपेक्षा नहीं रखते। जहां सम्वेदना के रस की अवधि आवृत्ति की निरन्तरता पर निर्भर है वहां मनोभावों के संस्कार आवृत्ति के बिना अपने स्वरूप में ही अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होते हैं।

सम्वेदना और मनोभावों में एक और अन्तर है कि सम्वेदना का रस कालक्रम में क्षीण होता जाता है। यह क्षीणता सम्वेदना और उसके संस्कार दोनों का लक्षण है। सम्वेदना का बाह्य कारण अधिक काल तक उपस्थित रहने और अधिक काल तक सम्पर्क रहने पर भी सम्वेदना क्रमशः क्षीण होती जाती है। सम्वेदना के संस्कार भी काल क्रम से क्षीण होते जाते हैं। वस्तुतः बाह्य कारण पर

आश्रित और कालक्रम मे क्षीयमाण रस को आवृत्ति के द्वारा पोषित करने के लिये ही सम्वेदना आवृत्ति की अपेक्षा रखती है। मनोभाव और उसके संस्कार इतनी शीघ्रता से क्षीण नही होते। मनोभावो का प्रत्यक्ष आवेग और रूप मन्द हो जाने पर भी उनके संस्कारो मे रस की अन्तर्धारा प्रवाहित रहती है। मनोभावो के रसास्वादन का कौशल रस की इस अन्तर्धारा को प्रवाहित रखने में ही है।

मन के स्वतन्त्र सकल्प के द्वारा यह सरलता से सम्भव है। बाह्य कारणों के विपरीत निमित्त प्राय इस सम्भावना मे बाधक होते हैं। किन्तु मनोभावों के रस की उत्पत्ति और इस बाधा के अन्तराल मे हम रस की समृद्धि का भी अनुभव करते हैं। मन की सकल्प शक्ति अन्य उपकरणो का भावक्षेत्र मे समावेश करके उन्हे रस से अर्चित करती हैं। रस की इस समृद्धि से विरोधी कारणों का प्रभाव मन्द हो जाता है और अनुकूल साधन अपनी सामर्थ्य से अधिक योग देकर रस को समृद्ध बनाते है। यह मन की स्वतन्त्र सकल्प शक्ति के द्वारा ही होता है जिसे स्मृति और कल्पना का नाम दिया जा सकता है। वस्तुत स्मृति और कल्पना इस शक्ति के दो सहयोगी रूप हैं जो भूत और भविष्य दोनो दिशाओं मे काल की अवधि का विस्तार करके मानसिक रस को अधिक सम्पन्न और अधिक स्थायी बनाते है। काव्य का रस मानसिक रस से पूर्णत अभिन्न नहीं है। किन्तु काव्य के रस मे मन का योग इन्द्रियो से अधिक रहता है। अत मानसिक रस के स्वरूप का यह विश्लेषण काव्यगत रस के निरूपण मे उपकारक होगा।

अहकार प्रकृति का सर्वोत्कृष्ट रूप है। अहकार मे केन्द्रित होकर ही जीव प्रकृति के रूप सगठित हुए हैं। अहकार इस सगठन के आकर्षण का केन्द्र है। प्राकृतिक सत्ता की व्यक्तिगत इकाई सचेतन होकर अहकार का रूप ग्रहण करती है। यह कह सकते हैं कि अहकार चेतना का इस इकाई मे अवच्छिन्न रूप है। प्राकृतिक सत्ता की इकाइयो का सगठन अचेतन और सचेतन दोनो ही रूपो में अनेकता तथा पृथकत्व उत्पन्न करता है। अहकार को स्वार्थमय मानते हैं। स्वार्थ का अर्थ कर्म अथवा प्रक्रिया का वह रूप है जो केवल इकाई के लिए ही उपकारक होता है। इकाई का सगठन एक ओर स्वार्थ का फल है तथा दूसरी

ग्रौर उसका कारण भी हैं। प्रकृति की स्वाथ गति से ही सगठन सम्भव होता हैं ग्रौर स्वाथ से ही इस सगठन की रक्षा होती है।

वनस्पतियो मे यह स्वाथ की प्रवृत्ति अचेतन रूप मे वतमान रहती है। पशुग्रा ग्रौर मनुष्या म वह क्रमश अधिक सचेतन होती जाती है। मनुष्य की प्राकृतिक प्रक्रियाग्रो म यह ग्रहकार सवत्र ग्रनुस्यूत रहता है, यद्यपि उसका ग्रनुरोध सवत्र समान नहीं रहता। शरीर की सकल्परहित प्रक्रियाग्रो मे यह ग्रनुरोध सबसे ग्रधिक है। इद्रियो की सम्वेदनाग्रो म यह उसकी ग्रपेक्षा कम कितु मनोभावों की ग्रपक्षा ग्रधिक है। सम्वदनायें ग्रल्प स्थायी होती हैं। इसलिये शरीर ग्रौर इद्रियो का स्वाथ प्राकतिक हित के लिये मन का ग्रवलम्ब ग्रहण करता है। मन के भाव ग्रौर सस्कार ग्रधिक स्थायी होत हैं। ग्रत मन की भूमि म यह ग्रहकार ग्रधिक रूढ बन जाता है। मन भी प्राकतिक है ग्रौर मन के भाव भी प्राकतिक कारणो से प्रेरित होते है। ग्रत मनोभावा मे भी ग्रहकार का मूल रहता है। शरीर, इद्रियाँ ग्रौर मन तीनो का ग्रहकार मन मे केंद्रित होकर प्रबल बन जाता है। कि तु मन का क्षेत्र शरीर ग्रौर इद्रिया की ग्रपक्षा ग्रधिक उदार है। ग्रत ग्रहकारो के सामजस्य की भूमिका भी मन की भूमि पर ही बनती है। हम दखते हैं कि ग्रहकारा के साम्य से मनोभाव ग्रधिक समृद्ध होत हैं। काम के रस मे भी ग्रहकारा का सामजस्य समृद्धि का कारण बनता है ग्रौर काम की 'मनसिज' सज्ञा को साथक बनाता है।

चवणा, स्फूर्ति, साम्य, व्यजना ग्रादि रस के ऐसे सामान्य लक्षण हैं जो सभी रसो मे पाये जात हैं, यद्यपि सभी रसो मे इनका रूप एकसा नही रहता। भिन्न भिन्न रसो मे इन लक्षणो का रूप उन रसो के स्वरूप, उनकी परिस्थिति, प्रक्रिया ग्रादि पर निभर रहता है। चवणा रस के निष्पादन की प्रक्रिया है जिसकी सजनात्मक सक्रियता रस को निष्पन्न करने के साथ साथ उसके ग्रास्वादन को तीव्र बनाती है। 'स्फूर्ति' रस की चवणा ग्रौर उसके ग्रास्वादन का फल हैं। रस के प्रभाव से शरीर ग्रौर मन मे ऊर्जा की ग्रभिवृद्धि ही स्फूर्ति कहलाती है। साम्य का ग्रभिप्राय ग्रनेक तत्वो के सामजस्य से है। यह सामजस्य रस का महत्वपूण लक्षण है जो ऐद्रिक रस से लेकर ग्राध्यात्मिक रस तक पाया जाता है। व्यजना ग्रभिव्यक्ति का ऐसा प्रकार है जिसके द्वारा एक ग्रलक्ष्य तत्व का सकेत होता है।

यह अलक्ष्यता भी सभी रसो म मिलती है। जिस प्रकार फलो और वनस्पतियों के रस उनके आकारो म रमे रहते हैं और उनका लक्षित करना कठिन होता है उसी प्रकार इन्द्रियो, मन आदि के रस उनमे रम जाते हैं। इन अनुभवगत रसो का अभिधान नही हो सकता। आस्वादन स ही इनका अनुभव किया जा सकता है तथा इनका सकेत व्यजना के द्वारा हो सकता है।

कारण, काल, अहकार आदि के समान रसो के विभिन्न रूपो म चवणा स्फूर्ति, साम्य आदि का भी अन्तर होता है। ऐन्द्रिक रसो की चवणा इन्द्रियो की स्थूल क्रिया होती है जो उत्तेजना की आवृत्ति के द्वारा रस का प्रस्तार करती है। ऐन्द्रिक रस और उसकी चवणा की अवधि क्रियाकाल तक ही सीमित है और यह क्रिया बाह्य उपकरण के सम्पक पर निभर है। मानसिक रस म, यद्यपि बाह्य उपकरण का निमित्त अपक्षित होता है किन्तु उसकी चवणा और स्फूर्ति मन की अपेक्षा कुछ स्वतन्त्र क्रिया पर निभर रहती है। इसीलिये मानसिक रस की चवणा और स्फूर्ति कारण की दृष्टि स अधिक स्वतन्त्र और काल की दृष्टि से अधिक व्यापक हैं। मानसिक रस की चवणा और स्फूर्ति बाह्य कारण क दूर हो जाने के बाद भी बहुत काल तक बनी रहती हैं। हष, उल्लास उत्साह आदि के भावो का प्रभाव सम्वेदना की भाति शीघ्र ही विलय नही हो जाता वरन् दीर्घ काल तक बना रहना है। अधिक व्यक्तिगत भावो म भी मन के साथ अनेक स्थितियो सम्बन्ध और भावो का साम्य होता है। अत मानसिक रस का साम्य भी ऐन्द्रिक रस की अपेक्षा अधिक सम्पन्न होता है। स्वय मनुष्य के मन म उसकी व्यजना अधिक सूक्ष्म गम्भीर और रहस्यमयी होती है। दूसरो क प्रति उसकी व्यजना अभिव्यक्ति को कला और काव्य की कोटि म ले आती हैं। रस निष्पादन की सक्रियता स्फूर्ति की विपुलता साम्य की सम्पन्नता और व्यजना की गभीरता के कारण ही काम का रस ऐन्द्रिक और मानसिक रसो का एक समृद्ध समन्वय हैं। इन्ही विभूतियो के कारण वह जीवन मे अत्य त रमणीय बनता है और साथ ही साथ शृङ्गार के रूप मे काव्य मे रसराज का पद पाता है।

'रस पद का प्रयोग स्पृहणीय अनुभव के अनेक रूपो के लिये सामान्य भाव से होता है। अत रस के अनक लक्षणो का उन सब म मिलना स्वाभाविक है। किन्तु रस के ये लक्षण सवत्र एक रूप म ही नही पाये जाते। अनेक

दृष्टियो से उनमे अन्तर रहता है। रस के जो तीन मुख्य रूप ऊपर बताये गये है उनके लक्षणो मे तो बहुत अन्तर है। प्राकृतिक और आध्यात्मिक रस गगा और यमुना की शुक्ल नील धाराओ की भाति विविक्त है। सास्कृतिक रस मे दोनो का सामजस्य भी उसे दोनो से भिन्न बना देता है। इस सामजस्य का स्वरूप और लक्षण क्या है, इसका विवरण आगे करेंगे। ऐन्द्रिक और मानसिक रसो को हमने प्राकृतिक रस कहा है, इसलिये इन रसो की निष्पत्ति मुख्यत प्राकृतिक उपकरणो के आधार पर होती है। कारण, काल अहकार आदि प्रकृति के लक्षण न्यूनाधिक कठोरता के साथ इन रसो के अवच्छेदक बनते हैं। इन अवच्छेदको की कठोरता ही प्रकृति का अपना स्वरूप है। जिन रसो मे ये अवच्छेदक जितनी अधिक कठोरता से पाये जाते हैं वे रस उतने ही अधिक प्राकृतिक हैं। पूर्णत प्राकृतिक तो किसी रस को नही कहा जा सकता। मनुष्य का व्यक्तित्व पूर्णत प्राकृतिक नही है उसमे आत्मा की सत्ता अनुस्यूत है। इन्द्रियों के सर्वाधिक सीमित, बाह्य और पराधीन रसानुभव मे भी चेतना, चवर्णा साम्य आदि के रूप मे आत्मा का प्रभाव रहता है। किन्तु प्रकृति के अवच्छेदका का प्रभाव प्रमुख और कठोर रहने के कारण एन्द्रिक रस को प्रधानत प्राकृतिक कहा गया है। मानसिक रसो मे भी प्राकृतिक अवच्छेदको का प्रभाव बहुत रहता है। यद्यपि वह एन्द्रिक रसो से कम होता है, इसीलिय मानसिक रस भी प्रधानत प्राकृतिक माना गया है। मानसिक रसो म ऐन्द्रिक सम्वेदनाओ का भी योग रहता है। काम के रस मे ऐन्द्रिक और मानसिक रसो का पर्याप्त सामजस्य होता है। किन्तु ये तीनो ही रस प्रधानत प्राकृतिक हैं। इनमे प्रकृति के अवच्छेदको का प्रभाव स्पष्ट और प्रबल रहता है। इन अवच्छेदको मे कारण काल और अहकार मुख्य हैं। प्राय तीनो प्रकार के प्राकृतिक रसो मे ये अवच्छेदक स्पष्ट और प्रबल रहते हैं। जहा इन रसा के अनुभव म भी ये अवच्छेदक स्पष्ट और प्रबल नही रहत वहा इन प्राकतिक रसा का रूप भी सास्कृतिक बन जाता है। आतिथ्य, प्रेम और सुश्रूषा मे इन तीनो प्राकृतिक रसो के सास्कृतिक रूपो के उदाहरण मिल सकत हैं। कारण का अवच्छेदक रस को परतन्त्र बनाता है। काल का अवच्छेदक उसकी अवधि को सीमित करता है। अहकार का अवच्छेदक चेतना मे रस की व्याप्ति को सीमित करता है। इन तीनो सीमाओ का जितना अधिक प्रभाव जिस रस पर होगा वह उतना ही अधिक प्राकृतिक समझा जायगा। जो रस इन अवच्छेदको के नियमन से जितना अधिक मुक्त होगा

उतना ही वह अधिक सांस्कृतिक अथवा आध्यात्मिक होगा। सांस्कृतिक रस में प्रकृति का भी सामंजस्य होता है। किन्तु आध्यात्मिक रस में उसका पूर्ण अतिक्रमण माना जा सकता है। वह स्वतन्त्र और अनन्त है। प्राकृतिक रसों में इन अवच्छेदकों का प्रभाव स्पष्ट एवं प्रखर तथा न्यूनाधिक कठोर होता है।

दर्शनों में आत्मा को पूर्णतः प्रकृति से अतीत माना जाता है। अतः आध्यात्मिक रस में प्राकृतिक लक्षणों का पूर्ण अतिक्रमण मानना होगा। आत्मा प्रकृति और उसके अवच्छेदकों से पूर्णतः अतीत है। अतः आध्यात्मिक रस भी इन अवच्छेदकों से पूर्णतः मुक्त हैं। उसमें कारण, काल, अहंकार आदि का संश्लेष नहीं होता। अतः वह स्वतन्त्र, असीम और अनन्त होता है। धार्मिक अनुसंधान की प्रत्याहार प्रक्रिया में हम बाह्य कारण का ही नहीं मनोभावों के आन्तरिक उपकरणों का भी अतिक्रमण करके आत्मा तक पहुँचते हैं। दर्शनों के विवेचन उस प्रत्याहार के बौद्धिक रूप हैं। योग की समाधि साधना में उस बौद्धिक प्रत्याहार का साक्षात् अनुवाद है। आत्मा मन और बुद्धि से भी अतीत है। मन के भाव और बुद्धि के प्रत्ययों से परे है बाह्य विषयों के बन्धन तथा मन और बुद्धि के कल्पों से अतीत होने के कारण आत्मा मुक्त और निर्विकल्प है। आत्मा को आनन्दमय भी मानते है। उपनिषदों में इस आनन्द को 'रस' भी कहा है। आत्मा के निर्विकल्प और स्वतन्त्र होने के कारण आत्मा का यह रस भी स्वतन्त्र है। यह किन्हीं आत्मेतर कारणों से नियन्त्रित नहीं है। ऐन्द्रिक अथवा मानसिक रसों की भांति वह किन्हीं बाह्य कारणों के प्रभाव द्वारा निष्पन्न नहीं होता वरन् समस्त कारणों के अभाव में ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से वह प्राकृतिक रसों से भिन्न ही नहीं वरन् उनसे विपरीत भी है। प्राकृतिक रस बाह्य कारणों के प्रभाव और उत्तेजना से उत्पन्न होते हैं। अतः उनमें बहुत कुछ परतन्त्रता रहती है। इन बाह्य कारणों के प्रभाव के साथ साथ इन्द्रियों और मन में इनके आस्वादन की प्रक्रिया भी प्राकृतिक नियमों से शासित होती है। आस्वादन के सचेतन ग्राहक के रूप में आत्मा हमारे सभी अनुभवों में अनुस्यूत रहती है। किन्तु प्राकृतिक रसों में आत्मा का योग अधिक सक्रिय नहीं होता। आत्मा की संकल्प मूलक सक्रियता ही स्वतन्त्रता का रहस्य और आनन्द का मर्म है। प्राकृतिक रस में यद्यपि आस्वादन का आनन्द मूलतः प्राकृतिक प्रक्रियाओं से नियमित है, फिर भी आत्मा के संकल्प स्वातन्त्र्य के योग से उस

भ्रानन्द की ग्रभिवृद्धि होती है। सभ्यता और संस्कृति के विकास म आत्मा के इस स्वातन्त्र्य के योग से प्राकृतिक रसों के आनन्द म बहुत अभिवृद्धि हुई है। इसी योग के कारण प्रीतिभोज के भोजन म साधारण भोजन स अधिक आनन्द आता है। शबरी के बेरो मे, विदुर के साग मे और द्रौपदी की खीर म इसी आत्मिक रस का योग था जिसने उन्हें भगवान् के भोग्य बनाया। घर और होटल के भोजन मे भी इसी सक्रियता और स्वतन्त्रता का अन्तर रहता है। अकेले के भोजन तथा बाजार के भोजन म इनका प्रभाव होता है। अत प्राकृतिक रसो का रूप वैज्ञानिक दृष्टि स तथावत रहते हुए भी उनका आनन्द अपेक्षाकृत कम होता है। आधुनिक सभ्यता के विकास म मनुष्य की सक्रियता और सकल्पमूलक आत्मिक स्वतन्त्रता का भाव कम हो रहा है। इसीलिये प्राकृतिक रसो का भी आनन्द क्रमश मन्द होता जा रहा है। मानसिक रसो मे भी सक्रियता और स्वतन्त्रता का योग उनके आनन्द की अभिवृद्धि करता है। कला और काव्य के सास्कृतिक रसो के आनन्द का बहुत कुछ रहस्य इसी सक्रियता और स्वतन्त्रता मे है। आध्यात्मिक रस मे यह सक्रियता और स्वतन्त्रता सबसे अधिक रहती है, इसीलिए वह सर्वोत्तम रस और परम आनन्द है।

काल की दृष्टि से भी आत्मिक रस प्राकृतिक रस से अत्यन्त भिन्न है। ऐन्द्रिक रसों की अवधि तो सम्पर्क पर्यन्त ही होती है। जब तक विषय का सम्पर्क रहता है तब तक रस का आस्वादन होता है। इस सम्पर्क के दूर होत ही रसानुभूति शीघ्र समाप्त हो जाती है। वस्तुत यह सम्पर्क और आस्वादन क्षणिक होता है। सम्पर्क की निरन्तरता के द्वारा यह अवधि बढाई जा सकती है। किन्तु इस अवधि के बढाने से रस मन्द होता जाता है। आत्मा काल से अतीत है। वह अकाल और अमृत है। आत्मिक आनन्द एक बार प्राप्त होने पर कभी मन्द अथवा समाप्त नही होता। गीता मे इसे ब्राह्मी स्थिति कहा है और यह बताया है कि एक बार प्राप्त होने पर इसका विलोप नही होता (गीता,२ ६२) वस्तुत आत्मिक आनन्द की कसौटी ही यही है कि यह कभी मन्द और समाप्त नही होता। लोकबुद्धि और तर्कबुद्धि भी इसके सम्बन्ध मे इतना तो स्वीकार कर ही सकती है कि वह जीवन पर्यन्त तथावत् बना रहता है। अध्यात्म का साक्षात् अनुभव रखने वाले यह भी प्रमाणित करते हैं कि मृत्यु की आशका से आत्मिक आनन्द मे कोई प्रभाव नही पडता। वस्तुत यह आत्मानुभव की बात

है और किसी दूसरे के लिये इसका प्रमाणित करना न आवश्यक है और न उप योगी ही। गति, प्रक्रिया, क्षय, परिवतन आदि साधारणत लोकजीवन म काल मे लक्षण और प्रभाव हैं। आत्मिक आनन्द म काल के ये कोई प्रभाव दिखाई नही दते। परिवतन काल का मूल लक्षण है। क्षय और वृद्धि इस परिवतन का लक्षण है। आत्मिक आनन्द म क्षय और वृद्धि का अवकाश नही है। परम होन क कारण उसम वृद्धि की सम्भावना शेष नही रहती। स्थायी होन के कारण उसम क्षय नही होता। आत्मिक आनन्द आत्मा का शाश्वत स्वरूप है। उस स्वरूप की कभी च्युति नही होती। स्वरूप का लक्षण ही यही है कि वह कभी अन्यथा नही होता। अस्तु आत्मिक आन द स्थायी होता है इन्द्रियों अथवा मन के प्राकृतिक रस की भांति अल्पकालिक नही होता। क्षय वृद्धिरूप परिवतन के अभाव मे उसम किसी गति और प्रक्रिया का आभास भी नही होता। गति और प्रक्रिया मे भी परिवतन का सूत्र रहता है। आत्मिक रस म किसी प्रकार का परिवतन नही होता। अस्तु वह काल के उन समस्त लक्षणो से परे है जो प्राकृतिक रसो म व्याप्त रहते हैं। काल को कृतान्त भी कहते हैं। वह सबका अन्त करना है। काल मृत्यु है। काल के क्रम मे ही सब प्राकृतिक सस्थानो के अवसान का क्षण आता है। किन्तु काल का यह विनाशक प्रभाव आत्मिक रस को स्पश नही करता वह केवल देह आदि क प्राकृतिक सस्थानो को प्रभावित करता है। आत्मा के आन द मे लीन योगी मृत्यु से भीत नही होता। गीता के अनुसार वह आत्मा के आन द मे स्थित रह कर ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होता है (गीता, २ ६२)। आत्मा के अमृत आनन्द म स्थित होकर योगी मृत्युन्जय बन जाता है। इस प्रकार आध्यात्मिक रस काल के समस्त प्रत्ययो और अवच्छेदो से अतीत होने के कारण काल से अवच्छिन्न प्राकृतिक रस से पूणत भिन्न है।

अहकार प्रकृति का सबसे अधिक महत्वपूर्ण लक्षण है। प्राकृतिक रसो मे उसका प्रभाव बहुत प्रबल रहता है। अहकार सत्ता और चेतना की एक रूप इकाई है जो जीवो के अस्तित्व और जीवन का केन्द्र बन जती हैं। सत्ता और चेतना को केन्द्रित करके अहकार विभाजन और पृथकत्व का कारण बनता है। भेद और सघष इनके क्रम मे उत्पन्न होते हैं। अहकार की इकाई अनेकता उत्पन्न करती है जो भेद और सघष को अवकाश देती है। प्राकृतिक होने के कारण यह अहकार प्रकृति के अन्य लक्षणो से सयुक्त रहता है। दोनो मे अहकार

को प्रकृति का परिणाम मानते हैं। गीता मे उसे प्रकृति का अष्टम रूप कहा है (गीता, ७ ४)। कारण और काल दोनो का बोध अहकार के केन्द्र मे ही होता है। एक प्रकार से अहकार प्रकृति और आत्मा का क्षितिज है। अहकार के इस क्षितिज पर ही सग के उपपव और लय साधना के साथ सवन रचे जाते हैं। इस क्षितिज के एक ओर प्रकृति का भूलोक है और दूसरी ओर आत्मा का स्वर्लोक है। अहकार के इस क्षितिज से ऊपर उठकर ही हम आत्मा के स्वर्लोक की ओर बढ सकते हैं। आत्मा के दिव्य रस म अहकार की इकाई अपनी समस्त कठोरता और समस्त अनुपगो के साथ विलीन हो जाती है। इसके विपरीत प्राकृतिक रसो मे वह एक रूढ केन्द्र के रूप मे वतमान रहती है। अहकार के द्वारा ही प्राकृतिक रस के अवच्छेद घटित होते हैं। अहकार मे अर्पित होकर ही प्राकृतिक रस आस्वादन योग्य बनते हैं। एक ओर वही उनकी समस्त सीमाओ का प्रणेता है, दूसरी ओर वही उनको सायक बनाता है। विभिन्न व्यक्तियो के प्राकृतिक रसास्वादन क भेद और विरोध का मूल अहकार मे ही है। अहकार के द्वारा मानो प्रकृति का रसाणव अन त कूपो म बट जाता है। कूप का भी अपना उप याग और आनन्द है। इसी प्रकार सीमित और परिच्छिन्न होते हुए भी प्राकृतिक रसो का भी जीवन मे महत्व है। अध्यात्मवाद को प्राकतिक रसो का उच्छेद अभीष्ट नही है। आध्यात्मिक आन द उनका अतिक्रमण मात्र है। वह प्राकृतिक रसो से परे आनन्द का एक अमृत और अन त रूप है, जो प्राकृतिक रसा को भी अपनी विभूति से अचित कर सकता है। कला और काव्य के सास्कृतिक रसो म इस समन्वय का आभास मिलता है। भिन्न होते हुए भी प्राकतिक रसो का आत्मिक रस से कोई विरोध नही है। प्राकृतिक रसो का विरोध प्रकृति के क्षेत्र मे ही सीमित है। अहकार आदि के अवच्छेदक इस विरोध के कारण है। एक व्यक्ति के प्राकृतिक रस का दूसरे व्यक्ति के प्राकतिक रस से विरोध होता है। एक ही व्यक्ति के प्राकृतिक रसो मे काल आदि की दृष्टि से विरोध होता है। आध्यात्मिक विरोध म अहकार आदि सभी अवच्छेदको के अभाव के कारण किसी विरोध का अवकाश नही है। इसीलिये वेदान्त दशन म आत्मा को अद्वैत कहा है। वह भेद से रहित है। उसको एक कहना भी उचित नहीं है क्योकि एक और अनक की भेद सापेक्षता के द्वारा ही एक का बोध होता है। आत्मा की अद्वैत सज्ञा का यही रहस्य है। यह अद्वैत भाव अहकार से अतीत है। यद्यपि आत्मा चैतन्य स्वरूप है किन्तु आत्मा के आन द का अनुभव अह बोध के

रूप मे नही होता। अह ब्रह्मास्मि' आदि मे 'अह' का प्रयोग भाषा के व्यवहार की विवशता है, आत्मानुभव की स्थिति की यथार्थता नही इसीलिये केन उपनिषद मे कहा गया है कि जो आत्मा को जानता है उसके लिये आत्मा वस्तुत अविज्ञात है और जिनके लिये आत्मा वस्तुत विज्ञात है वे उसे जानते नही। इसका तात्पर्य यही है कि जब तक अह बोध रहता है तब तक आत्मा का अनुभव नहीं होता और जब आत्मा का अनुभव होता है तो अह बोध विलीन हो जाता है। आत्मा के अनन्त आनन्दवण मे अहकार के बुदबुद विलीन हो जाते हैं। आत्मा का अमृत और अनन्त आनन्द एक केन्द्र और परिधिहीन उल्लास है। अहकार आदि के प्राकतिक अवच्छेदक आत्मानन्द की पूर्णिमा के ज्वार मे विलय हो जाते हैं। आध्यात्मिक रस की स्थिति में एक निर्विकल्प, निरवच्छिन्न, अमृत और अनन्त आनन्द ही शेष रह जाता है।

प्राकृतिक और आध्यात्मिक रस दोनो के लिये समान रूप से रस पद का प्रयोग होता है। अत यह आवश्यक है कि दोनो मे कुछ समानता हो और रस के सामान्य लक्षण उनमे वर्तमान हो। सारता प्रियता चवणा, स्फूर्ति, साम्य आदि रस के ऐसे सामान्य लक्षण हैं जो रस के इन दोनो रूपो मे मिलते हैं। इस सामान्य रसवत्ता के कारण ही दोनो आस्वादन का आनन्द प्रदान करते हैं और जीवन के रुचिकर लक्ष्य बनते है। किन्तु प्रकृति और आत्मा मे अन्तर है। दोनो के स्वरूप विधान आदि भिन्न हैं। अत रस के समान लक्षण इन दोनों मे एक ही रूप मे नही पाये जाते। इन लक्षणो के जो विशेष रूप दोनो रसो मे मिलते हैं उनमे परस्पर बहुत अन्तर है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक दृष्टियो से प्राकृतिक और आध्यामिक रसो मे भेद है। ऊपर के विवरण मे इस भेद का दिग्दशन किया गया है। इस विवरण से विदित होता है कि आस्वादन के सुख अथवा आनन्द की समानता के अतिरिक्त ये दोनो रस एक दूसरे से भिन्न ही नहीं वरन् एक दूसरे के बहुत कुछ विपरीत हैं। अनुभव की प्रियता स्पृहणीयता आदि दोनो मे पाई जाती हैं। किन्तु जिनको आध्यात्मिक रस का अनुभव है वे इस बात को प्रमाणित करेंगे हैं कि आध्यात्मिक रस की प्रियता एक ऐसा विलक्षण कोटि का अनुभव है कि उसके सामने प्राकृतिक रसो की प्रियता तुच्छ प्रतीत होती है। कारण काल अहकार आदि के अवच्छेदको की दृष्टि से आध्यात्मिक रस प्राकृतिक रस से भिन्न हैं। प्राकृतिक रसो मे पराधीनता

अधिक है और वे कालगति से क्षीण होते हैं। आध्यात्मिक रस पूर्णत स्वतन्त्र है। वह आत्मा के स्वरूप का स्वतन्त्र अनुभव है। स्वतन्त्र होने के कारण वह क्षीण नही होता वरन् उसकी वृद्धि होती है। पराधीन होने के कारण प्राकृतिक रस की कालावधि अल्प है। किन्तु आध्यात्मिक रस काल से अवच्छिन्न नही है। अहकार से अवच्छिन्न होना आध्यात्मिक रस की एक महती विशेषता है। अहकार का अर्थ अभिमान अथवा गर्व नही है जैसा कि सामान्य व्यवहार मे समझा जाता है। दर्शन की भाषा मे व्यक्तिगत सत्ता की परिच्छिन्नता का आत्मगत अनुभव ही अहकार है। वह गर्व का नही केवल अस्मिता का भाव है। यह भाव एक व्यक्ति को अन्य व्यक्तियो से पृथक करता है। प्राकृतिक रस की अनुभूति अहकार के परिच्छेद के अन्तर्गत होती है। आध्यात्मिक रस मे अहकार का अतिक्रमण होता है। अन्य जितने भी अवच्छेदको की कल्पना की जा सकती है वे सब आध्यात्मिक रस मे लय हो जाते हैं। इस प्रकार प्राकृतिक और आध्यात्मिक रस अत्यन्त भिन्न और विपरीत कोटियो के अनुभव हैं।

सास्कृतिक रस एक प्रकार से प्राकृतिक और आध्यात्मिक रसो का सामजस्य है। प्राकृतिक और आध्यात्मिक रस दो भिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ है, अत केवल उसके सयोग अथवा सम्मिश्रण से सास्कृतिक रस का निर्माण नहीं होता। सास्कृतिक रस के सामजस्य मे प्राकृतिक और आध्यात्मिक रसो का रूप ज्यो का त्यो नही बना रहता वरन् उनके इस रूप मे सामजस्य के द्वारा कुछ नवीनता आ जाती है। इस नवीनता के कारण सास्कृतिक रस को एक नवीन रस मानना उचित है। यद्यपि सास्कृतिक रस का निर्माण प्राकृतिक और आध्यात्मिक रसो के तत्वो से ही होता है किन्तु यह निर्माण एक नवीन सृष्टि है जो अनेक प्रकार से दोनो से विलक्षण है। सास्कृतिक रस का उचित विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है कि इसके उपकरण प्राकृतिक रस से प्राप्त होते हैं और इसका रूप आध्यात्मिक रस के द्वारा रचित होता है। प्राकृतिक रस के अवच्छेदक सास्कृतिक रस मे भी वर्तमान रहते हैं। किन्तु वे अपनी कठोर प्राकृतिक सीमाओ मे नहीं रहते। इन सीमाओ का अतिक्रमण आध्यात्मिक रस की विभूति से होता है। कारण, काल, अहकार आदि के अवच्छेदक सास्कृतिक रस मे पूर्णत विलीन नही हो जाते किन्तु आध्यात्मिक रस की विभूति से उनका सौन्दर्य एक नवीन रूप ग्रहण कर लेता है। सास्कृतिक रस आध्यात्मिक रस को

भांति पूर्णत निरवच्छिन्न नहीं होता। प्राकृतिक रस की भांति उसमें भी बाह्य उपकरणों का अवलम्ब होता है। किन्तु दोनों में इतना अन्तर है कि जहां प्राकृतिक रस में ये उपकरण नियामक कारण होते हैं और रस को अनुभूति का परतन्त्र बनाते हैं वहां सांस्कृतिक रस में ये उपकरण निमित्त मात्र होते हैं। आत्मा की स्वतन्त्र क्रिया के द्वारा उपकरणों में स्वतन्त्रता के सौंदर्य का सन्निधान होता है। यह स्पष्ट है कि सांस्कृतिक रस को यह स्वतन्त्रता का सौंदर्य आध्यात्मिक रस से ही प्राप्त होता है। इस प्रकार से 'सांस्कृतिक रस प्राकृतिक रस के उपकरणों में आध्यात्मिक रस के रूप का सामंजस्य है। यह सामंजस्य भी विशेषत आत्मा का ही लक्षण है। प्रकृति में विरोध की सम्भावना अधिक है। आत्मा का लक्षण अविरोध है। प्रकृति में जहां साम्य है वह भी आत्मा के अनुरूप है और उसे प्रकृति और आत्मा का संगम समझना चाहिये। सांस्कृतिक रस में भी प्रकृति की गम्भीर यमुना और अध्यात्म की उज्ज्वल गंगा का संगम है। किन्तु प्रकृति की यमुना के समग्र रस (जल=जीवन) को आत्मसात् कर संस्कृति की धारा आगे चलकर अध्यात्म की गंगा के नाम से प्रवाहित होती है। संस्कृति की धारा के प्रवाह का रूप और उसकी दिशा प्रधानत अध्यात्म की गंगा ही के अनुरूप होती है यद्यपि प्रकृति के उपकरणों का पूर्ण सन्निधान उसमें रहता है। आध्यात्मिक रस की भांति सांस्कृतिक रस पूर्णत प्रकृति से अतिक्रान्त और अनवच्छिन्न नहीं है। किन्तु सांस्कृतिक रस में संग्रहीत प्राकृतिक उपकरणों के अवच्छेदक अध्यात्म की उदारता से अंचित होते हैं। निमित्त रूप उपकरणों में स्वतन्त्रता के सन्निधान का संकेत ऊपर किया गया है। काल का अवच्छेद सांस्कृतिक रस में अवश्य रहता है, क्योंकि इसमें संग्रहीत प्रकृति के उपकरण काल से अनवच्छिन्न नहीं हो सकते। किन्तु काल का यह अवच्छेद सांस्कृतिक रस में बहुत उदार बन जाता है। काल की गति मन्द हो जाती है और उसका विस्तार बढ़ जाता है। आध्यात्मिक रस की भांति सांस्कृतिक रस अनन्त नहीं है फिर भी उसकी अवधि का विस्तार होता है। पर्वों, उत्सवों आदि के अवसर पर उस अवधि का विस्तार अधिक और स्पष्ट दिखाई देता है। भारतीय संस्कृति की व्यवस्था में वर्ष की पर्व परम्परा सम्पूर्ण जीवन को सांस्कृतिक सौंदर्य से व्याप्त कर देती है और इस प्रकार सांस्कृतिक रस का अनन्त के क्षितिज तक पहुंचा देती है। काल के इस विस्तार में काल की गति के साथ उसका क्षय क्रम भी मन्द हो जाता है। वस्तुत क्षय के मन्द होने से सौन्द

और आनन्द की वह समृद्धि होती है जो सास्कृतिक रस को आध्यात्मिक रस की अनन्तता के सन्निकट ले जाती है।

अहकार का अवच्छेद प्राकृतिक रस का एक मुख्य लक्षण है। आध्यात्मिक रस मे इसका पूए अतिक्रमण हो जाता है। आध्यात्मिक रस अहकार से पूणत अनवच्छिन्न है। सास्कृतिक रस मे अहकार का पूण अतिक्रमण नही होता। सास्कृतिक रस अहकार से पूणत अनवच्छिन्न नही है। उसमे अहकार का अवच्छेद अवश्य रहता है किन्तु आत्मा की विभूति से अचित होकर उसमे कुछ औदाय का उदय होता है उसके अवच्छेद की सीमा और कठोरता बहुत कुछ मन्द हो जाती है। उदारता की यह विभूति अहकारा मे स्वाथ और सघप के स्थान पर साम्य की स्थापना करती है। अहकारो का यह साम्य सास्कृतिक रस का अपूव लक्षण है। तादात्म्य की अपेक्षा इसे समात्मभाव कहना अधिक उपयुक्त होगा। तादात्म्य मे दो व्यक्तित्वो की एकरूपता का सकेत मिलता है, मानो उनकी सत्तायें मिलकर एक हो जाती है। समात्मभाव सत्ताओ का तादात्म्य नही वरन् भाव का साम्य है। व्यक्तित्वो का भेद विरोध और सघप के द्वारा रस को क्षीण न करके स्नेह और साम्य के द्वारा उसकी समृद्धि करता है। इस प्रकार समात्मभाव के उदार साम्य मे सास्कृतिक रस का सौन्दय प्राकृतिक रस की भूमि मे आध्यात्मिक रस के अभिनव कल्पवृक्ष आरोपित करता है।

इस सम्बन्ध मे यह ध्यान देने योग्य है कि सास्कृतिक रस का सौन्दय प्राकृतिक रस की भाति अहकार की इकाई मे सम्पन्न नही होता। आध्यात्मिक रस सिद्धान्तत अहकार से अतीत अवश्य है किन्तु अध्यात्म की साधना एकान्त व्यक्तित्व मे होती है। आत्मा के क्षितिज पयन्त इस समस्त साधना मे अहकार की इकाई की अवच्छेद रहता है। यह प्रकृति और अध्यात्म की एक अद्भुत समानता है जो अध्यात्म मे भी स्वाथ का कारण बन गई। किन्तु सास्कृतिक रस मूलत तथा सिद्धान्त और व्यवहार दोनो मे ही अहकार की इस इकाई से परे हैं। किन्तु अहकारो के समात्मभाव पूए साम्य मे ही उसका उदय होता हैं। व्यक्तित्वो की अनेकता सस्कृति का आवश्यक आधार है। उनका विरोध प्राकृतिक है। उनके साम्य मे सस्कृति का सौन्दर्य उदित होता है। सास्कृतिक

रस प्रकृति के अवच्छेदकों अध्यात्म में सौन्दय को समाहित करता है। संस्कृति भूमि पर स्वग की प्रतिष्ठा म है। इसके विपरीत अध्यात्म प्रकृति से प्रतिकान्त कैवल्य है। कारण, काल, अहंकार आदि के अतिरिक्त प्रकृति के अन्य उपकरणों और भावों के अवच्छेद भी सास्कृतिक रस के उपादान बनते हैं, यद्यपि इन उपादानों म भी उदारता की विभूति का सन्निधान होता है।

सास्कृतिक रस की एक विशेषता यह है कि प्रकृति के अवच्छेदकों के साम्य के साथ साथ उसमें रूप और तत्व का भी साम्य होता है। रूप और तत्व का यह साम्य कला का लक्षण है। यही सस्कृति और कला के सम्बन्ध का सूत्र है। रूप और तत्व का यह साम्य आगन्तुक, आकस्मिक अथवा प्राकृतिक विधान नहीं वरन् चेतना की स्वतन्त्र क्रिया का फल है। इस दृष्टि से यह अध्यात्म के निकट है। यह साम्य आत्मा के स्वत न्त अध्यवसाय की सृष्टि है। यह सृजनात्मकता सस्कृति और कला का समान लक्षण है। सृजन का अर्थ अभिवृद्धि है। सस्कृति और कला के सृजन धम म रूप और तत्व दोनों की अभिवृद्धि होती है। अभिवृद्धि म दोनों का अतिशय उत्पन्न होता है। रूप अभिव्यक्ति का माध्यम है। रूप ही सौन्दय है। रूप का अतिशय कला की विभूति है। तत्व दो प्रकार का होता है बाह्य और आन्तरिक। बाह्य तत्व प्राकृतिक हैं। उसकी अभिवृद्धि नहीं होती, केवल रूपान्तर होता है। इस रूपान्तर में प्रकृति का बाह्य तत्व सौन्दय का उपकरण बनता है। आन्तरिक तत्व को चिन्मय भाव कह सकते है। आत्मा इसका आधार है। आत्मा ब्रह्म है अर्थात यह वृद्धिशील है। अत चिन्मय भाव के आन्तरिक तत्व की अभिवृद्धि होती है। यदि रूप का अतिशय सौन्दय है तो भाव का अतिशय आनन्द का रहस्य है। सस्कृति और कला में रूप और भाव दोनों का ही अतिशय होता है। किन्तु कला म रूप की प्रधानता होती है। सस्कृति में भाव प्रधान है, रूप उसका आवश्यक निमित्त है। काव्य की भांति कुछ कलाओं में भाव का भी पर्याप्त महत्व है। वस्तुत रूप और भाव दोनों के अतिशय का साम्य सास्कृतिक रस का स्रोत है। जिन्हे विशेष रूप से सस्कृति और कला कहा जाता है वे इसी रस के दो प्रवाह हैं। इन दोनों प्रवाहों की भूमि एक ही है किन्तु इनकी दिशा और गति म कुछ अन्तर अवश्य है।

का स्रोत अध्यात्म की विभूति म ही है। भाव का अतिशय भाव की अभिवृद्धि है। यह अभिवृद्धि आत्मा का लक्षण है। अध्यात्म मे आत्मा का रूप अपन पूण स्वरूप मे प्रकाशित होता है। सास्कृतिक समात्मभाव म इसी अनन्त अध्यात्म लोक के क्षिजित जीवन की भूमि पर खुलते है। समात्मभाव मे ही आत्मा का भाव अपने वृद्धिशील स्वरूप की ओर अभिमुख होता है। प्राकृतिक रस की स्थिति म भी आत्मा का स्वरूप पूणत लुप्त नही होता (लुप्त होने पर प्राकृतिक रस का अनुभव भी सम्भव न होगा), किन्तु प्रकृति के अवच्छेदको स नियमित होने के कारण वह तिरोहित हो जाता है। प्राकृतिक रस मे व्यक्तित्व की इकाई तथा प्रकृति के अ य अवच्छेदको का प्रमुत्व रहता है। आध्यात्मिक रस म ये अवच्छेदक पूणत विलीन हो जाते हैं। सास्कृतिक रस म न इन अवच्छेदको का प्रमुत्व रहता है और न ये पूणत विलीन होते हैं। सास्कृतिक रस मे प्राकृतिक अवच्छेदक अध्यात्म के सस्कारो से एक नवीन सौ दय के उपकरण बनते हैं। यह सौ दय ही सस्कृति, कला, काव्य आदि का विशेष रूप है। रूप का अतिशय इस सौ दय का रहस्य है। भाव का अतिशय इसक रस का स्रोत है। रूप और भाव दोनो की गगा यमुना के प्रवाहो के सगम पर सस्कृति, कला, काव्य आदि का अक्षय वट स्थित है।

काव्य एक कला है। कला सस्कृति का अग है। कला और काव्य म सास्कृतिक रस का प्रवाह होता है। सस्कृति प्रकृति और अध्यात्म का सामञ्जस्य है। प्रकृति क उपकरणो को एक नवीन रूप देकर अध्यात्म के सस्कार सस्कृति का ज म देत हैं। सस्कृति और अध्यात्म दोनो का सगम होन के कारण दोनो ही दिशाओ म कला और काव्य के रहस्य की खोज रही है। एक ओर उपनिषदा क आध्यात्मिक रस म कुछ आचाय काव्य क रस का स्रोत खोजत रहे हैं। दूसरी ओर रसो के प्राकृतिक उपकरणो के अनुरूप काव्य के रस का विश्लेषण करत रहे हैं। रति क्रोध शोक आदि मनुष्य के व्यक्तिगत और प्राकृतिक भाव हैं जो व्यक्तित्व की इकाइ स अवच्छिन्न रहत हैं। रति के अतिरिक्त अ य भावो म व्यक्तित्व का वह साम्य नही होता जो सास्कृतिक रस क आधार भूत समात्म भाव म होता है। रति का भाव कुछ उदार है। इसीलिए ऊपर के विवरण म हमन काम म प्रकृति और अध्यात्म की सधि का सकेत किया है। किन्तु क्रोध, शोक, भय आदि भावो म व्यक्तित्व की इकाइ और अधिक सकुचित तथा कठोर

हो जाती है। इसीलिये ये भाव पूर्णत प्राकृतिक हैं। वस्तुत इन भावो मे रस का उदय नही होता। जीवन मे हम इन भावो की स्थिति म सुख, ग्रानन्द, स्फूर्ति ग्रादि का ग्रनुभव नही करते हैं किन्तु काव्य शास्त्र मे इन्हे रसा का स्थायी भाव माना गया है। काव्य म ये भाव किस प्रकार रस के उपकरण वनते है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस प्रश्न का सम्यग् विवेचन प्राचीन काव्य शास्त्रो तथा काव्य की ग्रर्वाचीन ग्रालोचनाग्रो म नही हुग्रा है। जिन ग्राचार्यों न रति ग्रादि से ग्रवच्छिन्न 'भग्नावरणचित को रस का स्वरूप माना है, उनके ग्रनुसधान की दिशा कुछ ठीक ग्रवश्य है किन्तु वे भी प्रकृति ग्रौर ग्रध्यात्म के लक्षणो से काव्य के रस का समुचित विवेक नही कर सके। उन्होने इस बात की समुचित व्याख्या नही की कि ग्राध्यात्मिक चित् ग्रौर प्राकृतिक ग्रवच्छेदको का सगम ग्रथवा सम वय काव्य के रस म किस प्रकार होता है। ग्रधिकाश ग्राचाय प्राकृतिक मनोभावो की परिणति मे ही काव्य के रस की स्थिति मानते रह।

इसका कारण यह है कि ग्रधिकाश ग्राचाय प्राकृतिक जीवन की सीमाग्रो से उठकर काव्य के वास्तविक रूप ग्रौर रस का दशन नही कर सके। ग्रध्यात्म के जिन क्षितिजा का उन्हे ग्राभास होता रहा उनके स्पश के लिये भी व प्रकृति की भूमि से न उठ सके। काव्य शास्त्र के ग्राचाय सवदा इस मान्यता पर ग्रारूढ रहे कि काव्य की रचना ग्रौर काव्य के रस की ग्रनुभूति व्यक्तित्व की इकाई मे ही सम्पन्न होती है। व्यक्तित्व की यह इकाई जीवन का प्राकतिक ग्राधार है। इस इकाई की कठोर सीमाग्रा म कला ग्रौर काव्य का जन्म नही होता। विश्व का ग्रधिकाश काव्य इस बात को प्रमाणित करता है कि व्यक्तित्व की इस प्राक तिक इकाई से ऊपर उठकर व्यक्तित्वा क समात्मभाव म ही काव्य की सृष्टि हुई है। किन्तु काव्यशास्त्र के ग्राचाय काव्य की इस स्थिति की कल्पना नही कर सके ग्रौर सदा व्यक्तित्व की प्राकृतिक इकाई को काव्य के सजन ग्रौर रसास्वादन का ग्राधार मानते रह। वे इस बात की कल्पना नही कर सके कि व्यक्तित्व की इकाई के एकान्त भाव मे कला ग्रौर काव्य का जन्म नही होता। काव्य के रूप ग्रौर रस के ग्रनुसधान मे यह भूल पूव ग्रौर पश्चिम दोनो के काव्य शास्त्र के इतिहास मे समान ग्रौर व्यापक रूप से हुई है।

इस भूल का कारण यह है कि काव्य के रूप ग्रौर रस के ग्रनुसधान के प्रसग मे जीवन ग्रौर सस्कृति के साथ काव्य का सूत्र विच्छिन्न हो गया। व्यक्तिगत रचनाग्रो

और नाटकीय प्रदशनो से काव्य शास्त्र का इतिहास प्रारम्भ होता है। काव्य शास्त्र के प्राचार्यों ने नाटक और काव्य के रस का विवेचन पात्र, नट, दशक, पाठक आदि व्यक्तियो को ही लेकर किया है। वे सदा यह ही मानते रहे कि रस का अनुभव इन व्यक्तियो को अपने व्यक्तित्व की इकाई म ही होता है। इसीलिये उनकी आलोचना म ये कठिनाइया उपस्थित हुई कि मूल पात्र के रस का अनुभव नट, दशक अथवा पाठक मे किसको और किस प्रकार होता है। इ्ही कठिनाइयो के समाधान के लिये आरोपवाद, मुक्तिवाद, अभि०यक्तिवाद साधारणीकरण आदि सिद्धान्तो के प्रस्ताव काव्य शास्त्र के इतिहास म आय हैं। इन प्रस्तावो के मूल मे भी वही भूल थी कि रस की स्थिति व्यक्ति की इकाई मे ही होती है। इस भूल का कारण यही था कि काव्य शास्त्र के आचाय व्यक्तित्वो के समात्मभाव मे सम्पन्न होने वाले काव्य क सास्कृतिक रस म व्यक्तित्व की इकाई म सम्पन्न होने वाले प्राकृतिक रस का अध्यास करते रहे। अर्वाचीन आचार्यों मे केवल पण्डित रामच द्र शुक्ल ने इस बात का सकेत किया है कि काव्य म हम व्यक्तित्व से ऊपर उठकर प्रकृति और मानव के साथ रागात्मक सम्ब ध का विस्तार करते हैं। कि तु काव्य शास्त्र के व्यक्तिनिष्ठ सस्कारो के प्रभाव के कारण व भी व्यक्ति को ही भाव के इस प्रसार का के द्र मानत रहे। अतएव वे भी उस समात्म भाव मूल तक न पहुँच सके, जो काव्य के सजन और आस्वादन की मूल स्थिति है एक नवीन सत्य का सकेत पाकर भी वे काव्य शास्त्र की प्राचीन परम्परा म ही उलझे रहे। अतएव वे भी काव्य के रूप और रस के आलोचन म सनातन प्राकृतिक भूल का परिहार नही कर सक। काव्य के रूप और रस का स०ो अनुसधान व्यक्तिगत रचनाओ, नाटकीय प्रदशनो, दशको पाठको आदि से आरम्भ करके नही हो सकता। का०य इन सबस प्राचीनतर है। यह प्राचीनतर लोक काव्य के रूप म है जिसका गायन पर्वों और उत्सवो के अवसर पर सामाजिक समात्मभाव की स्थिति मे होता है। सस्कृति के अ य रूप भी इसी समात्मभाव की स्थिति म सम्प न होते हैं। यह समात्मभाव ही काव्य के रस का भी मूल स्रोत है। यह एकाधिक व्यक्तित्वो का आत्मिक साम्य है, जो प्राकृतिक व्यक्तित्व की इकाई और अध्यात्म के निर्वैयक्तिक कवल्य दोनो से भिन्न है। यह समात्मभाव सस्कृति का आधार है। यही उस सास्कृतिक रस का स्रोत है, जो प्राकृतिक और आध्यात्मिक दोनो रसो स भि न है। सस्कृति अध्यात्म की प्रेरणा से प्रकृति के क्षितिजो पर रूप और भाव के अतिशय के

सौन्दय सर्गो की रचना है। कला और काव्य इसी सस्कृति के अग हैं। जो लोक कला और लोक काव्य जीवन्त सस्कृति के अग है, उनमे यह समात्म-भाव साक्षात् और प्रत्यक्ष रहता है। किन्तु जो कला और काव्य व्यक्ति की रचना बन जाते हैं उनम भी यह समात्मभाव अप्रत्यक्ष रूप से वतमान रहता है। काव्य के आस्वादन म भी यह समात्मभाव वतमान रहता है। सस्कति और समात्म-भाव के सूत्र से ही हम काव्य के रस का वास्तविक रहस्य खोज सकते है।

—∞—

अध्याय-५

काव्य का स्वरूप

काव्य शास्त्रो म रस की विवेचना केवल काव्य को लेकर की गई है। जिन अनेक अर्थों और रूपो म रस का प्रयोग भाषा के व्यवहार म होता हैं उनका विचार इस विवेचना म आवश्यक नही माना गया है। किन्तु भाषा के प्रयोग म रस क अर्थ की व्यापकता अकारण नही ह। रस के कुछ ऐस सामान्य लक्षण है जो रस के सभी रूपो म पाये जाते है। इन लक्षणो का निदशन तीसरे अध्याय म किया गया है। अनेक रूपो और अर्थों म प्रयुक्त रस क इन सामान्य लक्षणो के सूत्र से रस क स्वरूप का अनुसधान अधिक सफलता पूवक किया जा सकता है। इसी प्रकार काव्य को भी एक व्यापक भूमिका म रखकर उसके स्वरूप और उसम रस की स्थिति का निधारण अधिक सतोषजनक रूप स किया जा सकता है। काव्य शास्त्रो म काव्य के केवल वाङ मय रूप को लकर काव्य के रूप और रस का विवेचन किया गया है। काव्य का यही प्रसिद्ध रूप भी है। कि तु रस की भाति काव्य पद का प्रयोग भी प्राय एक व्यापक अथ म किया जाता है। वैदिक साहित्य म कवि का प्रयोग विधाता के लिये भी हुआ है और सृष्टि को विधाता का काव्य कहा गया। इस व्यापक अथ म काव्य केवल वाङ मय सृष्टि नही वरन् सौ दय की अ य अनेक रूप सृष्टि का वाचक है। अनेक रूप सौन्दय स युक्त विश्व भी एक दि य का य है। सृष्टि म सौन्दय देखने वाले इस दिव्य काव्य को अधिक महत्व देत हैं। आचाय राम च द्र शुक्ल प्रकृति के ऐसे ही अनुरागिया म स थे। उ होने शब्द काव्य स भी अधिक महत्व इस विश्व काव्य को दिया है (रस मीमासा पृष्ठ ८)। यह विश्व काव्य भी सौन्दय की सृष्टि और अभिव्यक्ति है। यदि हम दूसरो क रचे हुए काव्य का रसास्वादन कर सकते हैं तो विधाता के इस विश्व का य का आन द भी ले सकते हैं। काव्य के इस व्यापक रूप की भूमिका म काव्य के इस स्वरूप का निर्धारण उसी प्रकार अधिक सतोपजनक हो सकता है जिस प्रकार

रस पद के व्यापक प्रयोग की भूमिका में रस के रहस्य का अनुसंधान अधिक सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

इसी प्रयोजन से हमने जिस प्रकार रस की मीमांसा के लिये एक व्यापक भूमिका में रस की प्रतिष्ठा की है, उसी प्रकार काव्य के स्वरूप के निर्धारण के लिये काव्य को भी एक व्यापक भूमिका में रखा है। यह भूमिका आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भूमिका से कुछ भिन्न है। शुक्ल जी ने काव्य और रस के प्रसंग में विश्व काव्य की चर्चा की है। उनका यह मत बहुत संगत है कि काव्य का रसास्वादन प्रकृति और समाज के साथ हमारे रागात्मक भाव का विस्तार है। शुक्ल जी के इस मत में रस के रहस्य का एक सुन्दर सूत्र है, यद्यपि वे इस सूत्र की अधिक व्याख्या नहीं कर पाये। साथ ही काव्य के रूप की वे कोई ऐसी परिभाषा नहीं दे सके जो विश्व काव्य और शब्द काव्य दोनों पर चरितार्थ होती है। हृदय की जिस मुक्त दशा को उन्होंने भाव योग कहा है और जिसे उन्होंने काव्य का मर्म माना है उसमें वे अहंकार तथा स्वार्थ का अतिक्रमण मानते हैं (रस मीमांसा पृष्ठ ६।१८)। किन्तु एक ओर उनके भाव योग का रूप अध्यात्म के निकट पहुँचता है और दूसरी ओर समस्त प्राचीन काव्य परम्परा के अनुकूल वे भी व्यक्ति को ही रस का आश्रय मानते हैं। वस्तुतः काव्य शास्त्र में आश्रय विभाव की स्थापना का श्रेय आचार्य शुक्ल को ही है। किन्तु प्राचीन परम्परा से अधिक प्रभावित रहने के कारण वे काव्य और रस के स्वरूप का यथोचित निर्धारण नहीं कर सके। आचार्य शुक्ल ने समन्वय का संकेत भी किया है। किन्तु यह समन्वय भी उनकी दृष्टि में आश्रय-भूत व्यक्ति का शेष सृष्टि के साथ समन्वय है। व्यक्तित्वों के जिस उदार और गम्भीर साम्य को हमने समात्म भाव कहा है और जिसे हमने रस का मर्म माना है उसकी कल्पना शुक्ल जी अथवा उनके पूर्ववर्ती आचार्य नहीं कर सके। पूर्व और पश्चिम के सभी आचार्य व्यक्तित्व की इकाई को ही कला अथवा काव्य का आश्रय मानते हैं। इसके विपरीत हमारा मत है कि व्यक्तित्व की इकाई एक अत्यन्त दीन सत्ता है। वह कला और काव्य में प्रकट होने वाले सौन्दर्य एवं आनन्द की अभिवृद्धि का आश्रय नहीं हो सकती। अपनी इकाई में एकान्त में केन्द्रित रहते हुए व्यक्तित्व विश्व की समस्त विभूति को समेट कर भी अधिक सम्पन्न नहीं हो सकता। इतना अवश्य है कि इस विभूति के साथ वह व्यक्तित्व

जितना समन्वय प्राप्त कर सकता है उतना ही वह सौन्दर्य के अवगाहन के योग्य बन जाता है। किन्तु इस समन्वय में सौन्दर्य का स्रोत आश्रय की व्यक्ति-निष्ठता नहीं वरन् इसके विपरीत आश्रय का वह भाव है जिसमें समन्वय आश्रय निष्ठ नहीं वरन् पारस्परिक है। इसी भाव को हमने समात्म भाव कहा है। हमारे मत में यह समात्म भाव ही कला और काव्य मर्म है। रस का रहस्य भी इसी समात्म भाव में निहित है। यह समात्मभाव व्यक्तित्व की इकाई के आत्म विस्तार और अध्यात्म के कैवल्य दोनों से भिन्न है। यह एक व्यक्ति का शेष सृष्टि के सामञ्जस्य नहीं है वरन् एकाधिक व्यक्तित्वों का परस्पर साम्य है।

इसी समात्म भाव को काव्य का रूप और मूल स्रोत मानने के कारण हमने पिछले अध्याय में सांस्कृतिक रस के निरूपण के प्रसंग में काव्य को एक व्यापक भूमिका में प्रतिष्ठित किया हैं। जैसा ऊपर संकेत कर चुके हैं यह भूमिका शुक्ल जी की भूमिका से भिन्न हैं। काव्य के रूप और सौन्दर्य के निरूपण के लिये विश्व काव्य की भूमिका में भी काव्य की चर्चा अपेक्षित है। किन्तु विश्व काव्य मनुष्य की कृति नहीं है। वह विधाता की कृति है। उसमें हम जो सौन्दर्य दिखाई देता है उसके अर्थ और रहस्य का अनुसंधान काव्य के रूप को समझने के लिये भी आवश्यक है। किन्तु दूसरी ओर सौन्दर्य का मनुष्य कृत रूप काव्य से अधिक व्यापक है। काव्य से अतिरिक्त मनुष्य की यह व्यापक सौंदर्य सृष्टि कला कहलाती है। पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र में कला की व्यापक भूमिका में काव्य के स्वरूप का विवेचन बहुत हुआ है। किन्तु पूर्व और पश्चिम दोनों में कला की धारणा भी काव्य के समान ही व्यक्ति निष्ठ रही है। कला और काव्य के सृजन एवं आस्वादन को पूर्व और पश्चिम के सभी आचार्य एक व्यक्ति गत कर्म अथवा धर्म मानते रहे है, यद्यपि कुछ आचार्यों ने शुक्ल जी की भाँति इस व्यक्तित्व में स्वार्थ के अतिक्रमण और समात्म भाव के विस्तार को सौन्दर्य के सृजन व आस्वादन के लिये आवश्यक माना है। किन्तु उन सब की दृष्टि में इस विस्तार और भाव प्रसार का आश्रय अपनी इकाई में स्थित व्यक्ति ही है। हमारे मत में इस उदार व्यक्तित्व में नहीं वरन् एकाधिक व्यक्तित्वों के समात्मभाव में कला और काव्य का सौन्दर्य उदित होता है। कलाकार कवि अथवा रसिक की व्यक्तिनिष्ठ स्थिति में यह समात्म भाव कल्पना की भावना के द्वारा सम्पन्न होता है। कल्पना अप्रत्यक्ष को भी सजीव और साक्षात रूप में प्रस्तुत कर सकती

है। किन्तु जिसका जीवन म साक्षात्कार नही है उसे प्रस्तुत करने म कल्पना भी समथ नहीं है। जीवन की साक्षात् विभूति का विस्तार और उपस्थापन ही कल्पना कर सकती है। समात्म भाव की जीवन्त विभूति सबस अधिक सम्पन्न रूप म हमे लोक सस्कृति की परम्परा म मिलती है। लोक काव्य और कला भी लोक-सस्कृति के अन्तगत हैं। सस्कृति के सम्बन्ध म भी हमारी धारणा विद्वाना क सामान्य मत से भिन्न है। प्राय सभी विद्वान धम, दशन, कला, साहित्य आदि की समष्टि का ही सस्कृति मानत हैं। सस्कृति के इतिहासो म इन्हीं का विवरण मिलता है। सस्कृति का कोई पृथक रूप अथवा अस्तित्व नही है। प्राय कला और सस्कृति को एक ही माना जाता है। आजकल समारोहा के अवसर पर होने वाले नृत्य गान आदि इसी भ्रम क आधार पर सास्कृतिक कायक्रम कह जात हैं। यह ध्यान देन योग्य है कि जिन धर्म, दशन कला, साहित्य आदि की समष्टि को सास्कृतिक कहा जाता है व प्राय व्यक्ति की इकाई के आश्रय म ही प्रसूत होत हैं। *सस्कृति की उक्त धारणा म एक आपत्ति* और है कि धम, दशन, कला आदि क समान विश्वास, विचार और सौन्दय जस विरोधी आधारो पर आश्रित रचनायें सस्कृति के एक सामान्य प्रत्यय के अन्तगत कसे समाहित हो सकती है। इस मत को मानने वाला का कथन है कि ये सब समान रूप से मनुष्य की कृतिया हैं। यही सस्कृति का सामान्य भाव हैं। यह सस्कृति की प्रधानत पश्चिमी धारणा है, क्योकि इससे भिन्न सस्कृति का कोई सम्पन्न रूप पश्चिम के अल्प इतिहास म उपलब्ध नही हैं। पूव म इसस भिन्न और इससे अधिक मौलिक एक प्राचीन सस्कृति का सम्पन्न रूप विद्यमान है। फिर भी खेद की बात है कि पूर्वीय विद्वाना ने इस पश्चिमी मत को उसी प्रकार अपना लिया है जिस प्रकार सभ्यता के अन्य पश्चिमी रूपो को अपना रह हैं।

सस्कृति का यह रूप कला, काव्य आदि की व्यक्तिगत रचनायें नही वरन् वे स्वतन्त्र और सामूहिक रचनायें हैं जिनम समात्मभाव का साक्षात् और सम्पन्न रूप मिलता हैं। लोक नृत्य लोक गीत, लोक पव आदि इस सस्कृति की परम्परा के जीवन्त उदाहरण हैं। भारतीय परम्परा म सस्कृति के ये रूप सबसे अधिक सम्पन्न रूप मे मिलत हैं और इतिहास के आघातो को सहकर भी आज तक जीवित हैं। लोक नृत्य और लोक गीत की परम्परा तो नागरिक समाज

मे कुछ कम हो रही है (ग्रामीण समाज म यह अब भी विद्यमान है)। किन्तु हमारी पव सस्कृति समस्त भारतीय समाज के जीवन म आज प्रतिदिन नया सौन्दय भर देती है। सस्कृति का यह रूप व्यक्ति की इकाई के आश्रय मे सम्पन्न नही होता, वरन् अनक व्यक्तिया के उस समात्म भाव म सम्प न होता है जिसे हमने कला और काव्य का स्रोत माना है। सस्कृति का जीवन्त परम्परा मे यह समात्म भाव साक्षात और सजीव रूप म मिलता है। सभ्यता के विकास मे व्यक्तिवाद के बढन पर मनुष्य की कल्पना इस समात्मभाव का अप्रत्यक्ष रूप मे विस्तार और सन्निधान करती हैं। यही से उस अभिजात सस्कृति और कला का ज म होता है जो व्यक्ति के आश्रय मे उदित होती है और जिसे सभी विद्वान सस्कृति और कला का सवस्व मानते हैं। वस्तुत सस्कृति का मूल और प्राचीन तम रूप वही है जो हम लोक सस्कृति लोक कला, लोक-काव्य आदि के रूप म मिलता हैं और जो साक्षात् समात्म भाव की स्थिति म सम्पन्न होता हैं। इस साक्षात समात्मभाव की स्थिति म सम्पन्न होन वाले मानवीय रचना के सभी रूपो को हम सस्कृति कह सकते है और इन सब मे रूप एव भाव के समान लक्षण खोज सकत हैं (जो अभिजात सस्कृति के समस्त रूपो म सम्भव नहीं है)। सस्कृति का यह मौलिक और व्यापक रूप ही मनुष्य की सर्वोत्तम विभूति है। कला और काव्य इसी व्यापक सस्कृति के अग है। भारतीय काव्य शास्त्र से भिन्न कला की व्यापक भूमिका म काव्य का रूप खोजने का जो प्रयत्न पश्चिमी आचार्यो ने किया हैं वह निस्सदेह काव्य के कुछ नवीन रहस्यो को प्रकाशित करने मे समथ हुआ है। कि तु कला और काव्य के व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण की सीमा इस प्रयत्न की विफलता का कारण रही। साक्षात् समात्मभाव की स्थिति म सम्पन्न होने वाली जीव त और व्यापक सस्कृति की भूमिका मे कला और काव्य के स्वरूप का अनुसधान सम्भवत अधिक सफल हो सकता है। इसी धारणा से हमने पिछले अध्याय मे सास्कृतिक रस के अ तगत का य के रस की चर्चा की है। कला और काव्य सस्कृति के अग ही नही, वे सस्कृति के रूप भी है। सस्कृति के सामा य लक्षण उनमे व्याप्त हैं। प्रस्तुत अध्याय म सस्कृति की इस व्यापक भूमिका मे काव्य का स्वरूप का अनुसधान हमारा उद्देश्य है।

इस अनुसधान के प्रसग मे हम कला और सस्कृति को साथ साथ ध्यान मे रखना होगा क्योकि जहाँ एक ओर कला सस्कृति का एक रूप है वहाँ दूसरी

भ्रोर कला का भी एक ऐसा सामान्य लक्षण है जो सस्कृति मे भी व्याप्त है। भ्राजकल कलात्मक प्रदर्शनो को सास्कृतिक कार्यक्रम कहा जाता है। यह भले ही भ्रम हो, किन्तु कला भ्रोर सस्कृति के एक निकट भ्रोर घनिष्ठ सम्बन्ध का द्योतक है। कला सौन्दय का सृजन है। सजनात्मकता कला का मूल लक्षण है। इसी लिये शैव तन्त्रो मे ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति को कला कहते है। शिव के मस्तक को चन्द्र कला इसी शक्ति की प्रतीक है। जिस जीवन्त सस्कृति का सकेत हमने ऊपर किया है वह भी सृजनात्मक है भ्रोर इस भ्रथ मे कलात्मक है। लोक पव, लोक नृत्य, लोक काव्य भ्रादि के रूपो म सामाजिक समात्मभाव की स्थिति मे सम्पन्न होने पर यह कला सस्कृति मे समानाथक बन जाती है। इस स्थिति म सस्कृति भ्रोर कला भ्रभिन्न दिखाई देती है। व्यक्तिगत रचना के रूप म प्रकट होने पर ही कला का सस्कृति मे भेद स्पष्ट होता है। यह भ्रभिजात कला व्यक्तियो के द्वारा नव-नव रूपो का सजन है। इन रूपो के भ्रतिशय म ही कला का सौन्दय निहित है। रूपो का भ्रतिशय ही हमारे मत मे सौन्दय की सबसे भ्रधिक व्यापक भ्रोर सबसे भ्रधिक सतोषजनक परिभाषा है। कला इस रूप के भ्रतिशय का सृजन है। भ्रपरोक्ष भ्रथवा परोक्ष किसी प्रकार के समात्मभाव के विना कला का वह सौन्दय प्रकाशित नही होता। जीवन्त सस्कृति मे भी रूप के भ्रतिशय का सौन्दय भ्रभिव्यक्त होता है। सस्कृति म सौन्दय की भ्रभिव्यक्ति साक्षात् समात्मभाव की स्थिति मे होती है। समात्मभाव रस का स्रोत है। वह भ्रानन्द का मूल उत्स है। रूप के भ्रतिशय स युक्त होने के कारण सस्कृति मे कला का भी भ्रन्तर्भाव है किन्तु सस्कृति म समात्मभाव जनित भ्रानन्द की ही प्रधानता है। इसीलिये इस जीवन्त सस्कृति के रूपो मे कलात्मक सौन्दय के नव नव रूपो का इतना सूक्ष्म विकास नही मिलता जितना कि भ्रभिजात कलाभ्रो मे मिलता हैं। यदि भेद करने के लिये हम कला को सौन्दय प्रधान भ्रोर सस्कृति को भ्रानन्द प्रधान मानें तो भ्रनुचित न होगा। कला भ्रोर सस्कृति का यह भेद सौन्दय भ्रोर भ्रानन्द की प्रधानता की दृष्टि से ही सगत है। दोनो मे ही किसी न किसी रूप भ्रोर परिमाण मे रूप केभ्रतिशय का सौन्दय भ्रोर समात्मभाव का भ्रानन्द कला भ्रोर सस्कृति का भ्रावश्यक तत्व है। लोक सस्कृति भ्रोर लोक कला मे तो बहुत भ्रधिक साम्य है। भ्रभिजात कला मे समात्मभाव का सन्निधान भ्रल्प भ्रोर भ्रप्रत्यक्ष होने के कारण नव नव रूपो के भ्रतिशय का विस्तार भ्रधिक होता है। इसके विपरीत जीवन्त सस्कृति म साक्षात् समात्मभाव

की विभूति अपरिमित होने के कारण रूप के अतिशय के परिचित रूप ही पर्याप्त होते हैं। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की अपेक्षा समात्मभाव का आनन्द अधिक स्पृहणीय होने के कारण जीवन्त संस्कृति की परम्परा में नवीन रूपों के सृजन की अपेक्षा चिरन्तन रूपों की आराधना अधिक रही है। रूपों की चिरन्तनता उस साक्षात समात्मभाव का और अधिक विस्तार करती है जो जीवन्त संस्कृति के आनन्द का स्रोत है। समात्मभाव का यह विस्तार आनन्द की भी अभिवृद्धि करता है।

कला और काव्य के अभिजात एवं व्यक्तिगत रूप इस जीवन्त संस्कृति के अन्तर्गत नहीं हैं। महाभारत, रामायण आदि की भांति कुछ ही रचनायें एक व्यापक समात्मभाव के द्वारा जीवन्त संस्कृति में समाहित हो सकी हैं। किन्तु लोक कला और लोक काव्य जीवन्त संस्कृति के प्रवाह की ही तरंग है। ये अभिजात कला और अभिजात काव्य से अधिक प्राचीन हैं। अतः कला और काव्य के सामान्य रूप का निर्धारण इनकी भूमिका में अधिक उचित होगा। कला और काव्य की सामान्य संज्ञाओं का प्रयोग सामान्य अर्थ के आधार पर ही हो सकता है। रस के अनेक रूपों में भी कुछ समान लक्षण मिलते हैं जिनका विवरण तीसरे अध्याय में किया गया है। लोक कला एवं लोक काव्य तथा कला एवं काव्य की व्यक्तिगत कृतियों में भी कुछ सामान्य लक्षण अवश्य मिल सकते हैं। चेतना की सृजनात्मक प्रवृत्ति का प्रकाश इन लक्षणों में सर्व प्रथम है। रूप का अतिशय कला का सामान्य लक्षण है। रूप का अतिशय ही सौन्दर्य है जिसकी सृष्टि और अभिव्यक्ति को कला कहा जाता है। काव्य कला का वाङ्मय रूप है जिसे शुक्ल जी ने विश्व काव्य कहा है। वह वाङ्मय न होने के कारण काव्य की अपेक्षा कला के अधिक निकट है। वस्तुतः सृष्टि को काव्य कहने पर काव्य कला का पर्याय बन जाता है। विशेष रूप से जिसे हम काव्य कहते हैं वह कला का शब्दमय रूप है। इसीलिये भारतीय काव्य शास्त्र में शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य कहा गया है (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्)। काव्य के विशेष स्वरूप का निर्धारण हम काव्य के वाङ्मय रूप के आधार पर ही करना होगा। यद्यपि कला और संस्कृति की व्यापक भूमिका में यह निर्धारण अधिक संगत और अधिक सन्तोषजनक हो सकेगा।

जीवन और जगत की निसग से प्राप्त व्यवस्था को हम 'प्रकृति' कह सकते हैं। मानवीय विचार म कृतित्व का अनुरोध होने के कारण प्राय इसे ईश्वर की कृति मानते हैं। ईश्वर की कृति होने पर ही मनुष्य को यह निसगत प्राप्त होती है। उसकी मौलिक सत्ता और मूल व्यवस्था म मनुष्य का कोई अधिकार नही है। इसके विपरीत सभ्यता सस्कृति, कला काव्य आदि को हम मनुष्य की कृति कह सकते हैं। इन सब के लिये सामा य रूप से अविवेक पूवक सभ्यता और सस्कृति पदा का प्रयोग किया जाता हैं। मनुष्य का कृतित्व इन सबका सामान्य लक्षण हैं। इन सबका उन्य और विकास मनुष्य की इच्छा व उसके अध्य वसाय स हुआ है। मनुष्य क समग्र कृतित्व को सामान्यत सभ्यता कहा जा सकता है। बबर प्राकृतिक अवस्था से आगे बढकर मनुष्य न जो किया है वह सब सभ्यता ही है। सभ्यता और सस्कृति के भेद के लिये हम मनुष्य के उस कतित्व को सभ्यता कह सकते हैं जिसम प्रकृति की प्रेरणा अधिक होती हैं जिसका सम्ब ध प्रधानत जीवन के साधनो से होता है और जिसका दृष्टिकोण मुख्यत उपयोगितावादी होता है। सस्कृति के अ तगत इस कृतित्व के उन रूपो को ही सम्मिलित करना अधिक उचित है जिनका सम्ब ध जीवन के साध्यो से है और जो प्राकृतिक अथ म उपयोगी नही है। कला काव्य आदि इस दृष्टिकोण से सस्कृति के अ तगत है। सस्कृति और कला मे भेद करना कठिन हैं क्योकि दोनो का बडा घनिष्ठ सम्ब ध है और प्राय दोनो मिल जुले रहते हैं। रूप क अतिशय के अथ म सौ दय का स निवेश दोनो मे रहता हैं। इस सौ दय का यदि हम कला का विशेषाधिकार माने तो सस्कृति मे कला को आवश्यक तत्व मानना होगा। फिर भाव का अतिशय ही एक ऐसी वस्तु है जो सस्कृति को कला से भि न कर सकती हैं। जिस प्रकार रूप के अतिशय के अथ मे सौंदर्यमयी कला सस्कृति का प्राण है उसी प्रकार कला म भी प्राय भाव के अतिशय का स निधान होता हैं। कि तु भाव का यह अतिशय कला म सवदा नही पाया जाता। चित्र कला की कल्पनायें नत्य की भगिमायें और शुद्ध सगीत के स्वर विधान एसे हो सकते हैं जिनम कोई भाव का अतिशय सन्निहित न हो। अत भाव का अतिशय कला का सामान्य लक्षण नही यद्यपि इस अतिशय का सन्निधान कला को सम्पन्न बनाता है और प्राय कलाओ मे मिलता है। इसके विपरीत भाव का अतिशय सस्कृति का आवश्यक तत्व है। मूलत सस्कृति रचना का कोई विशेष रूप नही है वरन् जीवन का ही रूप है जिसम भाव का अतिशय जीव त रूप मे

वतमान रहता है। कला म सौन्दयमय रूप उस भाव के प्रतिशय के निमित्त मर होते हैं। कला क रूपों म तत्व रूप म सन्निहित होने पर भी भाव का प्रतिशय जीवन्त रूप म शेष रह जाता है। यह इस प्रतिशय का भी प्रतिरेक है। प्रतएव जहां कला जीवन का एक ग्रग ग्रौर रचना का एक रूप है, वहां सस्कृति जीवन की साक्षात परम्परा है। सस्कृति की यह परम्परा से भाव समभाव की भूमि पर सम्पन्न होती है। सस्कृति के विभिन्न रूपों म विशय रूपों म उपलब्ध होने वाले भावों के प्रतिशय इस समात्मभाव के सागर म उठने वाली तरगे हैं। सस्कृति की त्रिवणी म सामान्य समात्मभाव विशेष भावों के प्रतिशय ग्रौर रूपों के प्रतिशय की त्रिवेणी का सगम होता है। कला का विशेष लक्षण तो रूप का प्रतिशय ही है जो सस्कृति मे भी सन्निहित रहता है। रूप के इस प्रतिशय म सौन्दय की ग्रभिव्यक्ति होती है। किन्तु कला का यह विशेष रूप विचार का एक प्रत्याहार है जो सभ्यता के विकास ग्रौर सस्कृति के ह्रास म उत्पन्न हुग्रा है। वस्तुत रूप के प्रतिशय का सौन्दय भी कला म समात्मभाव की स्थिति म ही सम्पन्न होता है। लोक कला म यह समात्मभाव साक्षात रूप म वतमान रहता है। ग्रभिजात कला म यह ग्रप्रत्यक्ष होता है ग्रौर कल्पना के द्वारा समाहित होता है। किन्तु समात्मभाव के बिना व्यक्ति के प्राकृतिक एकान्त की स्थिति म रूप के प्रतिशय का सौन्दय ग्रभिव्यक्त नहीं होता। इस दृष्टि से समात्मभाव कला ग्रौर सस्कृति दोनों का समान ग्राधार है। रूप के प्रतिशय का सौन्दय भी दोनों म समान रूप से वतमान रहता है। यदि भाव को सस्कृति की विशेष सम्पत्ति मानें तो कला को सस्कृति के ग्रन्तगत मान सकते हैं। रूप के सौन्दय की दृष्टि से सस्कृति को भी कलात्मक कह सकते हैं। सस्कृति ग्रौर कला दोनों म मानवीय चेतना की सृजनात्मक शक्ति का स्फुरण होता है। शैव तन्त्रों मे इस सृजनात्मक शक्ति को कला कहते हैं। इस दृष्टि म कला के सामान्य के ग्रन्तगत सस्कृति को एक विशेष मान सकते हैं। मनुष्य के कृतित्व को यदि हम सस्कृति कहना चाहें तो कला को सस्कृति' के सामान्य के ग्रन्तगत एक विशेष रूप मानना होगा।

ग्रस्तु कला ग्रौर सस्कृति का भेद दोनों पदों के सामान्य ग्रौर विशेष ग्रर्थों के ऊपर निभर है। यदि हम दोनों का भिन्न प्रयोग ग्रभीष्ट है तो दोनों पदों को विशिष्ट ग्रौर विविक्त ग्रथ मे ही ग्रहण करना होगा। शैव तन्त्रों के ग्रनुरूप सामान्य सृजनात्मक शक्ति के ग्रथ में कला का प्रयोग ग्रधिक प्रचलित ग्रौर

विदित नही है। अत 'सस्कृति' को ही मनुष्य के सामा य कृतित्व का वाचक मानना अधिक उचित है। सस्कृति' म समाज की एक सामान्य परम्परा रहती है और उसका रूप भी सामा य हाता है। एक ही समाज म उसके अनेक रूप इतने स्पष्ट नही होते जितने कि कलाम्रा के रूप रहते हैं। कला के अनेक रूपो के प्रचलन के कारण कला के अय म सामान्य की अपेक्षा विशेषत्व का भाव ही अधिक है। अतएव हम सस्कृति का मनुष्य के स्वतत्र और निरुपयोगी कृतित्व का सामा य वाचक मानकर उसमे कला और काव्य की स्थिति पर विचार करेंगे। साक्षात अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे समात्मभाव मनुष्य के इस सम्पूरण कृतित्व का सामान्य आधार है। इस समात्मभाव के आधार म भाव और रूप दोनो के अतिशय का सनिधान विशप अथ म सस्कृति है। रूप के अतिशय का सौदर्य विशेप अथ मे कला को ज म देता है। उसम भाव का अतिशय आवश्यक नही है। भाव के अतिशय से युक्त होने के कारण लाक कला सस्कृति का अभिन्न अग बन जाती है। लोक सस्कृति और लाक कला म समात्म भाव के अतिरिक्त विशेप भावा का अतिशय साक्षात स्थिति और रूप के अतिशय के अन्तगत तत्व इन दोनो रूपो म वतमान रहता है। कला के सामान्य रूप म इन दोनो रूपो म ही भाव के अतिशय का सनिधान आवश्यक नही है। प्रधानत रूप का अतिशय ही कला के सौ दय का विशेप लक्षण है। कला क जिन रूपा म भाव का अतिशय भी सनिहित रहता है, उसम भी रूप की प्रधानता रहती है। सस्कृति के गभ स प्रसूत होने के कारण कलाम्रा म भाव के अतिशय का महत्व भी प्राय रहता है। रूप और भाव दोना क साम्य से कला का सौदय अधिक सम्पन्न होता है। भाव के प्रति मनुष्य का सहज अनुराग भी है। इसीलिय कलाम्रो मे भाव का सनिधान भी रहता है। किन्तु वस्तुत भाव का अतिशय सस्कृति का ही विशेप लक्षण है। सस्कृति म रूप का अतिशय एक निमित्त मात्र है। अत उसमे भाव की ही आराधना अधिक रहती है। इसी कारण सस्कृति की परम्परा म रूप का विकास अधिक नही होता, वरन् प्राचीत रूपा की आराधना रूढ हा जाती है। सस्कृति की परम्परा म पुरातन रूपो के आधार पर जीवन के सनातन भावा की पुन पुन अभिव्यक्ति होती है। इसके विपरीत कला के क्षेत्र म नये नये रूपो का विकास होता है। इस दृष्टि से सस्कृति और कला का इतिहास एक दूसरे से बहुत भि न है। सस्कृति पुरातन की आराधना है। कला नवीन रूपो की रचना है। केवल मनुष्य के सामान्य कतित्व के अथ म सस्कृति

का प्रयोग करने पर ही कला सस्कृति का एक अग है। सस्कृति का विशेष रूप उस सामान्य के अ तगत एक विशेष है जो कला के विशेष से भिन है। रूप और भाव की प्रधानता कला और सस्कृति के विशेष रूपों के विशेष लक्षण हैं।

रूप अभिव्यक्ति का बाह्य आकार है। भाव अभिव्यक्ति का आन्तरिक मम है। उस चेतना का रूप कह सकते हैं। किन्तु चेतना म रूप और भाव प्राय अभिन्न रहते हैं। भाव की आन्तरिक अभिव्यक्ति की दिशा आनन्द के सामान्य की ओर होती है। अत भावो म इतनी अधिक और स्पष्ट भिन्नता नही होती। प्राय भावो की भिन्नता बाह्य रूपो, सम्ब धो और अनुपगो के आधार पर की जाती है। उनके स्वगत स्वरूप क भेद अधिक स्पष्ट नही होते। इसके विपरीत रूप की बाह्य अभिव्यक्ति मे अनेक रूपता अधिक स्पष्ट होती है। परमेश्वर की कला शक्ति के सौन्दय की अभिव्यक्ति भी सृष्टि के अनेक रूपो म हुई है। ये रूप एक दूसरे से स्पष्टत भिन्न है। ये रूप अनेक और अन त हैं। रूपो की अनेकता के आधार पर ही कलाओ के अनेक रूप निर्मित हुए हैं। भावो का ग्रहण एक ही चेतना के द्वारा होता है। इसीलिये उनम समानता अधिक होती है और उनकी गति एकता की ओर होती है। रूपो का ग्रहण इद्रियो के द्वारा होता है। अत उनकी अनेकता स्वाभाविक और सिद्ध है। रूप के ये अनेक भेद कला के अनेक रूपो को ज म देते है। वसे तो रूप सृष्टि और प्रकृति का सामान्य रूप है किन्तु प्रकृति म रूप का अतिशय नही होता। उपयोग के अतिरिक्त रूप को अतिशय कहते है। प्रकृति का रूप प्राकृतिक अर्थ म उपयोगी है। अपने दृष्टि कोण के अनुसार जब हम प्रकृति के रूपो को निरुपयोगी अतिशय के रूप मे देखते हैं तभी हम प्रकृति के रूपो मे सौन्दय दिखाई देता है। कदाचित उपयोग म रूप की महिमा और मनुष्य की स्वतत्रा कम हो जाती है। सम्भवत निरुपयोगिता म रूप की महिमा और मनुष्य की स्वतत्रता के कारण ही सौन्दय प्रकट होता है। रूप के अतिशय म निरुपयोगिता और स्वतत्रता दोनो ही प्रखरता एव प्रचुरता से रहते है। इसी लिये रूप क अतिशय म सौन्दय साकार होता है। रूप के अनेक प्रकार इस अतिशय के द्वारा अनेक कलाओ को ज म देते हैं। चित्रकारी नृत्य सगीत काव्य आदि इन कलाओ के प्रसिद्ध प्रकार हैं। दृश्य रूप की रचना चित्रकला है। स्वर के सुन्दर रूपो का विधान सगीत है। अगो की भागिमाओ का सौन्दय नृत्य है। शब्दो की कला का

नाम काव्य है। इन कलाओं में रूपों का सम्मिश्रण भी होता है। नृत्य में रूप, स्वर और गति तीनों का समवाय है। रंजित भूषा, नूपुरध्वनि और अंग भंगिमा से रहित नृत्य की कल्पना कठिन है। यह सम्मिश्रण कला के सौंदर्य का अधिक सम्पन्न बनाता है। इन विविध कलाओं में प्राय भावों का भी सन्निधान होता है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है और कला का विशेष कौशल भाव में नहीं वरन् रूप की ही विशेषता में रहता है। संगीत के आलाप और तान इस के उदाहरण हैं। भाव के प्रति मनुष्य का सहज अनुराग है। संस्कृति के भाव मय गर्भ से उत्पन्न होने के कारण सभी कलाओं में भाव का सन्निधान होता रहा यद्यपि कलाविद कला का विशेष सौंदर्य रूप के प्रपंच में ही मानते रहे हैं।

इन कलाओं में काव्य की स्थिति विलक्षण है। अन्य कलाओं में समात्म-भाव के अतिरिक्त अन्य विशेष भावों का सन्निधान आवश्यक नहीं है। किन्तु इन विशेष भावों के बिना काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से काव्य को अन्य कलाओं की अपेक्षा संस्कृति के अधिक निकट माना जा सकता है, यद्यपि सामान्य धारणा में अन्य कलायें संस्कृति के अधिक निकट समझी जाती है। इन दोनों ही धारणाओं के कारण इन कलाओं के विशेष माध्यमों में खोजे जा सकते हैं। काव्य का माध्यम शब्द एक सार्थक ध्वनि है। अर्थ रहित शब्द संगीत का स्वर बन जाता है। सार्थक शब्द भाषा और काव्य की सम्पत्ति की है। भाषा के शब्द और अर्थ पार्वती और परमेश्वर के समान अभिन्न हैं, जिनकी वंदना कालिदास ने रघुवंश के मंगलाचरण में की है। भामह के काल से काव्य शास्त्र में चली आने वाली काव्य की वह परिभाषा मूलत ठीक है, जिसके अनुसार शब्द और अर्थ का साहित्य ही काव्य का लक्षण है, यद्यपि इस साहित्य के स्वरूप की संतोष जनक व्याख्या हमारे काव्य शास्त्र में नहीं हो सकी। शब्द के अर्थ को हम भाव भी कह सकते हैं यद्यपि विशेष अर्थ में भाव अर्थ के अनेक प्रकारों में से केवल एक है। शब्द के समग्र अभिप्रेत को भी हम भाव कह सकते है। मानवीय सम्बन्धों के रागात्मक रस से युक्त भाव सामान्य अर्थ अथवा भाव का एक विशेष रूप है। भाव के इस विशेष रूप का समाहित और व्यक्त करने की शक्ति शब्द का एक अद्भुत चमत्कार है। मूलत यह चमत्कार आत्मा अथवा चेतना का लक्षण है। इसी लिये शब्द दर्शन में शब्द को ब्रह्म माना गया है। जीवन्त संस्कृति के पर्वों में भाव के ये विशेष रूप साक्षात रूप में अभिव्यक्त होते

हैं। काव्य शब्द की अदभुत शक्ति के द्वारा उसे समाहित, अंकित और अभिव्यक्त करता है। इस दृष्टि से काव्य जीवन का प्रतिबिम्ब अथवा चित्रण है, जो शब्द के समर्थ माध्यम के द्वारा सम्भव होता है। इसके अतिरिक्त सामान्य और व्यापक अर्थ में भी भाव का सन्निधान काव्य में होता है। दोनों ही प्रकार से भाव को काव्य का तत्त्व कह सकते हैं, जो शब्द के रूप में अभिव्यक्त और साकार होता है। विशेष रूप में भाव सम्पत्ति को समाहित करने के कारण काव्य संस्कृति के निकट है। यद्यपि दोनों में इतना अन्तर है कि संस्कृति में यह भाव जीवन की साक्षात् स्थिति में अभिव्यक्त होता है और काव्य में वह शब्द के अन्तर्निहित तत्त्व के रूप में समाहित होता है। शब्द में सुरक्षित भाव इतना सजीव नहीं होता और साक्षात जीवन के स्पर्श के द्वारा ही उसमें प्राणों का स्पन्दन प्रकट होता है। काव्य के भाव को यह स्पर्श रचना में कवि की प्रतिभा से और आस्वादन में सहृदय की भावना से प्राप्त होता है।

अन्य कलाओं में भाव का सन्निधान यद्यपि आवश्यक नहीं है, किन्तु प्रायः होता है। यहाँ तक संस्कृति के अंचल में काव्य और अन्य कलाओं का समान स्थान है। किन्तु कुछ कलाओं के रूप में ऐसी विशेषता है जिसके कारण वे काव्य की अपेक्षा संस्कृति के अधिक निकट आ जाती हैं। यह विशेषता मुख्य रूप से उन कलाओं के सर्जन और प्रदर्शन की अभिन्नता है। यह विशेषता नृत्य और संगीत में सबसे अधिक पाई जाती है। इसी कारण संस्कृति में इन कलाओं की अधिक महिमा है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' का रहस्य भी इसी विशेषता में निहित है। प्रदर्शन रचना की सामाजिक अभिव्यक्ति है। उसमें समारम्भाव की आकांक्षा और सम्भावना रहती है। नृत्य और संगीत में सौन्दर्य की रचना रसिकों के समक्ष साक्षात रूप में होती है। इसे प्रदर्शन कहा जाता है। किन्तु वस्तुतः यह सर्जन का ही सामाजिक रूप है। संस्कृति के साक्षात समारम्भाव और विशेष भाव दोनों में यह साक्षात सृजनात्मकता ही सौन्दर्य एवं आनन्द की सृष्टि करती है। इस साक्षात सर्जनात्मकता के कारण ही नृत्य और संगीत संस्कृति में सबसे अधिक आदर पाते रहे हैं। काव्य में केवल नाटक का अभिनय इस गौरव का अधिकारी है। काव्य के अन्य रूप, चित्र कला, मूर्ति कला आदि इस साक्षात सर्जनात्मकता के अभाव के कारण ही संस्कृति में कम महत्त्वपूर्ण रहे हैं। संगीत में समाहित होकर ही लोक काव्य संस्कृति में समादृत रहा है।

दूसरी ओर कला के जिन रूपों में सजन और प्रदर्शन की अभिन्नता का अभाव है उनके माध्यम अधिक स्थायी हैं। अत यदि संस्कृति की परम्परा में वे अधिक आदृत नहीं तो अधिक सुरक्षित अवश्य रहे हैं। नृत्य, संगीत आदि में सद्य सजन और उससे अभिन्न प्रदर्शन की क्षमता इनकी महिमा की रक्षा करती रही है। इस क्षमता के कारण इनके नश्वर माध्यम में अभिव्यक्त सौंदर्य भी अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक स्थायी रहा है। भारतीय परम्परा में कथा पारायण तथा श्रवण द्वारा काव्य भी संगीत के समान साक्षात सजीवता को अपने स्थायित्व में सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता रहा है।

अस्तु शब्द और अर्थ का व्यापक साहित्य काव्य का सबसे अधिक व्यापक और सामान्य लक्षण है। कला की दृष्टि से काव्य शब्द के माध्यम से अभिव्यक्त सौन्दर्य ही है। किन्तु 'शब्द' स्वर, संगीत आदि की भांति भाव रहित रूप नहीं है। अत काव्य में रूप और भाव की स्थिति और उनके परस्पर सम्बन्ध को समझने पर ही काव्य का सही रूप समझा जा सकता है। संस्कृति, कला और काव्य की परम्परा की दृष्टि से काव्य एक सांस्कृतिक और कलात्मक रचना है। वह मनुष्य की उन रचनाओं से भिन्न है, जो प्रकृति की उपयोगिता और विवशता से प्रेरित होती हैं। काव्य मनुष्य के स्वतन्त्र संकल्प की सृष्टि है। ऐसी रचना को ही संस्कृति तथा कला कहते हैं। विशेष अर्थ में संस्कृति में भाव की प्रधानता और कला में रूप की प्रधानता होती है। काव्य में क्रमश दोनों का प्राधान्य तथा दोनों का साम्य भी सम्भव है। अत काव्य की गणना संस्कृति तथा कला के सामान्य और विशेष दोनों रूपों के अन्तर्गत हो सकती है। अन्य कलाओं से काव्य का इतना ही भेद है कि नृत्य और संगीत की भांति केवल रूप का सौन्दर्य काव्य में सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि काव्य का माध्यम शब्द है और काव्य में उसका प्रयोग सदा सार्थक होता है। शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य का अनिवार्य रूप है किन्तु सामान्यत शब्द और अर्थ का यह सहित्य समस्त वाङमय का लक्षण है। इसीलिये साहित्य पद के अर्थ का इतना अधिक विस्तार हुआ है कि काव्य से लेकर व्यापारिक विज्ञापन तक की भाषागत रचनायें उसमें सम्मिलित की जाती हैं। भाषा के माध्यम से रचित जो कुछ भी है वह सभी कुछ साहित्य है क्योंकि उसमें शब्द और अर्थ दोनों साथ साथ पाये जाते हैं। किन्तु यह समस्त साहित्य एक प्रकार का नहीं है। कलात्मक तथा

अन्य साहित्य में अ तर है। कलात्मक साहित्य रूप के अतिशय से युक्त होता है। रूप का अतिशय ही कलात्मक सौ दय का लक्षण है। वाड्मय साहित्य का रूप शब्द है। अर्थ अथवा भाव उसका तत्व है। रूप क अतिशय का अभिप्राय शब्दो की बहुलता नही है। बहुलता एक परिमाण वाची शब्द है। परिमाण का सम्ब घ तत्व स हो सकता है किन्तु रूप स नही। रूप रचना की प्रणाली, विधि अथवा शली है। वह तत्व की व्यवस्था म ही तत्व की अभिव्यक्ति होती है। अत रूप अभिव्यक्ति की शली है। रूप के अतिशय का अथ तत्व की व्यवस्था की समृद्धि है। तात्पय यह है कि उपयोगिता की दृष्टि से जो न्यूनतम व्यवस्था सम्भव है, उसे ग्रहण न कर रूप का जो विस्तार किया जाता है वही रूप का अतिशय है। सगीत के स्वर सतान म इस रूप के अतिशय का स्पष्ट उदाहरण मिलता है। साहित्य अथवा काव्य म यह स्वर का सतान अथवा शब्द की बहुलता नही वरन् शैली का अतिरेक है।

रूप का यह अतिशय ही कलात्मक साहित्य को अ य साहित्य से भिन्न करता है। अ य साहित्य म रूप का अतिशय अभीष्ट नही होता। कलात्मक साहित्य ही काव्य है। इस दृष्टि से काव्य की परिभाषा अत्यन्त व्यापक हो जाती है। रूप के अतिशय से युक्त समस्त वाड मय का समाहार उसम हो सकता है। पद्य भी काव्य है क्यो कि छ द विधान रूप का अतिशय है। व्याकरण ज्योतिष दशन धम शास्त्र आयुर्वेद आदि के छ दो बद्ध ग्र थ भी का य के अ तगत हैं। उनके छ द विधान मे रूप का अतिशय है जो उनकी रचना म सौ दय का स नि धान करता है। इस सौ दय के आधार पर कला की पक्ति मे उनका स्थान है, जो अनधिकार नही। भाव के अतिशय को अधिक महत्व देन वाले कवि इन कलात्मक रचनाओ को, जिनमे भाव का अतिशय नही है, काव्य क क्षत्र से बहिष्कृत करते रहे हैं। कि तु इन रचनाओ के पाठक इनम काव्य के समान सौ दय दखते रहे हैं। इसी कारण पाठको का इनम उन सामा य शास्त्रो से अधिक अनुराग रहा है जिनम रूप का अतिशय नही है। चित्र काव्य तथा अ य प्रकार के चमत्कारो से पूण काव्य भी काव्य की कोटि के अन्तगत हैं चाहे उ हे अधम काव्य की कोटि म ही रखा जाय। काव्य की श्रेणी और श्रेष्ठता का प्रश्न काव्य क सामा य रूप स पृथक है। काव्य की सामान्य परिभाषा वही हो सकेगी, जो अपनी परिधि म काव्य क समस्त रूपा का समाहार

कर सके और वाङ्मय के उन रूपो से उनका विवेक कर सके जि ह काव्य नही कहा जा सकता । यदि काव्य एक कला है और रूप का अतिशय कला के सौन्दय का लक्षण है, तो भाषा गत अभिव्यक्ति क रूप मे किसी प्रकार के अतिशय से युक्त रचना को काव्य कहना होगा ।

अस्तु, समस्त वाङमय का विभाजन दो भागो म किया जा सकता है। एक जिसम रूप का अतिशय नही है तथा दूसरा जो रूप के अतिशय से युक्त है । पहले को हम विज्ञान अथवा शास्त्र कह सकते हैं जिसम रूप के अतिशय के लिये कोई स्थान नहीं है । अर्थ अथवा भाव ही इसका मुख्य लक्ष्य है । रूप उसका साधन मात्र है । अथ विवरण के लिये उसका विस्तार कितना ही किया जाये किन्तु उसका अतिशय इसम अभीष्ट नही होता । रूप के प्रति शास्त्रो और विज्ञानो का दृष्टिकोण उपयोगितावादी होता है । वाङ मय के दूसरे विभाग म रूप का अतिशय अभीष्ट ही नही होता वरन् साध्य बन जाता है । रूप के अतिशय से युक्त वाङ मय को काव्य' कह सकते हैं । दोनो ही प्रकार के वाङ्मय म शब्द और अथ का साहित्य' होता है क्योकि एक प्रकार से यह साहित्य भाषा का सामा य लक्षण है । कि तु उक्त दोनो प्रकार के काव्यो मे इस साहित्य का रूप एक सा नही रहता । शब्द का सदा अथ क सहित होना साहित्य का सामान्य रूप है । यह तो वाङ मय के सभी रूपो म सदा विद्यमान रहता है । किन्तु जब किसी विशेष शब्द (रूप) और अथ (भाव) का सम्बन्ध अनिवाय बन जाता है, तो इसे 'साहित्य' का विशेष रूप कहना होगा । काव्य म साहित्य' का यही विशेष रूप मिलता है । इसमे कुछ विशेष शब्दो और अर्थों अथवा रूपो और भावो का सम्ब घ इतना घनिष्ठ हो जाता हैं कि उन्ह पृथक नही किया जा सकता । इस घनिष्ठता का अभिप्राय यह है कि इस 'साहित्य' म सम्बद्ध शब्दो को दूसरे शब्दो से और भावो को दूसरे भावा से बदला नही जा सकता । शब्द और भाव के साहित्य की यह घनिष्ठता स्त्री पुरुष के उस अन य प्रेम के समान है, जिसके अनेक उदाहरण मनुष्य समाज म मिलते हैं । रघुवश के मगलाचर म कालिदास के पावती और परमेश्वर के अन य भाव की उपमा शब्द और अथ की इसी सम्पृक्ति से दी है । लिङ्ग के औचित्य के लिये उन्होने पुलिंग 'शब्द' के स्थान पर स्त्री लिङ्ग वाक का प्रयोग किया है तथा अन य भाव की अभिव्यक्ति क लिये द्वन्द्व समास का उपयोग किया है । कालिदास ने वागथ की सम्पृक्ति का

जो उदात्त रूप हमारे सामने रखा है। वह केवल काव्य का ही नहीं वरन् उत्तम काव्य का उदाहरण है। इसमें शैव दर्शन के शक्ति शिव साम्य के समस्त गम्भीर रहस्य अन्तर्निहित हैं, जो जीवन, संस्कृति और साहित्य के सर्वोत्तम रूपों को प्रकाशित करते हैं। इन रहस्यों का पूर्ण अवगाहन और विवरण कठिन है। किन्तु सामान्यतम रूप में शब्द और अर्थ की अनन्यता सभी काव्य का सामान्य लक्षण है। पद्यबद्ध शास्त्रों और विज्ञानों में भी वह अनन्य भाव विद्यमान रहता है। इसीलिये काव्य की कोटि में उनको भी सम्मिलित करना उचित है। इस अनन्य भाव की कसौटी क्या है? परिवर्तन की सम्भावना तथा वाञ्छनीयता ही इसकी कसौटी हो सकती है। सम्भावना का सम्बन्ध शब्द की क्षमता से है। अनिर्वचनीय भावों के प्रसंग में आकर इस सम्भावना की सीमा हो जाती है। जहाँ शब्द ऐसे अनिर्वचनीय भावों को व्यक्त करते हैं अथवा उनकी अभिव्यक्ति के निमित्त बनते हैं वहाँ परिवर्तन की सम्भावना नहीं रहती। वाञ्छनीयता का प्रश्न काव्य के सौन्दर्य और आनन्द से सम्बन्धित है। सौन्दर्य और आनन्द का अपघातक होने पर यह परिवर्तन सम्भव होने पर भी वाञ्छनीय नहीं होता। यह स्पष्ट है कि परिवर्तन की यह सम्भावना निर्वचनीय विषयों के क्षेत्र में ही हो सकती है। किन्तु इन क्षेत्रों में भी यह परिवर्तन सौन्दर्य का अपघातक होता है। अतः यह वाञ्छनीय नहीं। उदाहरण के लिये हम काव्य के किसी भी छन्द को ले सकते हैं। पाठ्य पुस्तकों में काव्य के छन्दों का अर्थ गद्य में दिया जाता है। मूल छन्द और उसके इस रूपान्तर में भाव का कोई अन्तर नहीं रहता। रूपान्तरकार का लक्ष्य भाव को बदलना नहीं वरन् तथावत रखना होता है। शब्दों में भी बहुत कम अन्तर होता है। मुख्य अन्तर समस्त वाक्य अथवा छन्द के समग्र रूप की तुलना से ही विदित होता है। भाव की समानता और शब्दों के न्यूनतम परिवर्तन के होते हुए भी छन्दों के इस रूपान्तर में काव्य का सौन्दर्य पूर्ववत् नहीं बना रहता। उसमें सौन्दर्य की हानि होती है। इसीलिये समान भाव होने पर भी इस रूपान्तर को काव्य नहीं माना जाता। पद्यबद्ध शास्त्र और विज्ञान की पद्यबद्ध रचनाओं में भी इस प्रकार के रूपान्तर से सौन्दर्य की हानि होती है। इसीलिये वे भी काव्य के अन्तर्गत हैं। उनमें भी शब्द और अर्थ का साहित्य विद्यमान है। इस रूपान्तर में रूप का वह अतिशय नष्ट हो जाता है जिस पर काव्य का सौन्दर्य निर्भर है और इस रूप के अतिशय का भाव से अभिन्न सम्बन्ध है। अस्तु, साहित्य का वह विशेष रूप जिसमें विषय का

और भाव अन य रूप से सम्पृक्त रहते हैं ? वाङ्मय 'साहित्य' को काव्य का पर्याय बनाता है। इस अनन्य भाव के अ य सूक्ष्म और गम्भीर लक्षण काव्य म श्रेष्ठता की श्रेणियों का विधान करत हैं। विनान और शास्त्र म इस विशेष अथ का साहित्य नही होता। शब्द अथवा रूप को बदलने से उसम प्रयोजन की हानि नही होती,। यह प्रयाजन सौ दय की अभिव्यक्ति नही वरन् अथ का अभिधान होता है। अथ के इस अभिधान मे सहायक होने पर रूप का परिवतन शास्त्र और विज्ञान मे वाञ्छनीय होता है। काव्य म यह परिवतन तभी वाञ्छनीय होता है जबकि वह सौन्दय की अभिवृद्धि करता है। भवभूति के 'अविदित गत यामा रात्रिरेव व्यरसीत्' मे 'एव के स्थान पर 'नव' का परिवतन इसका उदा हरण है। किन्तु तब काव्य का परिवर्तित रूप ही श्रेष्ठतर रूप होगा और उसमे परिवतन सम्भव होने पर वही अनन्यता का भाव सिद्ध होगा जिसे हमने काव्य का लक्षण माना है।

शब्द और अथ के इस साहित्य म शब्द काव्य का रूप है और अथ अथवा भाव काव्य का तत्व है। काव्य मे शब्द और अथ का अन य भाव से साहित्य होता है। ऐसा विज्ञान और शास्त्र म नही होता। कि तु साथ ही यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि काव्य एक कला है और रूप का अतिशय ही कला के सौन्दय का सामा य लक्षण है। अत काव्य म केवल शब्द मय रूप के साथ नही (जो सवत्र पाया जाता है) वरन् रूप के अतिशय के साथ भाव अथवा अथ का साहित्य होता है। यह रूप का अतिशय क्या है ? उपयोगिता से अधिक रूप का चमत्कार अतिशय कहा जा सकता है। उपयोगिता का सम्ब ध रूप की अपेक्षा तत्व स अधिक है। निवचनीय तथा अभिधेय अथ तक ही उपयागिता का क्षेत्र है जिसका निश्चित निर्धारण और निवचन नही हो सकता। उसकी उपयोगिता का प्रसग ही असगत है। अत उपयोगिता से अधिक रूप का चमत्कार रूप का अतिशय है। रूप का यह अतिशय सीमित और विस्तृत तथा निवचनीय और अनिवचनीय दोनों ही प्रकार के भावो स सम्बद्ध हो सकता है। अभिहित के अ तगत न हाने पर अभिधेय (जिसका अभिधान सम्भव है) भाव तत्व का भाव का अतिशय कहा जा सकता है। भाव के अतिशय के य दो प्रधान रूप हैं। इन दोनो ही रूपो म भाव का अतिशय होने पर काव्य का सौन्दय समृद्ध होता है। विज्ञान और शास्त्र के पद्यबद्ध ग्रन्थो मे भाव का अतिशय नही होता। भाव की यथायता

ग्रौर उनका ग्रभिघान इन ग्र थो का मुख्य लक्षण है। रूप के ग्रतिशय का सन्निघान उनमे सौन्दय के द्वारा इस लक्ष्य को सुगम बनाने के लिये किया जाता है। ग्रत वे काव्य की व्यापक परिभाषा की परिधि म ग्रा जाते हैं। किन्तु भाव का ग्रतिशय इनमे नही होता। इसीलिये प्राय इ ह काव्य की कोटि म नही गिना जाता। घम, ग्रध्यात्म, भक्ति, तत्र, दशन ग्रादि के पद्य बद्ध ग्र थो मे दोनो ही रूपो मे भाव का ग्रतिशय रहता है। इसीलिये उ ह काव्य के ग्र तगत सम्मिलित करना उचित है।

भाव का ग्रतिशय होने पर काव्य म रूप ग्रौर भाव दोनो के ग्रतिशय का ग्रधिक साम्य हो जाता है। ग्रतिशयो के इस साम्य मे सम्पृक्ति की घनिष्ठता दृढता ग्रौर दोनो की ग्रन यता का भाव ग्रधिक दृढ होता है। यह समृद्ध साम्य काव्य गत 'साहित्य' को सुदृढ ग्रौर श्रेष्ठ बनाता है। इस साम्य के ग्राधार पर साहित्य ग्रथवा काव्य के दो भेद किये जा सकते हैं। काव्य का एक प्रकार वह है जिसमे रूप का ग्रतिशय होता है किन्तु भाव का ग्रतिशय नही होता। शास्त्र ग्रौर विज्ञान के पद्यबद्ध ग्र थ काव्य को इसी श्रेणी मे हैं। का य के इस प्रकार म रूप का परिवतन सम्भव ता हाता है कि तु वान्छनीय नही होता। काव्य का दूसरा प्रकार वह है जिसम भाव ग्रौर रूप दानो के ग्रतिशय का ग्रन यभाव स साहित्य होता है। का य के इस प्रकार मे रूप का परिवतन न सम्भव होता है ग्रौर न वान्छनीय। ग्रभिघेयभाव के ग्रनभिमहित होने पर यह परिवतन कुछ सम्भव भी हो सकता है कि तु वाछनीय नहा होता क्योकि उससे काव्य क सौन्दय का ग्रपघात होता है ग्रौर भाव के साम्य का ग्रथ उनकी परिमाणगत समानता नही वरन् उनका सम्ब घगत सामजस्य है। यह सामजस्य शास्त्र ग्रौर विनान के ग्र थो म भी होता हैं। कि तु उनमे रूप ग्रौर भाव का ग्रतिशय नहीं होता। इन ग्र थो म ग्रथ ही लक्ष्य होता है ग्रौर रूप का प्रयोजन ग्रथ को निश्चित ग्रौर निर्धारित करना होता। इसके विपरीत जिस का य म रूप ग्रौर भाव दोना का ग्रतिशय होता है उसम दोना एक दूसरे की ग्रनिश्चित सीमाग्रा म ग्रभिवृद्धि करत हैं। शास्त्र ग्रौर विज्ञान में भी रूप ग्रौर भाव एक दूसरे के उपकारक होते हैं कि तु वे एक दूसर के ग्रभिवधक नही हाते है। काव्य में वे एक दूसरे के ग्रभिवधक बन जाते हैं। ग्रत उनका साहित्य' ग्रधिक समृद्ध एव दृढ हा जाता है।

काव्य म रूप और भाव के अतिशय का हम सक्ति, अहकार, रस, रीति आदि काव्य शास्त्र के परिचत अगो के प्रसग म रख सकते हैं। इस प्रकार काव्य के स्वरूप का यह अभिनव विवेचन काव्य शास्त्र की परम्परा से सम्बद्ध भी हो सकेगा और साथ ही काव्य शास्त्र के परिचत सिद्धा तों के प्रकाश मे केवल स्वरूप का यह विवचन अधिक विशद और प्रमाणिक बन सकेगा। काव्य शास्त्र की परम्परा मे रस, रीति, अलकार, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि को काव्य के लक्षणो म विशिष्ट स्थान दिया गया है। अधिवाश आचाय रस का काव्य की आत्मा मानत हैं। काव्य शास्त्र के अन्तिम महान् आचाय विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' की। अ य आचाय काव्य के उपकरणो म अलकार, रीति आदि तत्वो को आवश्य मानते हुए भी काव्य के स्वरूप म रस को ही परम महत्व देते हैं। काव्य शास्त्र के इतिहास मे रस का सिद्धा त ही अधिक पल्लवित हुआ है। 'विभावानुभाव सचारि सयोगात् रस निष्पत्ति 'इस भरत के रस सम्ब धी आदि सूत्र की व्याख्या अनेक प्रकार से हुई है। अन्त मे अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद म रस सिद्धा त की परिणति हुई। अलकार को महत्व देने वाले अग्निपुराण, दण्डी आदि भी रस को ही काव्य का परम तत्व मानते हैं।

वाग्वदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्
—अग्निपुराण ३३७/३३
काम सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति
—काव्यादश १/६२

अभिनव गुप्त के बाद विभाव आदि के सहयोग स स्थायी भावो की अभिव्यक्ति क रूप मे रसवाद ही काव्य शास्त्र का सवमा य सिद्धान्त बन गया। हि दी के मध्यकालीन और आधुनिक आचाय भी रसवाद की परम्परा को ही मानत रहे हैं। रस सिद्धा त के अतिरिक्त एक आनदवधन का ध्वनि सिद्धा त ही सबसे अधिक महत्वपूण है। रस की अपक्षा ध्वनि अधिक व्यापक है। रस ध्वनि के अतिरिक्त ध्वनि के दो अ य रूप आन दवधन ने स्वीकृत किये हैं, यद्यपि रस ध्वनि को ही उ होने का य का सवश्रेष्ठ रूप माना है। अलकार, रीति वक्रोक्ति औचित्य आदि को का य का सवस्व किसी ने नही माना हैं। अलकार के सम्ब ध मे तो केवल एक ही प्रश्न मुख्य रहा है कि अलकार काव्य का

आवश्यक अग है अथवा नही। मम्मटाचाय के 'अनलकृति पुन क्वापि' से यह विवाद आरम्भ हुआ कि अपवाद रूप स भी अलकार रहित काव्य सम्भव हो सकता है अथवा नही। मम्मट ने अपनी व्याख्या म स्पष्ट किया है कि अभिप्राय अलकार रहित काव्य से नही वरन् अस्फुट अलकार से है। फिर भी जयदव ने इस प्रसग मे वह तीक्ष्ण व्यग किया है, जो काव्य शास्त्र म प्रसिद्ध है।

अङ्गी करोति य काव्य शब्दार्थावनलकृती।
असौ न म यत कस्मादनुष्णमनलकृती ॥
—च द्रालोक १/८

दण्डी का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार उष्णता अग्नि का आवश्यक धम है उसी प्रकार अलकार काव्य का आवश्यक धम है। काव्य म अलकार की आवश्यकता को सभी आचाय मानते है और अलकारवादी भी यह मानते हैं कि अलकार ही काव्य का सवस्व नही है। उनके अनुसार भी अलकार रस के सहयोगी हैं। रीति वक्रोक्ति और औचित्य के प्रवतको न अपने सिद्धान्तो को अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है और अपने सिद्धा तो मे रस ध्वनि आदि को भी समेटने की चेष्टा की है। रीतिकार, वामन, रीति को ही काव्य की आत्मा मानते है। कु तक और क्षेमे द्र ने क्रमश वक्रोक्ति और औचित्य को काव्य का प्राण (जीवित) माना है। काव्य शास्त्रो के इन आचार्यों क कुछ आग्रह और अतिचार अवश्य है, कि तु साथ ही इन मतो मे काव्य के अत्यत महत्वपूण रहस्य प्रकाशित हुए है। इन रहस्यो के आलोक म काव्य के स्वरूप का निर्धारण अधिक समुचित और समीचीन हो सकेगा।

भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा मे यह धारणा आरम्भ से ही स्पष्ट रही है कि शब्द और अथ के 'साहित्य' से काव्य की रचना होती है। शब्द और अथ के इस साहित्य का निरूपण हम अभी कर चुके हैं। हमारे मत मे इस साहित्य का अथ शब्द और अथ का समवाय सम्ब ध है। काव्य मे यह समवाय सामा यत रूप के अतिशय के साथ होता है और प्राय भाव के अतिशय के साथ होता है। साहित्य क इस समवाय म शब्दो म परिवतन नही किया जा सकता। शब्दो के बदलने पर काव्य का सौ दय अक्षुण नही रह सकता।

भाव अथवा भाव के अतिशय के शब्दगत रूप के अतिशय का समवाय ही काव्य गत साहित्य का मम है। *साहित्य का यह समवाय अभिव्यक्ति की एक विशेष* भगिमा के द्वारा होता है जिसे ध्वनि, वक्रोक्ति रीति, अलकार आदि के रूप मे निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। रीति सम्प्रदाय मे इस अभिव्यक्ति का केवल शब्दगत मानकर तथा रीति को गुणात्मक मानकर इस अभिव्यक्ति को कुछ सीमित कर दिया गया है। ओज माधुय आदि गुण केवल शब्दगत ही नही होते वरन् भावगत भी होते हैं। गुणो को भावगत मानकर रीति को श्रेष्ठ काव्य का (जिसम भाव का अतिशय रहता है) व्यापक लक्षण बनाया जा सकता है। गुणा के भावात्मक रूप को समाहित कर रीति उस अभिव्यक्ति का पर्याय बन सकती है जो काव्य मे शब्द और अथ के साहित्य को सम्पन्न करती है। *काव्य की कलात्मक अभिव्यक्ति शब्द और अथ की भगिमा पर पृथक पृथक निभर* नही है वरन् दोनो की भगिमा के तादात्म्य म निहित है। शक्ति और शिव के *साम्य के समान अभिव्यक्ति के दोनो पक्षो का साम्य ही उत्तम काव्य का रहस्य* है। इसीलिये काव्य शास्त्र न रीति के अतिरिक्त अन्य सभी सम्प्रदायो म शब्द और अथ दोनो पक्षो का ग्रहण किया गया है। वक्रोक्ति मे कुछ रीति के समान ही शब्द भगिमा की प्रधानता है। किन्तु जिस प्रकार माधुय आदि गुणो को भाव मे व्याप्त मानकर उसे काव्य का व्यापक लक्षण बनाया जा सकता है, उसी प्रकार वक्रोक्ति की शब्द भगिमा मे भाव की भगिमा को समाहित कर उसे भी काव्य का व्यापक लक्षण बनाया जा सकता है। इस सिद्धान्त मे कुछ भाव की प्रधानता दिखाई देती है। यद्यपि अधिकांश आचाय अलकार, रीति, ध्वनि आदि को रस का उपकारक मानते हैं फिर भी रस के स्वरूप म अनुभूति-पूर्ण भाव की ही प्रधानता है। रस की इस धारणा का आधार यह है कि सभी आचाय जीवन के अनुरूप रस की कल्पना करते हैं। जीवन की अनुभूति के रूप *म भी रस की जो कल्पना आचार्यों ने की है उसमे भी प्राकृतिक रसों को ही प्रधानता है। वात्सल्य, भक्ति आदि रसो को काव्य शास्त्र मे पीछे स्थान मिला है। शा त रस की रसात्मकता सदिग्ध है। अन्य सात रस प्रधानत प्राकृतिक* भावो पर ही आश्रित हैं। आध्यात्मिक रस की कल्पना आचार्यों की सूझ नही वरन् वैदिक ऋषियो की देन है। काव्य शास्त्र के आचाय एक ओर उपनिषदो के आध्यात्मिक रस का स्मरण करते रहे और दूसरी ओर उनका रस सिद्धा त प्राकृतिक रस मे ही सीमित रहा। आत्मा और प्रकृति के भिन्न लक्षणो का

विवेचन न होने के कारण काव्यशास्त्र के रस सिद्धान्त की असंगतियाँ कभी प्रकट न हो सकी। प्राकृतिक और आध्यात्मिक रसों से भिन्न, किन्तु उनके सामंजस्य से पूर्ण सांस्कृतिक रस की कल्पना पूर्वी अथवा पश्चिमी काव्यशास्त्र में सम्भवतः कोई भी आचार्य न कर सका। कला और काव्य का यह सांस्कृतिक रस प्राकृतिक और आध्यात्मिक रसों से ही भिन्न नहीं है वरन जीवन में प्राप्त होने वाले सांस्कृतिक रस के साक्षात् अनुभव से भी भिन्न है। सांस्कृतिक रस के साक्षात् अनुभव में भाव की प्रधानता होती है रूप की प्रधानता नहीं होती। अतः वह आत्माओं के मौन और अलक्षित सम्वाद का अनिर्वचनीय रस बना रहता है। आन्तरिक अभिव्यक्ति तो इस रस की अनुभूति से अभिन्न है किन्तु उसकी वाङ्मय अथवा व्यवहारगत अभिव्यक्ति सदा अपेक्षित तथा सम्भव नहीं होती। काव्य में वह सांस्कृतिक रस अभिव्यक्ति का विषय बनता है। काव्य में यह अभिव्यक्ति वाङ्मय होती है। शब्दों की महिमा उस रस की अभिव्यक्ति की हो शैली है। कला की दृष्टि से काव्यगत सौन्दर्य का रस अभिव्यक्ति में ही निहित रहता है। यह काव्यगत सौन्दर्य का रस है, जो प्राकृतिक आध्यात्मिक और सांस्कृतिक तीनों रसों के भावगत रूप से भिन्न है। काव्यगत रस के इस विलक्षण रूप की कल्पना न कर सकने के कारण काव्य शास्त्र के आचार्य प्राकृतिक और आध्यात्मिक रसों के साक्षात अनुभव रूप रस के विवेचन में उलझे रहे। काव्य जीवन का एक अंग अवश्य है किन्तु जिसे हम काव्य के रूप में जानते हैं और मानते हैं वह काव्य जीवन का पर्याय नहीं वरन जीवन का चित्रण अथवा अंकन है। जीवन उस काव्य का विषय अवश्य बनता है किन्तु काव्य साक्षात जीवन नहीं है। जहाँ परार्थ अभिव्यक्ति में न बन कर काव्य का सौन्दर्य साक्षात् जीवन में समाहित रहता है वहाँ निस्सदेह काव्य जीवन से अभिन्न बन जाता है। भारतीय पर्वों के अतिरिक्त काव्य का यह जीवन्त रूप अन्यत्र मिलना कठिन है। रसिक जनों के व्यवहार में इस काव्य के काद्याचित्क आभास मिल सकते हैं। सामान्यतः सभ्यता के विकास में क्रमशः जीवन में काव्य का समन्वय कम होता गया है और काव्य एक स्वतन्त्र कला बनता गया है। वाङ्मयी अभिव्यक्ति का सौन्दर्य इस काव्य का मर्म है। इस अभिव्यक्ति का सौन्दर्य ही काव्य का रस है। भाव का अतिशय इस सौन्दर्य को सम्पन्न बनाता है। यह भाव काव्य का तत्व अथवा विषय बनकर उसमें समाहित होता

है। भाव का यह अतिशय प्राकृतिक आध्यात्मिक, सास्कृतिक आदि किसी भी रस के रूप म काव्य का तत्व बन सकता है। अधिकाश काव्य म प्राकृतिक रस की प्रचुरता रही है यद्यपि सास्कृतिक रस के अनेक स्थल काव्यो म मिल सकते हैं। काव्य क रूपगत सौ दय क रस का भाव अथवा तत्वगत रसो से पृथक् करके ही काव्य क स्वरूप का मम समझा जा सकता है। रस की इस नवीन धारणा म काव्य के रूप और भाव दोनो का समन्वय अपेक्षित होगा। इस सम वय का रूप वही होगा जिसका सकेत हम अभी रीति और अभिव्यक्ति क सम्बन्ध म ऊपर कर चुके हैं। इस प्रकार रस और रीति एक दूसरे के अत्यन्त निकट आ जाते हैं।

अलकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि में शब्द और अथ दोनो पक्षो का ग्रहण दिखाई देता है। शब्द और अथ के साहित्य का सूत्र इन सम्प्रदायो में अधिक अक्षुण्ण रहता है। अलकारवादियो न शब्दालकार और अर्थालकार का भेद करक इस सूत्र को छिन्न करने का प्रयत्न किया है। वक्रोक्ति मत में भी शब्द भगिमा की प्रधानता प्रतीत होती है। ध्वनि म शब्द और अथ का सामजस्य अधिक है। अत ध्वनि का सिद्धान्त काव्य क वास्तविक लक्षण के सबसे अधिक निकट पहुँचता है। अलकारो को सभी आचाय काव्य का आवश्यक उपकरण मानत हैं। दण्डी ने अपने ग्रन्थ में यह सकेत किया है कि अलकार उसी प्रकार काव्य का सहज गुण है जिस प्रकार उष्णता अग्नि का सहज धम है। किन्तु दण्डी न भी अपने काव्य के लक्षण में अलकार को काव्य का एक अग ही माना है। व काव्य के स्वरूप और स्वभाव की व्याख्या नही कर सके हैं। अलकार को काव्य का सौ दय कहा जाता है (सौ दयलकार)। सौन्दय रूप के अतिशय तथा भाव अथवा भाव के अतिशय के साथ उसके सामजस्य में निहित रहता है। शब्दालकारो में रूप का अतिशय ही प्रधान है। किन्तु अर्थालकार में रूप और भाव का अतिशय अभिन्न रहता है।

भाव का अतिशय अभीष्ट होते हुए भी वह रूप के अतिशय के साथ समन्वित रहता है। रूप और भाव के अतिशय का समन्वय ही काव्य का समीचीन लक्षण है। इस रूप मे अर्थालकार की व्याख्या करने पर वह काव्य का व्यापक लक्षण बन जाता है। इस रूप मे अर्थालकार काव्य मे सवत्र

मिलेगा चाहे उसे कोई विशेष नाम न दिया जा सके। अर्थालंकार के इस सामान्य स्वरूप का निरूपण न करके काव्य शास्त्र के आचार्य उसके विशेष रूपों की गणना में संलग्न रहे। इसीलिये वे काव्य के सामान्य लक्षण के रूप में अलंकार का अवगाहन नहीं कर सके और उसे काव्य का एक अतिरिक्त उपकरण मात्र मानते रहे। शब्दालंकार भी केवल अनुप्रास, यमक और श्लेष तक ही सीमित नहीं है। किसी भी रूप में शब्द की भंगिमा का अतिशय काव्य का अलंकार है। यमक और श्लेष अर्थ का स्पर्श करते हैं। भाव का अतिशय न होने पर भी रूप का अतिशय काव्य की सृष्टि करता है, चाहे वह उत्तम काव्य न हो। इस प्रकार अलंकार काव्य का व्यापक लक्षण बन जाता है। यह अलंकार स्त्री के आभूषणों की भांति काव्य के सौन्दर्य की सज्जा का अतिरिक्त उपकरण नहीं, वरन् स्त्री के यौवन और उसके अंग विन्यास की भांति उसके सौन्दर्य का समवेत स्वरूप है। कालिदास ने यौवन को स्त्रियों का सहज अलंकार माना है (कुमार सम्भव)। अतिरिक्त आभरणों के सम्बन्ध में कालिदास ने अपना मत शकुन्तला के 'किमिव हि मधुराणाम् मण्डनं नाकृतीनाम्' में व्यक्त किया है। काव्य शास्त्र के आचार्य कविता कामिनी के अतिरिक्त आभरणों के रूप में ही अलंकारों की गणना करते रहे। किन्तु स्त्री के यौवन और विन्यास की भांति अलंकार वस्तुतः काव्य का व्यापक और सामान्य लक्षण है। जीवन और काव्य के मर्मज्ञ कालिदास के उक्त मत और उनके समस्त काव्य में इस धारणा का समर्थन मिलता है।

रीतिकारों की भांति वक्रोक्तिकार भी शब्द की भंगिमा पर ही अधिक जोर देते रहे। उक्ति की वक्रता को ही वे काव्य में प्रधान मानते रहे। उक्ति की वक्रता काव्य के रूप का अतिशय है। इस वक्रोक्ति में कुन्तक आदि शब्द भंगिमा की असाधारण विचित्रता ही देखते रहे। किन्तु वस्तुतः रूप के समस्त अतिशय में सामान्य उपयोगितावादी अभिधान से भिन्न एक भंगिमा होती है। अभिव्यक्ति की इस भंगिमा में समस्त अलंकारों तथा रस के अतिरिक्त काव्य के समस्त लक्षणों का समाहार किया जा सकता है। यह समाहार वक्रोक्ति के आचार्यों के प्रयत्नों की भांति बलात् न होगा वरन् सहज और सर्वमान्य होगा। वक्रोक्ति के आचार्य ध्वनि का विरोध करते रहे हैं। कुन्तक ने वक्रोक्ति को अभिधा (विचित्रैव अभिधा वक्रोक्ति) कहा है। किन्तु यह वक्रोक्ति प्रसिद्ध

अभिधान से भिन्न है (वक्रोक्ति प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा) ऐसी स्थिति म वक्रोति व्यजना के अत्य त निकट आ जाती है और रूप के अतिशय के साथ साथ उसम भाव के अतिशय का भी समाहार हो जाता है तथा वह रीति एव अलकार की भांति काव्य का व्यापक लक्षण बन जाती है। पर वक्रोक्ति से लेकर वाक्य और प्रब ध वक्रोक्ति तक विस्तार करने पर वक्रोक्ति का सिद्धान्त काव्य अथवा साहित्य म रूप के अतिशय के दूरतम क्षितिजो को अपनी दृष्टि मे समाहित कर लेता है।

ध्वनि का सिद्धा त वक्रोक्ति से भिन्न होता है। वक्रोक्ति के प्रसिद्ध रूप मे उक्ति की विचित्रता ही आश्रय है। कि तु ध्वनि के सिद्धा त म अर्थ की महिमा अधिक है। ध्वनित अर्थ अभिहित नही होता वरन वह व्यजना के द्वारा अभिव्यक्त होता है। व्यजना अभिव्यक्ति की वह भगिमा है जो अनभिहित अथवा अनभिधेय अर्थ को भी अपनी अद्भुद शक्ति के द्वारा शब्दो म अभिव्यक्त कर देती है। व्यजना इस अभिव्यक्ति का व्यापार है। ध्वनि का प्रयोग व्यजित अर्थ और व्यापार दोना के लिये होता है। अ यथा ध्वनि और व्यजना म भेद करना कठिन है। उक्ति की असाधारण विचित्रता के स्थान पर यदि अभिव्यक्ति की भगिमा के रूप म वक्रोक्ति की व्याख्या की जाय तो वक्रोक्ति और ध्वनि एक दूसरे के बहुत निकट आ जाते है। ध्वनि का आधार व्याकरण का स्फोट सिद्धा त है। स्फोट के अनुरूप यदि वाक्य ध्वनि और प्रब धक ध्वनि की कल्पना की जाय तो ध्वनि की अभिव्यक्ति का विस्तार वक्रोक्ति के समान ही साहित्य के दूरगत क्षितिजो तक सम्भव है। यद्यपि ध्वनि मे अर्थ की प्रधानता है, किन्तु अर्थ की व्यजना अभिव्यक्ति से अधिक है। अभिव्यक्ति म जहा एक ओर अर्थ का अ तर्भाव है वहा दूसरी ओर वाक्य वि यास की भगिमा उसका प्रकट रूप है। इस प्रकार ध्वनि के सिद्धा त की व्याख्या भी रूप और भाव के अतिशय के उस साम्य के अनुकूल की जा सकती है जिसे हम निर तर का य का व्यापक और सतोषजनक लक्षण मानत रहे है। ध्वनिवादियो ने रस को प्रधानता दी है कि तु ध्वनि के अ य रूपो म ध्वनि के विस्तृत क्षितिज भी उनकी दृष्टि म रहे है। वस्तुत ध्वनि को यदि भाव ध्वनि कहा जाय तो ध्वनि के समस्त रूपा का समाहार उसम हो सकता है। रस के सम्ब ध मे इतना कहना आवश्यक है कि भाव के समान रस का समाधान ध्वनि की व्यजना म तत्व के रूप

मे नही हो सकता । व्यजना म समाहित भाव तत्वो की अलक्ष्य प्रेरणा के द्वारा वह पाठका के हृदय म अभिव्यक्त होता है । इस प्रकार ध्वनि की भी ध्वनि कह सकते हैं । अभिनव गुप्त ने ध्व यालोक की लोचन नामक व्याख्या मे अपने अभिव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा कर ध्वनिकारो के रस सिद्धा त को पूण किया है । कि तु अभिनव गुप्त की रस विषयक धारणा भरत क आदि सूत्र और उसकी परम्परागत व्याख्याओ से सीमित है । काव्य शास्त्र की इनकी कुछ भ्रा तियो का सकेत हमने पीछे कई बार किया है । अगले अध्याय मे हम इन भ्रा तियो का विस्तृत विवरण करते हुए काव्य मे रस के स्वरूप का विश विवेचन करेंगे ।

औचित्य का सिद्धा त का०य शास्त्र म अत्य त मौलिक व महत्वपूण है। औचित्य का समाहार रूप के अतिशय म नही किया जा सकता । वह रूप व अतिरिक्त है । हम उसे रूप क अतिशय की मर्यादा कह सकते है । वस्तुत औचित्य काव्य की मर्यादा का ही सिद्धा त है । अभिव्यक्ति की जिस भगिमा मे काव्य के रूप और भाव के अतिशय का साम्य होता है उसकी कोई मर्यादा न होने पर वह सौ दय के स्थान पर असु दरता की सष्टि कर सकता है । केशवदास के द्वारा उलूक से राम की उपमा देना इसका एक उदाहरण है । काव्य की इस मर्यादा के अनेक रूप हैं । रूप के वि यास और अभिव्यक्ति के साम्य के अतिरिक्त सामाजिक मर्यादायें भी सम्मिलित है । काव्य के सौ दय के अतिरिक्त जीवन का श्रेय भी इस मर्यादा के अ तगत है । औचित्य का सिद्धा त का य म सौ दय और श्रय का सम वय करता है । औचित्य की व्यापकता को ध्यान मे रखते हुए क्षेमे द्र ने अपने औचित्य विचार मे औचित्य के अनेक भेद बताये हैं और अलकार रीति, रस ध्वनि आदि सभी सिद्धान्तो को उनमे समाहित करने का प्रयत्न किया है । किन्तु वस्तुत औचित्य के अ तगत इन सबका समाहार नही किया जा सकता । औचित्य का अभिप्राय भाव के अतिशय से है जो काव्य के सौन्दय का विधानकरते हैं औचित्य उस सौ दय की मर्यादा है । अतएव वह एक अतिरिक्त तत्व है ।

वस्तुत काव्य शास्त्र के इतिहास मे का य के सम्ब ध म जो भिन्न भिन्न सिद्धा त और उन पर आश्रित सम्प्रदाय मिलते हैं वे सभी काव्य म किसी मौलिक

तत्व का सकेत करते हैं। किन्तु यह तत्व ही काव्य का सवस्व नहीं है। प्रत्येक सम्प्रदाय ने काव्य के एक मौलिक तत्व को दृढता से ग्रहण किया है। इस दृष्टि से प्रत्येक सम्प्रदाय आशिक रूप म काव्य के सत्य का प्रतिनिधि है। किन्तु इन सम्प्रदायो के प्रवतक और समथक अपने सिद्धा त और उसकी सीमा न समझ कर आशिक सत्य को पूरा सत्य और काव्य के एक तत्व को काव्य का सवस्व मानने का अग्रह करत रहे। इसीलिय प्रत्येक आचाय ने दूसरो के सिद्धान्तो का खण्डन किया है तथा अन्य सिद्धा तो को अपने सिद्धा त की परीधिम समेटने का प्रयत्न किया है। सभी सिद्धा तो के एकपक्षीय होने के कारण आचार्यों के ये प्रयत्न असफल रहे। काव्य के स्वरूप के निर्धारण की सही दिशा आशिक सिद्धा त का आग्रह नही है। हमने कुछ उदार दृष्टिकोण अपना कर काव्य शास्त्र के सभी सिद्धा तो म काव्य का सामा य तत्व खोजने का प्रयत्न किया है। हमार मत म काव्य का यह सामा य तत्व रुप का अतिशय है जो काव्य मे भाव अथवा भाव के अतिशय के साथ समजसित रहता है। सभी कलाओ म रूप का यह अतिशय अभिव्यक्ति के माध्यम की भगिमा है। काव्य का माध्यम शब्द है। अत काव्य मे यह रूप का अतिशय शब्द वाक्य एव प्रब ध के विन्यास की भगिमा के रूप मे रहता है। अथ अथवा भाव शब्द से अभिन्न है। अत भाव अथवा भाव का अतिशय रूप के इस अतिशय से समवत रहता है। अभिव्यक्ति की भगिमा मे रूप और भाव का साम्य अभीष्ट है। रूप के अतिशय म अनतिशयत अथ अथवा भाव का स निवेश होने पर काव्य का जो रूप बनता है उसे प्राय पद्य कहा जाता है और उसकी गणना काव्य म नही की जाती। कि तु गद्य मय सूत्रा की लय म जो रूप का अतिशय रहता है वह निस्सदेह कलात्मक सौन्दय का तत्व है और उस पद्य नही कहा जा सकता। अतएव किसी भी प्रकार के रूप के अतिशय से युक्त शब्द रचना का व्यापक अथ म काव्य कहना उचित है। भाव का अतिशय न होने पर भी इस काव्य म रूप का सौन्दय रहता है। रूप और भाव का बहुत कुछ साम्य भी इन रचनाओ म मिलता है। भाव के अतिशय से युक्त काव्य को सभी काव्य' के रूप म स्वीकार करत है, यद्यपि इसके स्वरूप का सतोप जनक निर्धारण काव्य शास्त्र के इतिहास मे नहीं हो सका है। हमारे मत म रूप और भाव के अतिशय का साम्य इस काव्य का सबस अधिक सतोप-जनक लक्षण है। काव्य शास्त्र के रीति, व

वक्रोक्ति और अलकार म रूप की प्रधानता है। शब्दालकार, ध्वनि रस आदि के सिद्धा तो म भाव की प्रधानता है। किन्तु वस्तुत काव्य मे रूप और भाव के अतिशय का साम्य सौन्दर्य का विधान करता है। अभिव्यक्ति की जिस भंगिमा के द्वारा रूप और भाव के अतिशय का यह साम्य सम्पन्न होता है वह वक्रोक्ति एव ध्वनि के बहुत निकट है। स्पष्ट रूप म वह लोक प्रसिद्ध अभिधान से भिन्न है। लक्षणा का समाहार सम्भवत ध्वनि की व्यजना मे हो सकता है। लक्षणा निस्सदेह अर्थ के अतिशय का सकेत करती है। औचित्य रूप और भाव के अतिशय तथा उनके साम्य की वह मर्यादा है जो सौ दय को सतुलित एव जीवन से सगत बनाती है। वह काव्य मे सौ दय और श्रेयका समन्वय करता है। इस प्रकार रूप और भाव के अतिशय के रूप म काव्य शास्त्र के विभिन्न सिद्धातों को देखने पर उनका सामजस्य सम्भव दिखाई देता है। रस, रीति अलङ्कार आदि के सिद्धा तो क विशेष रूप काव्यगत रूप और भाव के साम्य के कुछ विशेष पक्षो की विवृति मे सहायक हो सकते हैं। काव्य के इन विभिन्न सिद्धा तो का यह सामजस्य मम्मट, जयदेव आदि उन उदार आचार्यों के प्रयत्न से भिन्न है जिसम काव्य के विभि न सिद्धा तो को पृथक पृथक मानते हुए भी काव्य की परिभाषा मे उन सिद्धान्तो से लक्षित विभिन्न तत्वो का एकत्र आकलन किया गया है। काव्य इन विभिन्न सिद्धान्तो से लक्षित अनेक तत्वा का सग्रह मात्र नही है। काव्य म इन तत्वो का केवल सयोग नही वरन् समवाय रहता है। इस समवाय का सामा य आधार रूप का अतिशय और भाव के साथ उसका साम्य है। वस्तुत काव्य का यह सामान्य आधार काव्य शास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों का अभीष्ट नही है। इसीलिये ये सिद्धान्त पृथक पृथक रहे और इनक परस्पर विरोध ने काव्य शास्त्र का भ्रान्तिपूर्ण इतिहास बनाया और कोई भी आचार्य काव्य के इस सामा य लक्षण को स्पष्ट रूप से हमारे सामने न रख सके। काव्य प्रेमियो के समक्ष काव्य के इस सामा य और सर्वाधिक सतापजनक सिद्धान्त को सामने प्रस्तुत करने म हम गव नही किन्तु प्रसन्नता अवश्य है। एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि काव्य की श्रेष्ठता एव हीनता अथवा काव्य की कोटियो एव प्रकारो का प्रश्न काव्य के सामा य स्वरूप के प्रश्न से नितान्त भिन्न है। काव्य का सामान्य स्वरूप वाङ्मय के अन्य रूपों से काव्य का भेद करता है। श्रेष्ठ और हीन तथा अन्य सभी प्रकार के काव्य इस सामा य काव्य के अन्तगत है। रूप का अतिशय और भाव अथवा भाव के

अतिशय के साथ उसका साम्य ही काव्य का ऐसा व्यापक लक्षण है जो काव्य के समस्त प्रकारो को अपनी परिधि मे समाहित कर सकता है। काव्य कोटियो और प्रकारो का भेद काव्य के अन्तगत भेदो का प्रश्न है। इन भेदा का निर्धारण काव्य के सामान्य लक्षण के अतिरिक्त अन्य सिद्धान्तो के आधार पर सम्भव हो सकेगा।

अध्याय–६

काव्य मे रस

भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा म रस को बहुत महत्व दिया गया है। प्राय सभी प्राचाय काव्य म रस को ही प्रधान मानते हैं। उनके मत म रस ही काव्य का मूल तत्व है। अलकार, रीति, गुण आदि काव्य के वे उपकरण हैं जो उसके सौ दय का सम्वद्ध न करते हैं। अलकार की भाति ये उपकरण काव्य म सवत्र वतमान रहते हुए भी उसके आ तरिक मम नही हैं। रस ही का व्य की आत्मा है। ध्वनि, वक्रोक्ति औचित्य आदि को काव्य का व्यापक लक्षण मानने वाले आचाय भी रस को ही काव्य का अ तिम लक्ष्य मानत हैं। आन दवधन के अनुसार रस ध्वनि काव्य का सव श्रेष्ठ रूप हैं। वक्रोक्तिकार कु तक भी केवल उक्ति की विचित्रता को काव्य का सवस्व नही मानते, किन्तु का य का आल्हादकारक मानकर उ होने काव्य की रसवत्ता को स्वीकार किया है —

शब्दार्थौ सहितौ वक्र व्यापार शालिनी।
ब धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाल्हाकारणी॥
—वक्रोक्ति जीवित–१/७

औचित्यकार क्षेमे द्र ने तो औचित्य को का य का जीवित मानते हुए भी स्पष्ट रूप से काव्य को रस सिद्ध माना है।

औचित्य रस सिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम्।"

अलकारवादी अलकारा को केवल काव्य के सौ दय का वधक मानत हैं। कि तु उनके मत म भी रस ही काव्य का अ तिम लक्ष्य है। अलकारवादी दण्डी के मत म अलकार का य क श्रय म रस का निषेक करत हैं —

'काम सर्वोऽप्यलकारो रसमर्थे निषिञ्चति'
—काव्यादश १/६२

अग्नि पुराण के मत म काव्य म वाणी की विदग्धता विशेष रूप से महत्वपूर्ण होने पर भी रस ही काव्य का प्राण है —

वाग्वदग्ध्य प्रधानऽपि रस एवात्र जीवितम् ।
—अग्नि पुराण ३३७/३३

भोजराज ने भी काव्य को रसान्वित कहा है —

निर्दोष गुणवत्काव्यमलकाररलङ्कृतम् ।
रसान्वित कवि कुवन् कीर्ति प्रीति च विदति ।।
—सरस्वतीकण्ठाभरण १/२

विश्वनाथ के 'वाक्य रसात्मक काव्य मे काव्य शास्त्र की इस रस प्रधान परम्परा की परिणति मिलती है ।

काव्य म रस को प्रधान मानत हुए भी आचार्यों को रस के सम्बध मे अनेक कठिनाईया रही । इन कठिनाइयो का कारण रस के सम्बध म कुछ मौलिक भ्रान्तिया है । इन भ्रान्तियो का विवरण हम आगे करेंगे । इन भ्रान्तियो के कारण काव्य म महत्वपूर्ण होते हुए भी उसको काव्य का व्यापक लक्षण मानना कठिन रहा । रस ध्वनि को प्रधान मानने वाले आनन्दवधन ने भी रस को काव्य का सवस्व नही माना है और वस्तु ध्वनि एव अलकार ध्वनि को स्वीकार किया है । 'वाक्यम् रसादिमत्काव्य' को काव्य का लक्षण मानने वाले विश्वनाथ ने भी परिपक्व रस के अतिरिक्त भाव, भावाभास आदि स्थितियो को भी काव्य की व्यापक परिधि मे स्थान दिया है । रस गगाधर के प्रणेता पण्डितराज जगन्नाथ केवल रस को ही काव्य का सवस्व नही मानत । उनके मत मे रमणीय अथ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है (रमणीयाथ प्रतिपादक शब्द काव्यम्) । रस ही रमणीयता का एकमात्र कारण नही है । रस के अतिरिक्त काव्य मे रमणीयता आधान करने वाले और भी तत्व हैं, जो रस का अभाव होने पर भी रमणीयता की सृष्टि कर काव्य को रूप देते है । विश्वनाथ का वाक्य रसात्मक काव्यम्'शुद्धोदनि के 'अलकार शेखर' की जिस प्रथम कारिका (काव्य रसादिमद्वाक्यम्) पर आश्रित है, उसम आदि' पद के द्वारा अलकार आदि अन्य पदार्थों का भी ग्रहण किया गया है, जो रस के अभाव मे भी काव्य

की सृष्टि करते हैं। चित्रकाव्य आदि के कुछ ऐसे रूप है, जिनमे स्पष्ट रूप से रस का अभाव होता है। चाहे काव्य के इन रूपो को अधम काव्य की कोटि मे गिना जाय फिर भी काव्य के सामान्य क्षेत्र से इनका बहिष्कार तो नही किया जाता। रस के बिना यदि काव्य का रस सम्भव हो सकता है तो फिर 'रस' काव्य का सामान्य और सर्वव्यापक लक्षण नही है। पण्डितराज जगन्नाथ की 'रमणीयता' काव्य का अधिक व्यापक लक्षण है। आनन्दवधन की ध्वनि मे इस रमणीयता का रहस्य मिलता है। किन्तु ध्वनि मे भाव की प्रधानता है। वस्तु ध्वनि मे यह भाव अधिक व्यापक हो जाता है। अलकार ध्वनि में अलकार जो काव्य का रूप अथवा सौन्दर्य है ध्वनि का विषय बन जाता है और इस प्रकार काव्य के रूप एव भाव का विवेक भ्रान्त हो जाता है। काव्य शास्त्र के आचार्य काव्य के भाव और रूप को पृथक पृथक महत्व देते हैं। रूप के अतिशय तथा भाव अथवा भाव के अतिशय के साथ उनके साम्य को वे स्पष्टत काव्य के लक्षण के रूप मे प्रस्तुत नही कर सके। हमने पिछले अध्याय मे रूप और भाव तथा दोनो के अतिशय और साम्य का विवेक करके काव्य के स्वरूप की एक सगत और सतोषजनक व्याख्या करने का विनम्र प्रयास किया है। हमारे इस प्रयास मे भी कुछ भ्रान्तिया हो सकती हैं किन्तु हमारा विश्वास है कि हमारा प्रयास काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे कुछ भ्रान्तियो को दूर करने मे भी सहायक होगा।

सभी आचार्यों के मत मे परम महत्वपूर्ण होते हुए भी रस काव्य का व्यापक लक्षण नही बन सका। इसके मूल मे भी काव्य के स्वरूप और काव्य के रस के सम्बन्ध मे कुछ विशेष भ्रान्तिया रही है। इन भ्रान्तियो के कारण रस के सिद्धान्त मे अनेक कठिनाइया उत्पन्न हुई। इन कठिनाइयो को दूर करने का प्रयत्न ही इस सम्प्रदाय का इतिहास है। किन्तु अपनी मौलिक भ्रान्तियों के कारण काव्य शास्त्र का रस विवेचन अधिक सन्तोषजनक नही बन सका। भारतीय साहित्य की परम्परा मे काव्य शास्त्र के रस सिद्धान्त की जो कुछ मान्यता रही है उसका कारण भी यह रहा है कि सभी आचार्य परम्परागत रस सिद्धान्त को ही अधिक सन्तोषजनक बनाने का प्रयत्न करते रहे और किसी भी आचार्य ने इस परम्परागत रस सिद्धान्त की मौलिक भ्रान्तियो का अनावरण नही किया। काव्य शास्त्र के रस सिद्धान्त और तद्गत भ्रान्तियो का विवरण हम अगले अध्याय मे करेंगे। प्रस्तुत अध्याय मे हमारा उद्देश्य काव्य के उस

स्वरूप के अनुसार काव्य मे रस की स्थिति का विवेचन करता है, जिसका निर्धारण हमने पिछले अध्याय मे किया है। काव्य का वह सामान्य स्वरूप रूप का अतिशय है। भाव सदा रूप से अभिन्न होता है, किन्तु भाव का अतिशय काव्य म सवत्र नही होता। लययुक्त सूत्रो तथा पद्यबद्ध शास्त्रो को काव्य के अतिरिक्त अन्य किसी परिधि मे स्थान नही दिया जा सकता। व रूप और भाव की यथाथता स युक्त केवल शास्त्र नही है। रूप का अतिशय और रूप एव भाव का साम्य इनम काव्यात्मक सौन्दय का सन्निधान करता है। भाव के अतिशय से युक्त काव्य अधिक श्रेष्ठ और सम्पन्न काव्य होता है। इसी को विशेष रूप स काव्य माना जाता है। किन्तु रूप और भाव के अतिशय के साम्य के रूप म उसका स्पष्ट निरूपण कही भी नही किया गया है। हमने पिछले अध्याय म इसी रूप म काव्य का लक्षण निर्धारित किया है। प्रस्तुत अध्याय म हम काव्य के इस लक्षण के प्रकाश म काव्यगत रस का विवेचन करेंगे। अगले अध्याय मे हम काव्य शास्त्र की परम्परा म पल्लवित रस-सिद्धा त का विवरण और अपन रस सिद्धा त के साथ उसकी तुलना करेंगे। प्रस्तुत अध्याय मे हमारा उद्देश्य केवल अपन रस सिद्धान्त का विवरण है। किन्तु उसकी भूमिका के रूप म परम्परागत रस सिद्धा त और तद्गत प्रमुख भ्रान्तियो का सकेत कर देना आवश्यक है।

काव्य शास्त्र की परम्परा मे प्राप्त रस सिद्धान्त की एक मौलिक और मुख्य भूल यह है कि वह काव्य के रस को जीवन के रस से अभिन्न मानता है। इसी कारण आचार्यों का समस्त प्रयास इस ओर रहा कि मूल पात्रो द्वारा अनुभूत रस का आस्वादन पाठक अथवा दशक किस प्रकार करत हैं। इसी पहेली को सुलझाने के लिय आरोपवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद साधारणीकरण आदि क सिद्धा त काव्य शास्त्र के इतिहास मे प्रकट हुए। परम्परागत रस सिद्धान्त की दूसरी भूल यह है कि उपनिषदो के आध्यात्मिक रस का स्मरण करते हुए भी उसमे रस की प्राकृतिक धारणा ही प्रधान रही है। रस सम्बन्धी प्राकृतिक दृष्टिकोण की परिणति स्थायीभावो की कल्पना और अभिव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा म हुई। एक प्रकार से प्रकृतिवाद की दूसरी भूल रस सम्प्रदाय की पहली भूल का आधार है। प्राकृतिक रस का अनुभव व्यक्ति के आश्रय मे होता है। प्राकृतिक रस अहकार की इकाई से अवच्छिन्न और उसमे सीमित होता है। रस के इस प्राकृतिक और

व्यक्तिगत आधार को लेकर ही काव्य शास्त्र के आचार्य मूल पात्र नट, दर्शक पाठक आदि में उसकी स्थिति व समाधान का प्रयत्न करते रहे। इस प्राकृतिक रस को (जो जीवन के रस का केवल एक रूप है) काव्य के रस (जो जीवन के रस से बहुत कुछ भिन्न है) से अभिन्न मानने के कारण काव्य शास्त्र के रस सिद्धान्त में कुछ और उलझनें उत्पन्न हो गईं। यहां इनका विवरण हम अगले अध्याय में करेंगे। प्रस्तुत अध्याय में हम केवल अपने मौलिक रस सिद्धान्त का विवेचन अभीष्ट है। ऊपर परम्परागत काव्य शास्त्र के रस सिद्धान्त की कुछ मौलिक भूलों का संकेत केवल यह स्पष्ट करने के लिये किया गया है कि हमारा रस सिद्धान्त मौलिक आधारों की दृष्टि से काव्य शास्त्र के परम्परागत रस सिद्धान्त से पूर्णत भिन्न है। हमारा विश्वास है कि भिन्न होने के साथ-साथ यह अधिक संगत और अधिक सन्तोषजनक भी है।

हमारे मौलिक रस सिद्धान्त की प्रथम और प्रमुख मान्यता यह है कि व्यक्ति के एकान्तभाव में प्राकृतिक रस के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के रस की अभिव्यक्ति नहीं होती। आध्यात्मिक रस का कैवल्य व्यक्ति का एकान्तभाव नहीं वरन् उससे परे है। उसमें व्यक्तित्व और अहंकार अतिक्रमण हो जाता है। कला, काव्य आदि के रस तथा अन्य सांस्कृतिक रसों की अभिव्यक्ति व्यक्ति के एकान्तभाव में नहीं होती, वरन् व्यक्तियों के समात्मभाव में होती है। व्यक्तियों का समात्मभाव न प्राकृतिक स्थिति की भांति पूर्णत अहंकार में सीमित है और न अध्यात्म की भांति अहंकार से परे है, वरन् वह अहंकारों का एक ऐसा अपूर्व सामंजस्य है जिसमें भाव की उदारता (जो मूलत अध्यात्म का फल है) के द्वारा जीवन के प्राकृतिक उपकरणों का अध्यात्म के साथ समन्वय होता है। इसी समन्वय में कला संस्कृति का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। समात्मभाव में प्रस्फुटित होने वाले इस सौन्दर्य में उस अपूर्व रस का प्रवाह होता है जिसे प्राकृतिक और आध्यात्मिक दोनों रसों से विलक्षण होने के कारण ही हमने इसे सांस्कृतिक रस कहा है। कला और काव्य का रस इसी सांस्कृतिक रस के अन्तर्गत है। रूपों प्रियता, स्पृहणीयता साम्य, स्फूर्ति आदि सामान्य लक्षण है, जो रस के सभी में मिलते है। किन्तु इन सामान्य लक्षणों के अतिरिक्त रस के उक्त तीनों रूपों में अनेक प्रकार से अन्तर है। इस अन्तर का कुछ संकेत हमने तीसरे अध्याय में किया है जहां हमने रस की त्रिवेणी के अवगाहन का प्रयत्न किया है। रस के

इन विभिन्न रूपों की भूमिका में हम काव्य के रस का कुछ विस्तृत विवेचन प्रस्तुत अध्याय में करेंगे।

चौथे अध्याय में हमने कला और काव्य के रस को सांस्कृतिक रस कहा है तथा प्राकृतिक एवं आध्यात्मिक रसों से उसका विवेक किया है। हमारे मत में काव्य शास्त्र की रसमीमांसा की एक मौलिक भूल यही रही है कि सभी आचार्य प्राकृतिक रस के रूप में काव्य के रस की कल्पना करते रहे हैं। कुछ आचार्यों ने काव्यगत रस की मीमांसा के प्रसंग में उपनिषदों के आध्यात्मिक रस का स्मरण भी किया है। किन्तु वे भी काव्य के रस के साथ आध्यात्मिक रस की संगति की व्याख्या नहीं कर सके। अध्यात्म का रस एक और अविच्छिन्न होता है। उसकी रति आदि के अवच्छेदकों से किस प्रकार संगति हो सकती है इसकी संतोषजनक व्याख्या काव्यशास्त्र के आचार्य नहीं कर सके। रति आदि प्राकृतिक भाव हैं उनमें अहंकार आदि का अवच्छेद रहता है। अतः विरोध की *सम्भावना रहती है। यह विरोध की सम्भावना वीर, रौद्र, बीभत्स आदि रसों* में अधिक रहती है। अध्यात्म का स्वरूप अद्वैत भाव है। यदि अवच्छेदकों के साथ इस अद्वैत भाव का सामान्य सम्भव भी माना जाय तो भी यह सामंजस्य उन रसों के साथ घटित नहीं हो सकता जिनके स्वरूप में ही विरोध के बीज वर्तमान हैं। ऐसी स्थिति में काव्यशास्त्र में स्वीकृत रसों तथा काव्य के रस के वास्तविक स्वरूप की सूक्ष्म और मतक मीमांसा अपेक्षित है।

काव्य शास्त्र की परम्परा में व्याख्या रसों की काव्यता बहुत कुछ प्राकृतिक रसों के अनुरूप ही की गई है। रति आदि स्थायी भाव मनुष्य के प्राकृतिक भाव ही हैं। रस के सहकारी अनुभाव संचारी भाव आदि भी शरीर और मन के प्राकृतिक विकार ही हैं। इनकी प्राकृतिकता के प्रमुख लक्षण इनकी अहंकार निष्ठता और कारण निष्ठता है। ये दोनों प्रकृति के प्रधान लक्षण हैं। अहंकार से अवच्छिन्न व्यक्ति इन रसों के अनुभव का अधिष्ठान है। आलम्बन और उद्दीपन के विभाव तथा अनुभाव एवं संचारी भाव इन रसों के बाह्य कारण हैं। बाह्य कारण पर आश्रित होने के कारण प्राकृतिक रसों में परतन्त्रता अधिक रहती है। कारणों के अनुरूप ही रस का स्वरूप बनता है। ये कारण रस की निष्पत्ति के उपकारक ही नहीं, वरन् रस के स्वरूप

के विधायक भी हैं। रस का अनुभव करने वाले कर्त्ता की रस के स्वरूप के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता बहुत कम है। जिन स्थायीभावों को रस का बीज माना जाता है, वे भी मनुष्य की प्रकृति के अंग हैं। रस के स्वरूप में उन स्थायी भावों का परिपाक एक प्रकार की प्राकृतिक प्रक्रिया है, वह मनुष्य की चेतना का स्वतन्त्र व्यापार नहीं है। स्वतन्त्रता, कारणता और अवच्छेदकों की दृष्टि से आध्यात्मिक रस प्राकृतिक रस के पूर्णत विपरीत है। अत दोनों का सामंजस्य अत्यन्त कठिन है। काव्य के रस में प्राकृतिक रस की अपेक्षा स्वतन्त्रता अधिक रहती है। किन्तु अवच्छेदकों से युक्त होने के कारण उसे आध्यात्मिक रस नहीं कहा जा सकता। इसीलिये हमने काव्य के रस को इन दोनों रसों से भिन्न मानकर सांस्कृतिक रस की संज्ञा दी है। सांस्कृतिक रस पूर्ण रूप से रस की एक तीसरी कोटि नहीं हैं उसका निर्माण प्राकृतिक और आध्यात्मिक रसों के तत्वों से ही होता है किन्तु सांस्कृतिक रस में प्राकृतिक और आध्यात्मिक रसों के विरोधी तत्वों का सामंजस्य एक अपूर्ण रूप में होता है। इस सामंजस्य के स्वरूप का निरूपण हम आगे करेंगे। अभी इतना संकेत कर देना उचित है कि कला और काव्य के सांस्कृतिक रस में प्राकृतिक रस के उपकरणों का (आध्यात्मिक रस की भांति) पूर्णत परिहार नहीं होता, वरन् ये उपकरण सांस्कृतिक रस के आवश्यक अंग है। सांस्कृतिक रस आध्यात्मिक रस की भांति एक रूप नहीं है। वरन् प्राकृतिक रस की भांति अनेक रूप है।

उक्त उपकरण सांस्कृतिक रस के विविध और विशेष रूपों का विधान करते हैं। ये उपकरण ही सांस्कृतिक रस के अवच्छेदक बनते हैं। अवच्छेदकों के अभाव के कारण ही अध्यात्मिक रस एक रूप होता है। उसमें विविधता और विशेषता का कोई घटक शेष नहीं रह जाता। किन्तु प्राकृतिक रस के उपकरणों से निर्मित और उसके कुछ अवच्छेदकों से युक्त होने पर भी सांस्कृतिक रस प्राकृतिक रस से भिन्न है। सांस्कृतिक रस में प्राकृतिक रस की अपेक्षा स्वतन्त्रता अधिक होती है। वह रति क्रोध आदि प्राकृतिक भावों की विवश प्रक्रिया का स्वाभाविक परिणाम नहीं हैं वरन् चेतना के स्वतन्त्र संकल्प का फल है। यह स्वतन्त्रता सांस्कृतिक रस में अध्यात्म की विभूति है और उसे प्राकृतिक रस से भिन्न बनाती है। स्वतन्त्रता की परीक्षा करण की अपेक्षा अकरण में अधिक होती है। रति, क्रोध भय आदि को हम

रोक नही सकते अत उनका आवेग हमारी परतन्त्रता का सूचक है। परतन्त्र और प्राकृतिक होने के कारण ही प्राय सभी इन आवेगो से अभिभूत होते ही जो इनसे अभिभूत नही होते उनके उनके इस चमत्कार के पीछे उनकी चेतना का स्वतन्त्र सकल्प ही है। स्वतन्त्र सकल्प के द्वारा सम्पन्न होने के कारण ही सभी लोग (प्राकृतिक रसो की भाति) समान रूप से कला और काव्य के सास्कृतिक रस से प्रभावित नही होते (चेतना के स्वतन्त्र सकल्प के प्रभाव के कारण प्राकृतिक रस के उपकरण अमर्यादित रूप म सास्कृतिक रस के अग नही बनते। चेतना की स्वतन्त्रता उनम मर्यादा का विधान करती है। यह मर्यादा प्राकृतिक उप करणो म चयन और त्याग के अतिरिक्त स्वतन्त्रता के सस्कार भी समाहित करती है। सास्कृतिक रस के अग बनकर प्रकृति के उपकरण इतने अनिवार्य नही रहते व सकल्प की स्वतन्त्रता से शासित रहते है। स्वतन्त्रता की यह मर्यादा प्राकृतिक उपकरणो म आत्मा के अलौकिक सौ दय का स निधान करती है।

प्राकृतिक उपकरणो की भाति अहकार का अवच्छेद भी सास्कृतिक रस म रहता है कि तु जिस प्रकार प्राकृतिक उपकरणो की अनिवार्यता सास्कृतिक रस म समाहित होकर कठोर नही रह जाती उसी प्रकार अहकार का अवच्छेद भी सास्कृतिक रस का अधिष्ठान बनकर अधिक उदार बनजाता है। इस उदारता का स्रोत आत्मा की भूति म है जो अपने अपार औदार्य से सास्कृतिक रस को अचित करती है। सास्कृतिक रस मे समाहित इस अहकार के औदार्य का स्वरूप विचारणीय है। प्राकृतिक अहकार की कठोरता केवल उसके सीमित अवच्छेद म नही है। उस कठोरता की अभिव्यक्ति आदान विरोध और सघर्ष मे होती है। आदान का अर्थ बाह्य तत्वो का परिग्रह और उनका व्यक्तित्व की इकाई म आत्मसात करना है। आदान का अनुरोध प्रकृति का एक प्रमुख लक्षण है। वृक्षो के फलो और बीजो के द्वारा सम्प न होने वाली सृजन परम्परा म ही इस आदान का अपवाद है। पशुओ और मनुष्यो मे काम इस सृजन का सूत्र है। प्रकृति के क्षेत्र मे इस सृजन मे ही आदान के स्थान पर विसर्ग का रूप मिलता है। वृक्षो के जीवन म यह विसर्जन उनके उस विकास की परिणति है जो आदान के कठोर अनुरोध के द्वारा सम्पन्न होता है। पशुओ और मनुष्यो म यह विसर्जन एक प्रकार से आगन्तुक सा प्रतीत होता है। वृक्षो के जड अथवा स्थावर और अचेतन होने के कारण आदान का यह अनुरोध अपने

सत्तागत रूप म कठोर है किन्तु व्यवहार मे उदासीन है। इसके विपरीत पशुग्रो ग्रौर मनुष्यो म चेतना का विकास होने के कारण आदान का यह अनुरोध अधिक सक्रिय है। मनुष्य के मानसिक विकास न इसे सक्रिय क साथ साथ प्रतिरजित भी बना दिया है। आदान की इस प्रतिरजना म विरोध ग्रौर सघष उत्पन्न होते हैं जो जीवन के सामजस्य को भग करते हैं। यह विरोध ग्रौर सघष प्राकृतिक रस का भी बाधक है। जीवन म प्राकृतिक रस भी वही तक सम्भव है जहा तक यह विरोध ग्रौर सघष उत्पन्न नही होता। विरोध ग्रौर सघष उत्पन्न होन पर प्राकृतिक उपकरणो के गुण तथावत रहते हुए भी प्राकृतिक रस नीरस हो जाते है। इस प्रकार प्राकृतिक रस की परिस्थिति म भी रस का पूर्ण वैभव ग्रहकार ग्रौर ग्रादान स उत्पन्न विरोध ग्रौर सघष के उस अभाव म ही प्रकाशित होता है, जो प्रकृति का सहज लक्षण नही है तथा जो ग्रात्मा के लक्षण के अधिक निकट है।

सास्कृतिक रस म ग्रहकार की उदारता का रूप ग्रादान, विरोध ग्रौर सघष के अभाव के रूप म प्रकट होता है। आदान के स्थान पर सास्कृतिक रस म प्रदान की प्रधानता रहती है। यह प्रदान ग्रात्मा का लक्षण है। प्रकृति जहा अपने को व्यक्तित्व ग्रौर ग्रहकार के केन्द्र म सगठित एव सुरक्षित करती है उसके विपरीत ग्रात्मा अपने को प्रकाशित ग्रौर वितरित करती है। यह प्रकाशन ग्रौर वितरण ही ग्रात्मा का स्वरूप है। इसी म वह सुरक्षित भी रहती है। केवल सृजन मे प्रकृति ने ग्रात्मा के इस क्षितिज का स्पश किया है। इसीलिये प्राकृतिक सृजन के रूप भी सास्कृतिक सौन्दय के निमित्त बनते है। सस्कृति ग्रौर काव्य म सृजन के सहयोगी बनकर ही प्राकृतिक उपकरण भी सौन्दय के अधिकारी बन जाते है। सास्कृतिक रस म ग्रहकार की उदारता ग्रादान की शीथलता ग्रौर प्रदान की तत्परता मे प्रकट होती है। इस प्रदान म एक व्यक्तित्व ग्रौर ग्रहकार का दूसर व्यक्तित्व ग्रौर ग्रहकार क साथ सामजस्य अथवा साम्य होता है। विरोध अथवा सघष का अभाव इस साम्य का निषधात्मक रूप है। स्वतत्रता ग्रौर सजन का उल्लास तथा अपने स्वरूप की अभिवृद्धि इस साम्य का भावात्मक रूप है। स्वरूप की अभिवृद्धि ही रस अथवा ग्रानन्द का रहस्य है। उपनिषदो के यो व भूमा तदेव सुखम् म इसका समथन मिलता है। अनन्त वृद्धिशील होने के कारण ही ब्रह्म ग्रान दमय है। मोक्ष के कवल्य मे के

स्वतत्रता और साम्य निर्विकल्प आत्मा के अन्तर्गत स्वरूप है। किन्तु सास्कृतिक रस म इस स्वतत्रता और साम्य का रूप निर्विकल्प नही है। यहा भी इस अविरोध का रूप अद्वैत है। किन्तु वह अद्वैत आत्मा का निर्विकल्प कैवल्प न होकर प्राकृतिक अहकारा का ऐसा सामजस्य अथवा साम्य है जिसम प्रकृति के अनुरोध आत्मा की विभूति स उदार वन जाते है। अहकारो के इस स्वतत्र और उदार साम्य को हमने समात्मभाव की सज्ञा दी है। हमारे मत मे यह समात्मभाव ही कला काव्य आदि के सास्कृतिक रस का मूल रहस्य है।

सास्कृतिक रस मे अभिव्यक्त होने वाला समात्मभाव आध्यात्मिक रस के साथ कला और काव्य के सास्कृतिक रस की सगति का प्रकाशमान सूत्र है। उपनिषदो के 'रसो वै स' मे रस का मूल रहस्य निहित है। प्राकृतिक रस की अल्पस्थायी और क्षीयमाण सम्वेदना को छोडकर रस का स्थायी और समृद्धिशील रूप आत्मा म ही मिलता है। समात्मभाव मे आत्मा के स्वरूप को प्रकाशित होने का अवसर मिलता है। इसीलिये उसमे रस का उदय होता है। व्यक्तित्व की दृष्टि से देखन पर समात्म भाव म व्यक्तित्व का विस्तार होता है। यह विस्तार आत्मा का ही लक्षण है। प्रकृति के विस्तार का माग आदान का अनुरोध है। किन्तु आत्मा का विस्तार प्रदान के द्वारा होता है। आत्मा का यह प्रदान कोई अनुग्रह नही वरन् उसके अपने स्वरूप का प्रकाशन ही है। व्यक्तित्व के अनेक केद्रो से समात्मभाव का प्रकाशन होने पर सभी केन्द्रो की परिधि का विस्तार होता है। इस विस्तार मे अहकारा और व्यक्तित्वो का सामजस्य अथवा साम्य प्रकट होता है। यह साम्य ही समात्मभाव का लक्षण है। एक ओर यह आत्मा के स्वरूप का विस्तार है दूसरी ओर वह व्यक्तित्व के प्राकृतिक और आत्मिक अनुरोधो का सामजस्य है। इस प्रकार सास्कृतिक रस म अध्यात्म व प्रकृति का सामजस्य होता है। यद्यपि यह मूलत आध्यात्मिक भाव की प्रेरणा से ही सम्भव होता है। यह सामजस्य आत्मा के अनुग्रह से प्रकृति को मर्यादित करता है। प्रकृति की मर्यादा के बिना समात्मभाव सम्भव नही हो सकता। मर्यादा को मानकर प्रकृति समात्मभाव के प्रकाशन के अनुकूल बनती है। यह अनुकूलता ही सामजस्य का सूत्र है। अनुकूलता के द्वारा सम्पन्न सामजस्य मे किसी भी पक्ष का परिहार नही होता। किसी भी पक्ष का परिहार सामजस्य का दोष है। वस्तुत परिहार के द्वारा होने वाला सामजस्य वास्तविक सामजस्य

नही है। समात्मभाव के सामजस्य म ग्रात्मभाव की प्रधानता अवश्य हाती है। क्याकि उसी क द्वारा यह सामजस्य सम्भव होता है। कि तु ग्रात्मभाव की मर्यादा म प्रकृति क समस्त रूपो ग्रौर उपकरणा क लिय यथोचित स्थान रहता है। यह मर्यादा प्रकृति के ग्रधिकारा का ग्रपहरण नही वरन् उनका सरक्षण है। इस मयादा के ग्रभाव म प्रतिरजित हाकर प्रकृति के ग्रनुराग ग्रपने ही घातक बन जाते है। व्यक्तित्वा ग्रौर ग्रहकारा के ग्रतिचार विरोध के द्वारा प्रकृति क ग्रात्मघाती पथ का निर्माण करत हैं। समात्म भाव की मयादा यथाचित परिमाण म प्रकृति का सरक्षण कर जोवन के परिमित यथाथ म ग्रध्यात्म के ग्रपरिमित सौ दय एव ग्रान द का सचार करती है। ग्रपार सौ दय का स्रात यह समात्म भाव ही कला ग्रौर सस्कृति का मूल रहस्य है।

इस समात्म भाव के दो प्रमुख लक्षण साम्य ग्रौर ग्रभिवृद्धि है। जिस ग्रतिशय की हमने ग्रनक वार चर्चा की है वह इस ग्रभिवृद्धि का भाव है। कला ग्रौर सस्कृति म साम्य ग्रौर ग्रतिशय दोना मिलत है। यही समानता समात्म भाव के साथ उनके सम्ब ध का सूत्र है। प्रकृति विनान ग्रौर शास्त्र म कोई ग्रतिशय नही होता। इन तीनो का दृष्टिकोण तत्व प्रधान ग्रौर उपयोगिता वादी हाता है। प्रकृति, विनान ग्रौर शास्त्र म रूप ग्रौर भाव दोनो की उपयु क्तता ग्रभीष्ट होन के कारण इनम किसी के ग्रतिशय क लिय ग्रवकाश नही हाता। कि तु फिर भी दाना का साम्य इनम प्राय मिलता है। यह साम्य इनके क्षेत्रो मे ही सौ दय को प्रकाशित करता है। ग्रतिशय के ग्रभाव के कारण साम्य के इस सौ दय का विशेष महत्व नही दिया जाता तथा विनान ग्रौर शास्त्र क ग्र था को कला म स्थान नही मिलता। प्रकृति के इस साम्य मे वनस्पति जगत की भाति जहा कही भी हम रूप के ग्रतिशय का ग्राभास होता हैं वहा हम प्रकृति म भी सौ दय देखते है। प्रकृति म भाव के ग्रतिशय का सन्निधान भी कविया न कल्पना के द्वारा किया है। यह चाहे ग्रारोप ही हो कि तु काव्य में यह ग्रारोप सौ दय का स्रोत बना है इसम सदेह नही।

सस्कृति ग्रौर कला म रूप ग्रौर तत्व का साम्य ग्रतिशय स युक्त होता है। इसीलिये इनमे सौ दय ग्रधिक समृद्ध रूप म प्रकट होता हैं। साम्य ग्रौर ग्रतिशय सस्कृति एव कला दोना का सामा य लक्षण है। ग्रत सस्कृति को कलात्मक

ग्रौर कला को सास्कृतिक मानन मे काई ग्रनौचित्य नही है। दोनो म विवेक करन पर सस्कृति म माव की प्रधानता दिखाई देती है ग्रौर कला म रूप की महिमा ग्रधिक है। शब्द के साधक माध्यम क कारण काव्य ही एक एसी कला है जिसम रूप ग्रौर भाव दोनो के ग्रतिशय का सर्वाधिक साम्य सम्भव हो सकता है। कलाग्रो म काव्य की श्रेष्ठता का यह एक प्रधान कारण है। सस्कृति की जीवन्त परम्परा म भाव का इतना प्रचुर ग्रतिशय होता है कि रूप का ग्रल्प ग्रतिशय भी उसक लिय पर्याप्त ग्रवलम्ब बन जाता ह। सस्कृति म भाव की प्रधानता का कारण यह है कि सस्कृति साक्षात जीवन की ग्रात्मा का ग्रात्मानु सधान है। सस्कृति के माग स जीवन की ग्रात्मा ग्रान द के महासागर की ग्रोर प्रवाहित होती है। ग्रान द की खोज ही जीवन की मूल प्रेरणा ह। ग्रानन्द ग्रात्मा का भाव ह। उसकी ग्रा तरिक ग्रभिव्यक्ति को हम रूप कह सकते हैं। किन्तु रूप भी वस्तुत भाव है ग्रौर ग्रभिव्यक्ति क वाह्य रूपो स भिन्न ह। साम्य होन पर भाव की ग्रभि यक्ति का ग्रा तरिक रूप वाह्य रूपा को भी सौ दय से ग्रचित कर सकता है।

जीव त सस्कृति की परम्परा म समात्मभाव साक्षात रूप म साकार होता है। ग्रत सस्कृति परम ग्रान द का स्रोत है। ग्रान द स तप्ति मिलती है, जब कि प्रकृति का सुख तृप्ति के साथ तष्णा भी उत्पन्न करता है। तप्ति के कारण जीवन्त सस्कृति रूप के ग्रधिक ग्रतिशय की ग्रपेक्षा नही करती। रूप का ग्रतिशय एक प्रत्याहार क रूप म सौ दय का सिद्धा त कहा जा सकता है कि तु वह भाव के ग्रतिशय के साथ साम्य की स्थिति म ही सौन्दय का माध्यम बनता है। किसी विशेष भाव का ग्रतिशय न होन पर भी समात्मभाव के सामा य भाव का ग्रतिशय रूप क ग्रतिशय के साथ ग्रवश्य रहता है। यह समात्मभाव जब प्रत्यक्ष रूप म सम्भव नही होता तो कला कल्पना का ग्राधार लेती है। कल्पना से प्रेरित समात्मभाव की ग्राकाक्षा विशेष कलाग्रो की एक प्रधान प्रेरणा है। किसी भी प्रकार के समात्मभाव क बिना रूप का ग्रतिशय उत्प न नही होता। सस्कृति ग्रौर कला के इतिहास का इस दृष्टिकोण से पर्यालोचन इस तथ्य को प्रमाणित करेगा। समात्मभाव भी एक प्रकार स भाव का ग्रतिशय ही है। रूप के ग्रतिशय के साथ सवत्र वतमान होने पर रूप ग्रौर भाव के ग्रतिशय के साम्य को समस्त सस्कृति ग्रौर कला का सामा य लक्षण बना देता है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि संस्कृति में रूप की अपेक्षा भाव का अतिशय अधिक होता है। भाव का अतिशय तृप्ति और आनन्द देता है। भाव की तृप्ति में कमी आने पर मनुष्य की कला रूप के अतिशय की प्रधानता में उसकी पूर्ति खोजती है। सभ्यता के विकास में प्रकृति के बढ़ते हुए अनुराग से उपयोगिता और चमत्कार की क्रमिक वृद्धि के कारण भाव के अतिशय की सम्भावना कम और कम होती रही है। इसी क्रम में उन विशेष कलाओं का विकास हुआ है जिनमें रूप के अतिशय को प्रधानता मिलती है। संस्कृति के साक्षात समात्म भाव के विपरीत ये कलाएँ समात्मभाव की कल्पित आकांक्षा से अधिक प्रेरित है। किन्तु किसी भी रूप में रूप के अतिशय के साथ समात्मभाव का साम्य ही इन कलाओं के सौन्दर्य का रहस्य है। रूप और भाव का विवेक की दृष्टि से हमने भिन्न माना है। भाव की आन्तरिक अभिव्यक्ति में दोनों का तादात्म्य दिखाई देता है। आन्तरिक भाव से बाह्य रूप का विवेक करने पर भी दोनों में कुछ एकता अवश्य है। एक प्रकार से समस्त रूप ही अतिशय है। इसी लिये संस्कृत भाषा में रूप और सौन्दर्य एक दूसरे के पर्याय हैं। रूप के अतिशय में अतिशय जनित अभिवृद्धि मूलतः भाव का ही लक्षण है। भाव अभिवृद्धि का अन्तरतम स्वरूप है। अल्पतम अवकाश होने पर भाव का यह स्वरूप सहज ही प्रकाशित होता है। अतिशय की दृष्टि से रूप भाव का सहोदर अनुज है। वेदान्त और शैव दर्शनों में ब्रह्म और शिव की भाव रूप से प्रधानता भाव की मौलिक प्रधानता की ही द्योतक है। रूपात्मक जगत की अभिव्यक्ति भाव की दृष्टि से मिथ्या नहीं तो उपसर्ग अवश्य है। रूप के इन उपसर्गों को अपने अंग में समाहित कर भाव ही सुन्दर बनता है। रूप की महिमा की दृष्टि से यह भी कह सकते हैं कि रूप का अतिशय भाव को समृद्ध बनाता है। किन्तु फिर भी यह असंदिग्ध है कि रूप का अतिशय भाव की समृद्धि का निमित्त मात्र है। इस निमित्त के अवलम्ब से भाव की समृद्धि चरितार्थ होती है। भाव ही रस का स्वरूप है। भाव जीवन का चिन्मय तत्व है। रस भी चेतना का मधुर प्रवाह है। भग्नावरणा चित्' की कल्पना में पण्डितराज जगन्नाथ ने रस के मूल रहस्य का उद्घाटन किया है यद्यपि प्रकृति प्रधान काव्य शास्त्र की परम्परा से प्रभावित रहने के कारण वे चित्' के रसमय स्वरूप की समुचित व्याख्या नहीं कर सके।

मनुष्य के इतिहास मे सस्कृति ही सबसे प्राचीन है। सस्कृति से पहले यदि मनुष्य की किसी स्थिति की कल्पना की जा सकती है तो वह पूर्णत प्राकृतिक स्थिति है जिसम ग्रात्मा का ग्राभास अत्यन्त मन्द ग्रौर प्रकृति के उग्र ग्रनुरोधा स ग्रभिभूत रहा होगा। मनुष्य की ऐसी स्थिति कभी रही होगी, यह कहना कठिन है। किन्तु न्यूनाधिक मात्रा म प्रकृति का ग्रनुरोध मनुष्य के जीवन मे सदा रहा है। ग्रत प्रत्याहार के रूप म ऐसी स्थिति की कल्पना नितात ग्रसगत नही है। यदि पशुता स ही मनुष्य का विकास हुग्रा है तबतो यह कल्पना बहुत सगत है। मनुष्य की इस स्थिति का कोई इतिहास नही मिलता क्योकि इतिहास की परम्परा भी एक प्रकार का प्रतिदाय है ग्रतएव सास्कृतिक है। प्रकृति प्रधान जीवन म इसका ग्रवकाश नही है। मनुष्य के इतिहास के प्राचीनतम चिह्न जहा से मिलत हैं वहा स कला, काव्यादि की ग्रपेक्षा सस्कृति की ही प्रधानता मिलती है। कला काव्य ग्रादि के रूप इस सस्कृति म ही समवेत हैं। उन्होने ग्रपनी विशेष कलाग्रो का रूप ग्रहण नही किया है। जीवन्त सस्कृति का पुण्य पीठ समात्मभाव ही है। हम दखत हैं कि इस समात्मभाव की स्थिति म ही रूप का कलात्मक प्रतिभास जीवन म ग्रानन्द के स्रोत प्रवाहित करता है। समात्मभाव ही सास्कृतिक रस का मूल उत्स है। सस्कृति की मौलिक स्थिति म यह समात्मभाव जीवन की साक्षात विभूति के रूप म वतमान रहता है। सभ्यता के विकास मे प्रकृति क ग्रनुरोध से समात्मभाव की सम्भावना कम होती जाती है। कि तु मनुष्य की ग्र तरात्मा उस निरन्तर खोजती है। कल्पना की दिव्यशक्ति से मनुष्य ग्रपने ग्रभावो की मानसिक पूर्ति करता है। समात्मभाव से जो कला के विशेष रूप प्रेरित हुए है व तो सस्कृति क ग्रात्मीय ब धु जस ही रह हैं। किन्तु काल्पनिक समात्मभाव स भी जो कला क विशेष रूप पल्लवित हुए है व भी ग्रधिकतर सस्कृति के ही ग्रचल म पलत रहे हैं। वदो का सगीत मन्त्रा के काव्य म समाहित है। सस्कृत की ग्रधिकाश काव्य मालायें सस्कृति के सूत्र पर हा गुम्फित हैं। हिन्दी के मध्यकालीन काव्य का उद्यान भी सस्कृति की रसधारा स ही सिंचित है। प्राचीन शैली के भारतीय नत्य ग्रौर सगीत म भी सस्कृति का उल्लास बहुत मिलता है। ग्राधुनिक युग म ही सभ्यता मे प्रकृति क प्रबल ग्रनुरोध स सस्कृति की ग्र तर्धारा ग्रधिक मन्द हो रही है ग्रौर कला के विशेष रूपो म रूप क

कृतिक उपयोगिता और यथार्थ की भांति भाषा की दृष्टि से भी बालक के जीवन में अभिधा की प्रधानता रहती है। लक्षणा और व्यंजना के अतिशय पूर्ण संकेतों को बालक प्रायः नहीं समझता। भाव की व्यंजना का बोध के विलम्ब से विकसित होती है। किन्तु किशोर काल में जब प्रकृति का विकास पूर्णता को पहुँचने लगता है तो बालक में रूप और भाव दोनों के अतिशय का बोध विकसित होने लगता है। यौवनकाल के प्राकृतिक विकास की पूर्णता के साथ २ मनुष्य की कलात्मक और सांस्कृतिक भावना का विकास भी परिपूर्ण हो जाता है। परिपूर्ण प्रकृति सांस्कृतिक भावना का इतना सत्कार करती है कि तरुणों के सामान्य व्यवहार में भी अभिधा से कहीं अधिक लक्षणा और व्यंजना का उपयोग होता है। किशोरों और तरुणों के जीवन में कलात्मक सौन्दर्य के रूप और सांस्कृतिक भाव के अतिशय का उल्लास समात्मभाव से सम्पन्न रहता है। समात्मभाव का जितना अतिशय कैशोर एवं यौवन में मिलता है उतना अन्यत्र मिलना कठिन है। प्राकृतिक विकास की पूर्णता एक प्रकार से कलात्मक और सांस्कृतिक विकास की भी पूर्णता है।

जीवन के विकास की यह पूर्णता ही जीवन्त संस्कृति की उस परम्परा का आरम्भ है जिसका संकेत हमने ऊपर किया है। सांस्कृतिक परम्पराओं के स्रोत यौवन के उत्कर्ष पूर्ण यौवन के पीठ पर ही सम्पन्न हुए हैं। इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति तथा मनुष्य के विकास का क्रम एक दूसरे के विपरीत दिखाई देता है। मनुष्य का व्यक्तिगत विकास प्राकृतिक स्वार्थ से सांस्कृतिक समात्मभाव की ओर होता है। इसके विपरीत मनुष्य जाति के इतिहास में हम निरन्तर जीवन्त संस्कृति की परम्परा का ह्रास तथा प्रकृति के अनुरोध का विकास देखते हैं। संस्कृति इस ह्रास क्रम में भी कला अभी तक जीवित है। साक्षात समात्मभाव कम हो जाने पर भी काल्पनिक समात्मभाव की सम्भावना अभी शेष है। मातृभाव के मूल स्रोत तथा अन्य सम्बन्धों के अनुस्रोतों से अभी समात्मभाव की भूमि सरस है। अतः उसमें कला के पुष्प खिल रहे हैं यद्यपि संस्कृति के वटवृक्ष जीर्ण हो रहे हैं। व्यक्ति के सांस्कृतिक विकास तथा संस्कृति और कला के इतिहास में समात्मभाव का सूत्र ही सौन्दर्य और आनन्द का अवलम्ब है। इसके अभाव में प्राकृतिक भोग का अतिरंजित उन्माद ही मनुष्य

का प्रवलम्ब रह जायगा। जीवन की इस विडम्बना के पूर्वाभास हम इस समय भी पश्चिमी सभ्यता म मिल रहे ह।

प्रस्तु हमारा मत है कि सस्कृति और कला का सो दय सवदा समात्मभाव के क्षितिज पर ही उदित हाता है। व्यक्तित्व के प्राकृतिक एका त मे प्रकृति का विकास भी मानवीय सम्भावनाप्रो क प्रनुरूप नही होता। इसका प्रमाण भेडिया क द्वारा पाल हुए बालको क जीवन म मिलता है। कई वष पूव लखनऊ के प्रस्पताल म प्राये हुए एस ही एक वृक भृत बालक (रामू) मे मनुष्योचित प्राकृतिक वासनायें भी प्रत्य त म द थी। व्यक्तित्व मे सचतन के द्रा क समात्म भाव के प्रभाव म सस्कृति और कला का सो दय प्रकुरित नही हो सकता। इसका प्रय प्रमाण भारतीय समाज म मिलता है। भारतीय समाज म एक वग विशेष रूप से स्वाथ पूण प्रार्थिक व्यवसाय म सलग्न रहा है, उसम कला का प्रत्यन्त प्रभाव रहा है। ऐसी बात नहीं है कि व्यवसायी वैश्य वग म कला की सम्भावना न थी। हमारा प्रभिप्राय केवल इतना ही है कि प्रार्थिक दृष्टिकोण के स्वाथमय सकोच न इस सम्भावना को सफल नहीं होन दिया। इस वग के व्यवसायी पुरुषो के व्यस्त जीवन मे कला का प्रवकाश न हो, कि तु प्रचुर प्रवकाश पान वाली उनकी महिलाप्रो म भी कला का इतना प्रभाव पाया जाता है कि वह समाज की एक प्रसिद्धि बन गया है।

प्रार्थिक दृष्टिकोण की प्रधानता स उत्पन्न स्वाथ का सकोच इस वग के पारिवारिक जीवन म भी समात्मभाव को म द बनाता है और कला की सम्भावना को कम करता है। इस वग का उदाहरण हमने प्रपने सिद्धा त के समथन म एक व्यापक सामाजिक प्रमाण की दृष्टि स दिया है। यह प्रमाण सामा य रूप से ही सत्य है। इस वग के प्र तगत भी कलाकार और कलानुरागी प्रपवाद रूप म मिल सकत हैं। कि तु यह प्रपवाद भी हमारे समात्मभाव के सिद्धा त का समथन करते हैं। प्रत्येक कलाकार के जीवन का प्रध्ययन करके यह प्रमाणित किया जा सकता है कि कला का कल्पवृक्ष समात्मभाव की पूर्ति पर ही फलता फूलता है। कलाकार प्राय स्वभाव से प्रेमी तथा प्राकृतिक स्वार्थों की प्रोर से उदासीन हाते हैं। उनका यह स्वभाव समात्मभाव की प्रेरणा से ही बनता है। यही समात्मभाव उनकी कला की प्रेरणा है। मातृभाव तथा

अन्य रूपों में यह समात्मभाव सभी को साक्षात रूप में मिलता है। किन्तु किसी भी कारण से प्रकृति का अनुरोध कम होने पर समात्मभाव की आकांक्षा अधिक बढ जाती है और मनुष्य को कलाकार बना देती है। अन्य व्यक्तित्वों के साथ समात्मभाव का अनुभव और आकलन करने वाले ही कलाकार बन सकते हैं। यह समात्मभाव व्यक्तित्वों का तादात्म्य नहीं वरन् उनका संगम और सम्वाद है। इस समात्मभाव में प्राकृतिक दृष्टि से पृथक व्यक्तित्व भी भाव की दृष्टि से एकता एवं आत्मीयता का अनुभव करते हैं। यह आत्मीयता अस्तित्व की एकता नहीं वरन् भाव का साम्य है। समात्मभाव के विलक्षण अनुभव की अधिक व्याख्या नहीं की जा सकती। उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान अनुभव के ही द्वारा हो सकता। किन्तु इतना स्पष्ट है कि वह प्राकृतिक व्यक्तित्व की इकाई से पूर्णत भिन्न है। व्यक्तित्व की इस इकाई में कला का उदय नहीं होता। समात्मभाव एकाधिक इकाइयों का संगम साम्य है। इकाई का कठोर अवच्छेद न होने पर भी समात्मभाव में उसका विलय नहीं होता। अत वह अध्यात्म के कैवल्य से भी भिन्न है। व्याख्या की दृष्टि से हम इसे एक समान अथवा पारस्परिक भाव में व्यक्तित्वों का विस्तार कह सकते हैं।

संस्कृति तथा कला के सौन्दय एवं रस के सम्बन्ध में हमारी सर्वप्रथम मान्यता यही है कि वे व्यक्तित्व के एकान्त में सम्पन्न नहीं होते, वरन् समात्मभाव के क्षितिज पर उदित होते हैं, साक्षात अनुभव के रूप में यह समात्मभाव प्रारम्भ में प्रत्येक मनुष्य को मातभाव तथा अन्य सम्बन्धों से मिलता है। किसी भी कारण से जिनके जीवन में प्रकृति का अनुरोध बढ जाता है कि कलाकार अथवा भाव की सम्भावना अधिक विकसित होती है वे ही कलाकार बनते हैं। कोई भी मनुष्य कलात्मक अथवा आस्वादन की क्षमता उसी अनुपात में रखता है जिस अनुपात में समात्मभाव की सम्भावना उनके जीवन में शेष रहती है। समात्मभाव की महती सम्भावना ही महान् कलाकारों की प्रतिभा का रहस्य है।

हमारा विचार है कि पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही दिशाओं के काव्य शास्त्रों में यह एक मौलिक भूल रही है कि सभी आचार्य व्यक्ति की इकाई को कला के सृजन और आस्वादन का आश्रय मानते रहे। इस भूल का एक कारण तो यह हो सकता है कि पूर्व और पश्चिम दोनों के आचार्यों में स्वयं कोई कवि नहीं था।

किसी भी महान् कवि ने काव्य के सौदय और रस की व्याख्या नही की है। कला का स्वरूप सश्लेष प्रधान होता है। अत कदाचित कलाकार के लिये ऐसा विश्लेषण सम्भव नही है। कलाकार सौदय का सृष्टा है व्याख्याता नही। कला के अनुरागी और काव्य के पाठक भी सौदय के विश्लेषण की अपेक्षा उसके आस्वादन मे अधिक रूचि रखते हैं। कला का सौदय कुछ ऐसा सूक्ष्म और रहस्यमय है कि उसका विश्लेषण करना कठिन है, यद्यपि कोई भी अनुरागी उसका सहज आस्वादन कर सकता है। जो भी हो काव्य शास्त्रो की यह मान्यता गलत है कि कला के सौदय का सृजन और आस्वादन व्यक्ति के अधिष्ठान मे होता है। काव्य शास्त्रो की इसी भूल के कारण अनेक समस्यायें काव्य के सम्बन्ध मे उत्पन्न हुई हैं। काव्यशास्त्र की मौलिक भूल के कारण इन समस्याओ का समाधान भी ठीक नही हो सका है। कलाकारो और कवियो की वह मौलिक भावना जो उनकी रचना का आदिस्रोत है तथा कला और काव्य के पात्रो के प्रति उनका भाव स्पष्ट रूप से यह प्रमाणित करता है कि कला के सौदय और रस का आदि स्रोत समात्मभाव म ही है।

यह समात्मभाव अत्यन्त सूक्ष्म और अनेक प्रकार का होता है। सूक्ष्मता के कारण ही इसका निर्धारण कठिन रहा है इसकी अनेकता कला और काव्य मे अनेक विधि सौदय और रस का सृजन करती है। कलाकार को जीवन के आरम्भ मे प्राप्त होने वाला और कलाकार की सामान्य भावना मे रहने वाला समात्मभाव सबसे अधिक दुलक्ष्य है। कलाकार के जीवन और भाव के अतिरिक्त अन्य अनेक रूपो म समात्मभाव कला और काव्य मे समाहित होता है। यह समात्मभाव ही सस्कृति कला और काव्य म रस का आदि स्रोत है। रूप के अतिशय का सौदय इसी समात्मभाव से ही युक्त होकर रस का निभर बनता है। यदि हम रस और सौदय का विवेक करना अभीष्ठ हो तो हम भाव के अतिशय को रस और रूप के अतिशय को सौदय कह सकते हैं। समात्मभाव मे यह भाव का अतिशय मौलिक और व्यापक रूप म प्रकट होता है किन्तु इसके अन्य रूप भी हैं। किसी सीमा तक रूप के अतिशय को भी प्रत्याहार बनाया जा सकता है और उसे तत्व का वस्तुगत गुण मान कर उसम सौदय की कल्पना की जा सकती है। किन्तु भाव से पृथक होकर अथवा समात्मभाव से वचित होकर रूप के अतिशय का सौदय निर्जीव और नीरस हा जाता है। ऐसी स्थिति म

सौन्दय उपयोग और व्यवसाय का विषय बन जाता है। सास्कृतिक भाव के अभाव मे प्राकृतिक वृत्तिया उसका अवलम्ब बन जाती हैं। रूप से सम्पन्न होते हुए भी ऐसे सौन्दय की उपमा सुन्दरी और सुसज्जित किन्तु भावहीन तरुणी से दी सकती है। सभ्यता के विकास म प्रकृति का अनुरोध बढने के साथ साथ जहा जा एक ओर भाव मन्द होता गया है वहा दूसरी ओर (विशेषत जीवन के जड उपकरणो में) रूप के अतिशय का सौन्दय बढता गया है भवन वस्त्र तथा जीवन के अन्य जड उपकरणो में रूप के अतिशय का सौन्दय आधुनिक सभ्यता की एक महती विशेषता है। मानो भाव म दीन जीवन को सभ्यता इस नीरस किन्तु विपुल सौन्दय से ही कृताथ बनाना चाहती है। इस नीरस सौन्दय की विपुलता कितनी निष्फल है इसे सभी जानते ह। किन्तु प्रकृति की विपुलता, और भाव की दीनता स युक्त वतमान सभ्यता के लिये इस विडम्बना के अतिरिक्त कोई दूसरा माग नही। रस का स्रात भाव के अतिशय में ही है। रूप के अतिशय क साथ साम्य प्राप्त करके ही रस का स्रोत बन सकता है। शव दशनो में शिव के साथ सुन्दरी शक्ति के साम्य का यही रहस्य है।

अस्तु, भाव रस का अतिशय का आदि स्रोत है। समात्मभाव रस भाव के अतिशय का मौलिक और व्यापक रूप है। इसके अतिरिक्त भी भाव के अन्य अनेक रूप है जो सौन्दय के साथ समाहित होकर उसे रस से वचित करते हैं। जड उपकरणो मे रूप के अतिशय का सन्निधान व्यवसाय भी बन सकता है किन्तु शब्द के समान सचेतन उपकरण में भाव के अतिशय से रहित सौन्दय के अतिशय की कल्पना करना कठिन है। यदि किसी भी रूप में रूप के अतिशय के साथ भाव का अतिशय उपलब्ध नही होता, तो काव्य में भी रूप का सौन्दय रस का प्रेरक नही बनता। यदि भाव का अतिशय कला अथवा काव्य में उपादान के रूप में सग्रहीत नही होता, तो भी सामान्य समात्मभाव के रूप भाव के अतिशय का साम्य सौन्दय की सरसता के लिये आवश्यक है। इसके बिना काव्य में भी सौन्दय नीरस हो जाता है। रूप के अतिशय का सास्कृतिक रूप वही है जिसमें वह उपयोग और व्यवसाय से पराभूत नही रहता। तभी रूप का अतिशय वास्तविक अतिशय होता है अन्यथा वह प्रकृति और उपयोगिता का साधनमात्र बन जाता है, वह अपने आप म साध्य नही रहता। निरूपयोगी और व्यवसायहीन कला म ही रूप के अतिशय को वास्तविक अतिशय कहा जा सकता है। एव

अतिशय के सृजन के लिये समात्मभाव की प्रेरणा आवश्यक है। प्राचीन भारतीय सस्कृति और जीवन म समात्मभाव की प्रचुरता रहने के कारण ही भारतीय साहित्य म शास्त्रो और विज्ञानो मे भी रूप के अतिशय का सन्निधान हो सका। समात्मभाव की व्यापक भूमिका मे भाव के अतिशय से रहित ये पद्यबद्ध शास्त्र भी सरस बन गये हैं। समात्मभाव के साथ रूप के अतिशय का साम्य कलात्मक रचना को सुन्दर और सरस बनान के लिये पर्याप्त है। भाव का अतिशय न होने पर केवल भाव के साथ रूप के अतिशय का साम्य सौन्दय को अधिक सम्पन्न एव कृति को अधिक सरस बनाता है। उपादान के रूप म रचना मे भाव के अतिशय का सन्निधान होने पर सौन्दय और सरसता की अधिकतम अभिवद्धि होती है।

अस्तु सौन्दय मे रस की अभिव्यक्ति के कई धरातल हैं। रचना की भाति इनका आस्वादन भी अनेक धरातलो पर होता है। सौन्दय की रसमयी रचना ही कला है कला के सजन और आस्वादन की सबसे अधिक व्यापक भूमि समात्मभाव से युक्त होकर शुद्ध सगीत का केवल रूपात्मक और भाव रहित सौन्दय भी रसमय बन जाता हैं। समात्मभाव के दुलभ होने के कारण ऐसी शुद्ध कला का अनुराग समाज म कम मिलता है। शास्त्रीय सगीत म भाव की अल्पता और रूप का अतिरेक होने के कारण वह भी लोकप्रिय नही है, क्योकि सरसता के सृजन और आस्वादन के लिये समात्मभाव अपेक्षित है। समात्मभाव के दुलभ और दुलक्ष्य होने के कारण काव्य तथा कला मे भाव के अतिशय का सन्निधान किया जाता है। सामान्यत वही रचना सरस प्रतीत होती है। जिसम उपादान के रूप मे सरस भाव का सन्निधान होता है। यह सरस भाव प्राकृतिक और सास्कृतिक तीन प्रकार का हो सकता है। रस के यही तीन रूप हैं। आध्यात्मिक भाव अत्यन्त दुलभ और दुगम है। प्राकृतिक भाव, सुलभ और सुगम है। अत काव्य म उसकी विपुलता मिलती है। सास्कृतिक भाव दुलभ और दुलक्ष्य अवश्य है, किन्तु वह भी भारतीय काव्यो म प्रचुरता से मिलता है। किन्तु सास्कृतिक भाव के सन्निधान और आस्वादन के लिये भी समात्मभाव अपेक्षित है क्योकि वही उसका आधार है। इस द्विगुणित समात्मभाव के सन्निधान से सास्कृतिक काव्य का रस अधिक गहन और सौन्दय अधिक जटिल बन जाता है। यह गहनता रस की समृद्धि और यह जटिलता सौन्दय की अभिवृद्धि है। काव्य मे प्राकृतिक रस का सन्निधान भी समात्मभाव की भूमिका मे ही होता है। किन्तु

प्रकृति के अनुरोध के कारण उसके सजन और आस्वादन दोनो म सस्कृति की प्रधानता हो सकती है। ऐसी स्थिति म काव्य की रचना और उसके आस्वादन दोनो का सास्कृतिक भाव म द हो जाता है। तथा काव्य सास्कृतिक साधन न रह कर प्राकृतिक रस का साधन बन जाता है।

अस्तु, काव्य मे रस का सामा य आधार समात्मभाव ही है। इस समात्म भाव के साक्षात और काल्पनिक दो रूप है। इसके साक्षात रूप म भाव की व्यापकता और गम्भीरता के अनुसार भेद हो सकते हैं, अ यथा इसका रूप एक ही है। इसकी व्यापकता और गम्भीरता के भेद काव्य को अनेक श्रणियो मे विभाजित करते हैं। काल्पनिक समात्मभाव के दो भेद प्रतीत होते हैं, एक मे कल्पना समात्मभाव की तीव्र आकाक्षा के रूप म रहती है दूसरे मे वह साक्षात सत्य का आभास प्रस्तुत करती है। कल्पना चेतना के विस्तार की शक्ति है। मानसी सृष्टि के द्वारा वह साक्षात जीवन के अभावो की पूर्ति करती है। समात्मभाव का इतना मधुर अनुभव है कि जहा वह एक ओर हृष्टि का कारण है वहा दूसरी ओर अभिवृद्धि उसका स्वरूप है। अत किसी भी कारण जीवन म उसके म द होने पर उसकी अभिवृद्धि की तीव्र आकाक्षा होती है। इस आकाक्षा मे आशा के साथ साथ अभाव रहने के कारण प्राय कल्पना उस अभाव मे भाव का आभास प्रस्तुत करती है। कल्पना का अनुभव साक्षात अनुभव की पूर्ति करता है। इन तीनो ही प्रकारों के समात्मभाव के तीन भेद किये जा सकते है। ये भेद समात्मभाव के लिये अपेक्षित साम्य की स्थिति के अनुरूप हैं। इन भेदो म एक मे आदान की प्रधानता होती है और दूसरे म प्रदान की प्रधानता। तीसरे भेद म आदान और प्रदान का पूर्ण साम्य होता है। यह पूर्ण साम्य ही सास्कृतिक समात्मभाव की प्रधान विशेषता है। प्रदान अध्यात्म का भाव प्रमुख है क्योंकि प्रदान आत्मा का लक्षण है। आदान प्रकृति का लक्षण है अत आदान प्रदान समात्मभाव मे प्रकृति के अहकार स्वार्थ आदि का अनुरोध अधिक रहता है। इस प्रकार का समात्मभाव बालक वृद्ध तथा अ य असमथजनो के लिये उचित है। समथ मनुष्यो म उसकी प्रधानता प्रकृति की प्रबलता और सास्कृतिक भाव की म दता की द्योतक है। श्रेष्ठ और वृहद् काव्य के निर्माण के लिये अपेक्षित समात्मभाव का व्यापक और गम्भीर होने के साथ साथ सतुलित एव पूर्ण साम्य से युक्त होना आवश्यक है। कवि की दृष्टि

प्रौर काव्य क उपादान दानो म वतमान हान पर समात्मभाव का यह रूप काव्य की श्रेष्ठता को द्विगुणित कर देता है। श्रेष्ठ सस्कृति की सामाजिक भूमिका के रूप मे प्रदान प्रधान काव्य भी महत्वपूर्ण है। प्रादान प्रधान समात्मभाव स युक्त काव्य प्रौर जीवन दानो ही प्रधम है। इसका कारण यह है कि इसम प्रवृति प्रबल हो जाती है। प्रदान की प्रधानता पूर्ण साम्य व सास्कृतिक भाव का सुरक्षित रखने का माग है। कुछ प्राधुनिक काव्य समात्मभाव क प्रादान की प्राकाक्षा कवियो मे इतनी तीव्र दिखाई देती है कि वह अहकार का रूप ले लेती है प्रौर मम्मटाचाय के 'काव्यमृयशसे' का समथन करती ह।

इस प्रकार समात्मभाव प्रौर साम्य के विविध रूप विविध प्रकार के काव्या का विधान करते हैं। दृष्टि प्रौर उपादान के रूप म भाव का अतिशय विविध रूपो म समाहित होकर काव्य के वर्गीकरण को प्रौर जटिल बनाता है। किन्तु काव्य क इन सभी रूपा म सौ दय प्रौर रस किसी न किसी रूप म वतमान रहता है। रस को प्राकृतिक मानने के कारण तथा काव्य म रस की स्थिति का जीवन क अनुरूप मानने के कारण रस को काव्य का सामान्य लक्षण बनाना कठिन रहा। जीवन का प्राकृतिक रस जब काव्य का उपादान बनता है तो प्राकृतिक रस भी काव्य का प्रग बन सकता है। किन्तु यह काव्य क प्रतिरिक्त जीवन मे भी होता है। यह प्राकृतिक रस काव्य का विलक्षण रस नही है। काव्य का विलक्षण रस उसके सौन्दय म निहित है। यह सौन्दय रूप का प्रतिशय है। जो कला का सामा य लक्षण है। समात्मभाव से युक्त होकर यह सौ दय काव्य म रस की सृष्टि करता है। यह कला प्रौर काव्य के मौलिक रस का रूप है। अनेक प्रकार के भावो से युक्त होकर काव्य का यह रस प्रौर अधिक सम्पन्न होता है। ये भाव जीवन के रसपूर्ण तत्व ह। काव्य के उपादान बनकर ये काव्य के सामा य प्रौर मौलिक रस को अधिक सम्पन्न बनाते हैं। सभी काव्य म एक ही प्रकार का रस नही होता प्रौर न काव्य का रस जीवन के रस के साथ अभिन्न है। जीवन का रस साक्षात भाव अथवा अनुभव के रूप म होता है। प्राकृतिक एव आध्यात्मिक रस के प्रतिरिक्त जीवन का सास्कृतिक रस जीवन मे भी समात्मभाव से युक्त होता है। समात्मभाव भी एक प्रकार स भाव का अतिशय है। इस भाव क अतिशय म जीवन का रस प्रवाहित होता है। समात्मभाव जीवन प्रौर काव्य के रस का सामा य आधार है। साक्षात जीवन म वह जीवन

के भावों और उपकरणों में साकार होकर जीवन का रस से आप्लुत करता है। जीवन के ये भाव और उपकरण काव्य में भी रस के साधन बन सकते हैं। किन्तु काव्य का मौलिक रस और सौन्दर्य का रस है जो समात्मभाव की भूमि में प्रवाहित होता है। काव्य के रस को जीवन के रस से अभिन्न मानने के कारण कोई भी आचार्य काव्य के इस मौलिक रस की कल्पना नहीं कर सके। रूप के इस मौलिक रस से युक्त होने के कारण छन्दोबद्ध शास्त्र भी मधुर लगते हैं। तथा चित्र और अलंकार काव्य भी रमणीय लगता है। काव्य का यह रस कला का सामान्य रस है जो भाव रहित संगीत तथा वाद्य संगीत में भी विभासित होता है। कला के इसी सामान्य रस के आधार पर कलात्मक सौन्दर्य के स्वरूपगत माधुर्य की व्याख्या की जा सकती है। जीवन के भाव रूप रस से पृथक मानने पर ही कला और काव्य के इस रस का स्वरूप समझा जा सकता है। कला और काव्य के इसी मौलिक रस की धारा के तट पर स्थित होकर रौद्र और वीभत्स के समान जीवन के अप्रिय भाव भी रस के उपादान बन जाते हैं। काव्य के रस की इसी भागीरथी के तट पर वेदना के करुणामय प्रसंग भी अभिनन्दनीय तीर्थ बन जाते हैं। काव्य में करुणा और वेदना के अद्भुत माधुर्य का रहस्य भी बहुत कुछ सीमा तक काव्य के इसी कलात्मक मौलिक रस में मिलता है।

समात्मभाव की भूमि में प्रवाहित होने वाली काव्य के कलात्मक रस की प्रवाहिनी को जीवन के अन्य भावों की रस धारा में अधिक तीव्र और गम्भीर बनाती है। काव्य की मौलिक रसधारा में मिलकर वे उसका विस्तार करती हैं। अनेक रस धाराओं का समागम काव्य की रस धारा को सम्पन्न बनाता है। जीवन की इन अनेकविध रस धाराओं के अतिरिक्त साम्य और समात्मभाव की बढ़ती हुई कोटियाँ भी काव्य के रस की सम्पन्नता में योग देती हैं। कला के रस का सबसे अधिक सामान्य और व्यापक रूप भाव रहित शुद्ध संगीत अथवा वाद्य संगीत से मिलता है। काव्य में कला का यह शुद्ध रूप संगत नहीं है क्योंकि काव्य एक वाङ्मय कला है। उसमें शब्द और अर्थ का अनिवार्य साहित्य रहता है। अतः काव्य में भाव अथवा अर्थ से रहित शुद्ध रूप के सौन्दर्य और रस की कल्पना नहीं की जा सकती। छन्दोबद्ध शास्त्रों में भाव का अतिशय होता, क्योंकि उसकी यथार्थता उनका लक्ष्य नहीं रहती है। फिर भी रूप के

प्रतिशय के साथ यथाथ भाव का साम्य उनम रहता है। यह साम्य उनके रूपात्मक सौन्दय को साकार और सम्पन्न बनाता है तथा रस को स्फुरित करता है। किन्तु इन छ दोबद्ध शास्त्रा का रस मुख्यत रूप क सौ दय का रस है। शास्त्रा क यथाथ भाव का साम्य भाव की दृष्टि से नहीं कितु केवल साम्य की दष्टि स इस रूप के सौन्दय को अभिवृद्ध करता है। अधिक समृद्ध न होत हुए भी इन छ दोबद्ध शास्त्रो के सौ दय का रस शुद्ध सगीत के रस से भिन्न कोटि का है। इसम समात्मभाव, यथाथभाव और रूप के अतिशय की तीन धारायें हैं, जबकि शुद्ध सगीत क रस म समात्मभाव और रूप के अतिशय की दो ही धारायें रहती हैं। इतना अवश्य है कि छन्दोबद्ध शास्त्रों की रस धारा अपेक्षाकृत कुछ अधिक विस्तृत होते हुए भी अधिक गम्भीर नही होती क्योकि मूलत कला का रस रूप क अतिशय पर निभर करता है और छ दोबद्ध शास्त्रों म रूप का अतिशय अधिक नही होता। काव्य म रूप के अतिशय के साथ साथ भाव का अतिशय भी रस को सम्पन्न बनाता है। छ दोबद्ध शास्त्रो म भाव का अतिशय नही होता। अत इन रचनाओं म रूप क अल्प अतिशय का रस ही उपलब्ध होता है। इसीलिए काव्य शास्त्र के आचाय और काव्यानुरागी दोनो ही इन्हे काव्य की कोटि म नहीं गिनते। कि तु जो इन शास्त्रो के अनुरागी हैं वे जानते हैं कि ये रचनायें पूणत रस से विहीन नहीं है। रूप के अतिशय से रहित शास्त्रा की अपेक्षा इनम अधिक रस होता है। इसीलिए रस के अनुरागी भारतवष म छन्दोबद्ध शास्त्रा की परम्परा रही है।

रूप के अतिशय के साथ साथ भाव का अतिशय उस काव्य का विशेष लक्षण है जिसे सवसम्मति से काव्य माना जाता है। इस काव्य म रूप और भाव के अतिशयों का साम्य होता है जो समात्मभाव की भूमि म सम्पन्न होता है। इस भाव के अतिशय और रूप के अतिशय के साथ उसके साम्य से काव्य का रस समृद्ध होता है। *भाव का यह अतिशय काव्य का ही नहीं जीवन का भी उपादान है।* काव्य जीवन की वाङमय अभिव्यक्ति है। अत काव्य की दृष्टि से भाव का अतिशय आकृति का अतिशय है। आकृति शब्द का अभिप्रेत है। अभिधान म भाव की यथाथता होती है अतिशय नही होता। अत काव्य म लक्षणा, व्यजना, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि के रूप म भाव के अतिशय का सन्निधान होता है। इन सबको हम आकृति के अतिशय की दृष्टि से देखना चाहिए।

यह प्राकृति का प्रतिशय सवत्र जीवन के अनुरूप भाव का प्रतिशय नहीं होता। यथा। और अभिधय भाव भी अभिव्यक्ति की भगिमा के सयोग अथवा समान से अतिशय बनजाता है। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि भाव का यह प्रतिशय वस्तुत रूप का ही प्रतिशय है अथवा उससे भिन्न है। व्यजना की भगिमा म भाव रूप से भिन्न होता है। उसम अभिधा के समान भाव और रूप पृथक नहीं किय जा सकत। परन्तु रूप के प्रतिशय से सयुक्त भाव का यह प्रतिशय काव्य के सौ दय और रस को अधिक अभिवृद्ध करता है। छन्द अथवा लय के रूप म रूप का प्रतिशय काव्य म सवत्र रहता है। भाव के प्रतिशय को समाहित करन वाली व्यजना की भगिमा रूप का एक दूसरा प्रतिशय रचती है तथा छ द प्रथवा लय के सामा य प्रतिशय के सौ दय को समृद्ध बनाती है। इस प्रकार जीवन के अनुरूप भाव का यथाथ भी व्यजना की भगिमा के द्वारा काव्य म प्रतिशय बन कर काव्य के सौ दय और रस को यथाथ और रस का यथाथ भाव से युक्त एव अभिधा प्रधान छ दोमय काव्य की अपेक्षा अधिक समृद्ध बनाता है।

व्यजना की भगिमा केवल भाव के यथाथ को ही प्रतिशय का रूप नही देती वरन् वह जीवन म प्राप्त होन वाले भाव के वास्तविक प्रतिशय को भी अपनी शक्ति म समाहित करती है। यह भाव का प्रतिशय जीवन म समात्मभाव के द्वारा ही सम्भव होता है किन्तु जीवन के विशेष भावो का अतिशय सामान्य समात्मभाव म युक्त होकर उसे साकार ही नही समृद्ध भी बनाता है। भाव के अतिशय का मम समझने के लिए 'भाव' शब्द के व्यापक अभिप्राय को जानना होगा। मूल रूप म सत्ता का वाचक भाव शब्द अथवा वाक्य के अभिप्राय और आत्मिक भाव का व्यजक बन गया है। वस्तुगत सत्ता बहुत कुछ यथाथ और अभिधेय है। उसम अतिशय का अवकाश नही है। व्यजना का सयोग केवल वस्तुगत सत्ता के सम्बन्ध म प्रतिशय का एक आभास प्रस्तुत करता है। शब्द और वाक्य के अथ म भी बहुत कुछ यथाथता रहती है यद्यपि शब्द एक ऐसा अद्भुत माध्यम है कि उस म भाव के अतिशय की सम्भावना भी बहुत रहती है। अथ का यह अतिशय नान के रूप म होता है। इसलिए इसमें चमत्कार तो होता है किन्तु उल्लास अधिक नही। अतिशय का उल्लास भाव के उस ततीय रूप म दिखाई दता है जो वस्तु और अथ की भाति उदासीन नही

वरन् मनुष्यो के प्रारम्भिक सम्बन्धो म प्रकट होता है। यह भाव रस स पूर्ण होता है। जीवन के सास्कृतिक रस का यही मम है। किन्तु काव्य मे वस्तु और अथ का अतिशय भी व्यजनागत रूप के अतिशय तथा समात्मभावगत भाव के अतिशय के साम्य के द्वारा रस की सृष्टि करता है। ऊपर हमने रस के इस रूप का सकेत किया है। इससे अधिक समृद्ध रस का रूप हम उस काव्य म मिलता है जिसम तृतीय अथ म भाव का स निधान उपादान के रूप मे होता है। यह भाव आत्मा का भाव है अत यह स्वरूप से ही समृद्धिशील है। अतिशय इसका स्वभाव है। अत किसी भी शब्द शक्ति के द्वारा इसकी पूण अभिव्यक्ति नही हो सकती। व्यजना की भगिमा एक ओर लय के अतिशय मे अभिव्यक्ति के अतिशय का योग देकर रूप को समृद्ध बनाती है तथा दूसरी ओर समात्मभाव क सामा य आधार म निहित भाव के अतिशय म विशेष भाव के अतिशय का समवाय करती है। इसके अतिरिक्त व्यजना रूप और भाव के इन अतिशयो का साम्य भी स्थापित करती है। इस साम्य मे काव्य का सौ दय और रस चतुगु ण वैभव से सम्प न होता है।

इस प्रकार कला के रस की पाच और काव्य के रस की चार कोटिया है। कला के रस की पहली कोटि सामान्य समात्मभाव और शुद्ध रूप का साम्य है जो शब्द रहित सगीत अथवा वाद्य सगीत मे मिलता है। शुद्ध कला का यह रूप काव्य मे सम्भव नही है, क्योकि का य का माध्यम साथक शब्द है। जब तक बालक शब्दो का अथ अधिक नही समझता तब तक उसके लिए साथक काव्य का रस भी शुद्ध कला के रस के समान रहता है। कि तु वस्तुत काव्य के रस की प्रथम कोटि समात्मभाव की सामा य भूमिका मे रूप के अतिशय के साथ भाव के यथाथ के साथ साम्य है। भाव का यह यथाथ वस्तु और अथ दो रूपो मे मिलता है। छ दोबद्ध शास्त्रो म भाव क वस्तु रूप की प्रधानता है जो समात्म-*भाव और रस के अतिशय के साम्य म रस का आधार बनाता है। यह साम्य* काव्य के रस की पहली और कला के रस की दूसरी कोटि है। प्रसिद्ध काव्य म भाव का अथ रूप मिलता है जो व्यजना की भगिमा क द्वारा अतिशय का रूप ग्रहण करता है। शुद्ध कला के रूप म भाव का यह योग का य के रस की दूसरी कोटि का निर्माण करता है जो कला के रस की तीसरी कोटि है। स्वरूप से ही अतिशय पूर्ण अथ काव्य के रस की तीसरी कोटि का निर्माण करता है जो कला

को चौथी कोटि है। जब जीवन के साक्षात् अनुभव के अतिशय के रूप में प्राप्त होने वाला आत्मिक भाव का उपादान बनता है तो काव्य के रस की चौथी कोटि प्रकट होती है जो कला के रस की पांचवी कोटि है। इस अंतिम कोटि में जीवन का साक्षात् रस काव्य का उपादान बनता है। काव्य की यह अंतिम कोटि जीवन की भूमि और काव्य के आकाश के सम्मिलन का क्षितिज है। काव्य शास्त्र के आचार्यों की दृष्टि इसी क्षितिज पर रही है।

वे रस की इस अंतिम कोटि को ही रस मानते रहे हैं। काव्य के रस की अन्य तीन कोटियों का विश्लेषण काव्य शास्त्र में नहीं किया गया। रस की इस अंतिम कोटि में भी हमारे आचार्य जीवन और काव्य के रस में भेद नहीं कर सके और दोनों को अभिन्न मानते रहे। वस्तुतः वे दोनों एक नहीं हैं। जीवन का रस साक्षात् अनुभव के रूप में होता है। अतिशय के साधनों का उसमें अधिक महत्व नहीं होता। व्यक्तियों के साक्षात् सम्पर्क के कारण उनका सम्वाद अव्यवहित रूप में होता है। किन्तु काव्य में व्यक्तियों का यह साक्षात् सम्पर्क नहीं होता। जहां वह सम्पर्क काव्य का विषय बनता है वहां भी वह साक्षात रूप में काव्य में समाहित नहीं हो सकता। काव्य में केवल उसका अंचल होता है।

व्यंजना की भंगिमा उस अंकन की प्रणाली है। व्यंजना के द्वारा काव्य में साक्षात् रूप में संग्राह्य न होने पर भी जीवन का रस काव्य बन जाता है। व्यंजना की शक्ति के द्वारा इस काव्य के समृद्ध पाठक जीवन के अनुरूप रस के आस्वादन में समर्थ होते हैं। इसीलिए काव्य शास्त्र के आचार्य रस को व्यंग्य मानते रहे हैं। रस अभिहित नहीं होता वरन् व्यंजित होता है। किन्तु इसके कारण की व्याख्या आचार्यों ने नहीं की। इसका कारण यह है कि 'रस' शब्द का अर्थ नहीं है वरन् वह एक जीवंत अनुभव है। जीवन और काव्य के स्वरूप का भेद इसका कारण है कि रस का अभिधान नहीं हो सकता। वस्तुतः रस व्यंग्य भी नहीं है। व्यंजना केवल अर्थ के अतिशय का संकेत है। रसमय भाव का ग्रहण अथवा संकेत वास्तव में शब्द के द्वारा नहीं हो सकता। शब्द और उसकी शक्ति तथा काव्य के अन्य समस्त उपकरण उस रस के निमित्त मात्र हैं। इन निमित्तों के सहयोग से आत्मा में रस की अभिव्यक्ति होती है।

अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद मे इतना सत्य अवश्य है। किन्तु जिन स्थायी भावो को काव्यशास्त्र की परम्परा मे रस का आधार माना गया है वे वास्तविक जीवन मे रस के आधार नही हैं। शोक, क्रोध, घृणा आदि म रस के अनुभव नही करते। काव्य शास्त्र मे एक ओर काव्य के रस को जीवन के रस के अनुरूप माना गया है किन्तु दूसरी ओर रस के निरूपण मे इस अनुरूपता का निर्वाह नही किया गया है। इस विडम्बना का कारण यह है कि वस्तुत काव्य का रस जीवन के रस से अभिन्न नही है। काव्य ग्रन्थो म जीवन की वे स्थितिया रसमय बनती हैं जो साक्षात जीवन म रसमय नही होती। किन्तु यह किस प्रकार होता है इसका समाधान काव्य शास्त्र के आचार्य नही कर सकें। काव्य की इस अद्भुत प्रक्रिया का रहस्य काव्य के स्वरूप म ही निहित है। काव्य साक्षात जीवन नही है। वह जीवन का अचल और उसकी अभिव्यक्ति है। उस अभिव्यक्ति का अपना सौन्दर्य और रस हैं। वस्तुत यही काव्य का मौलिक रस है।

ऊपर हमने काव्य के रस की जिन चार कोटियो का सकेत किया है उनमे पहली तीन कोटिया मे काव्य का मौलिक रस प्रधानत अपने कलात्मक रूप मे वर्तमान रखता है। काव्य के रस की अन्तिम कोटी मे जीवन और काव्य के रस कला के क्षितिज पर मिलते है। किन्तु उसम भी काव्य के भाव की कादम्बिनी कला के अन्तरिक्ष म ही विहार करती है। उसी कादम्बिनी के अचल में सौन्दय के इन्द्र धनुप खिलते हैं। काव्य की इस कादम्बिनी म जीवन का साक्षात् रस तत्वत अपने स्वरूप म अवश्य रहता है। किन्तु रूपत वह वायवीय वाष्प बनकर सौन्दय के इन्द्रधनुप की वर्ण विभूति से समलंकृत हो जाता है। करुणा के किन्ही कोमल क्षणो म ही काव्य की यह कादम्बिनी विगलित होकर जीवन की भूमिका जीवन के साक्षात रस से अभिषेक करती है। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि तब काव्य की कादम्बिनी का वायवीय स्वरूप विगलित होने लगता है। साक्षात अनुभव की भूमिका स्पर्श करने पर काव्य का रस उसके रूपमय सौन्दय से परिणमित होने लगता है। साक्षात इस परिणाम को काव्य का लक्ष्य मान सकते हैं। किन्तु इस भावना म काव्य का स्वरूपगत सौन्दय साधन मात्र रह जाता है।

किन्तु कवि प्रतिभा के जिस तेजस्वी सूर्य की शक्ति से जीवन के रस का काव्य की सरस कादम्बिनी के रूप में अनुवाद होता है वह अभिनन्दनीय है। उस प्रतिभा और काव्य की अपने आप में महिमा है। काव्य की कादम्बिनी के साथ साथ उसके अंचल को अलंकृत करने वाले इन्द्र धनुषी वर्णों तथा उसके अंचल प्रान्तों की रजत रेखाओं का सौन्दर्य भी गहनीय है। इन सबका अपना सौन्दर्य और रस है जो जीवन के रस पर अवलम्बित होते हुए भी जीवन की भूमि से बहुत दूर हैं। हमने ऊपर के विवरण में कला और काव्य के रस की जिन कोटियों का विवरण किया है उनमें कला और काव्य के उस स्वरूपगत रस को ही ध्यान में रखा है जो काव्य के अपने सौन्दर्य से अभिनिर्मित है। रस की इन कोटियों को सम्मिलित किये बिना काव्यगत रस की मीमांसा पूर्ण नहीं हो सकती। काव्य के रस को जीवन के रस से अभिन्न मानने के कारण काव्य शास्त्र की परम्परा में रस की इन कोटियों का विश्लेषण न हो सका। जीवन रस की इन कोटियों का अवलम्ब अवश्य है किन्तु मुख्यतः ये रस की कोटियां काव्य के स्वरूप में ही सम्पन्न होती है। इन कोटियों में काव्य के रस का वह रूप प्रकट होता है जो मुख्यतः काव्य के स्वरूप पर ही अवलम्बित है। अतः रस की इन कोटियों को काव्य के रस की मौलिक कोटियां मानना उचित है। रस की इन कोटियों में रस का उत्तरोत्तर उत्कर्ष है। किन्तु रस के उत्कर्ष की यह धारणा भी जीवन के रसात्मक दृष्टिकोण के अनुरूप है। अन्यथा रस की अवर कोटियों में भी उत्कर्ष की कल्पना की जा सकती है। इसकी अन्तिम कोटि में जीवन के रस का साक्षात् ग्रहण सहायक होता है और व्यंजना की अल्प शक्ति भी पर्याप्त होती है। इसीलिए अधिकांश काव्यों में इस रस की प्रचुरता मिलती है। अर्थ के अतिशय के रूप में भाव के अतिशय की अभिव्यक्ति के लिए व्यंजना का अधिक कौशल अपेक्षित है। रूप और शक्ति की अधिक अपेक्षा के कारण कामायनी की भांति दर्शन का समन्वय करने वाला काव्य की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। काव्य की अन्य अवर कोटियां इसलिए अधिक समृद्ध और सुन्दर नहीं बन सकतीं कि उनमें रूप और भाव दोनों के अतिशय की सम्भावना कम रहती है। किन्तु शुद्ध संगीत में रूप की अनन्त समृद्धि का अवकाश है और उसमें कलात्मक सौन्दर्य का रस अनन्त रूप में समाहित हो सकता है।

काव्य के रस की इन कोटियो म भी अनेक भेद किए जा सकते हैं। इन भेदो का आधार विशेषत भाव के सम्बन्ध मे कवि और पात्रो तथा पाठको की विभिन्न स्थितिया होगी। इन भावो के विविध रूप काव्य के स्वरूप को जटिल बनाकर उसके सौन्दय और रस का समृद्ध करत हैं। ऊपर के विवरण म भावो के जिन विविध रूपो का सकेत किया गया है उनम भी भाव के अतिशय के समृद्धतर रूप भाव के अवर रूपो का परिहार नही करत वरन् उनका समाहार करते ह। इस प्रकार समृद्धतर रूपो म भावो के अवर रूपो के समाहार से काव्य का सौन्दय और रस उत्तरोत्तर समृद्ध होता है। इसके अतिरिक्त कवि, पात्र पाठक आदि के सम्बन्धो के नात अतिशय पूण भावो के जो विविध रूप हात हैं, वे भी काव्य के रूप को जटिल बनाकर उसके सौन्दय और रस को समृद्ध करत हैं। इन भावो म सबसे पहले समात्मभाव ही विचारणीय है क्योकि वह काव्य का सामान्य आधार है। काव्य म समात्मभाव का सन्निधान अनेक रूपो मे होता है। यह सन्निधान जितने अधिक रूपो म होता है, काव्य उतना ही सम्पन्न, सुन्दर और सरस होता है। वस्तुत समात्मभाव एक स अधिक सचेतन व्यक्तियो के भाव का साम्य है। जीवन म प्राप्त समात्मभाव की प्रेरणा से प्रसूत उसके विस्तार की आकाक्षा कवि के काव्य सजन का आदि कारण है। जीवन मे प्राप्त यह कवि का समात्मभाव उसकी कविता मे उपादान के रूप म भी समाहित होता है। किन्तु कवि क जीवन का साक्षात समात्मभाव ही काव्य का सवस्व नही होता। कुछ व्यक्तिगत गीत काव्य म वह अधिक मिलता है।

गीत काव्य मे भी इसके अतिरिक्त कवि का काल्पनिक समात्मभाव सन्निहित रहता है। प्रबन्ध तथा अन्य प्रकार के काव्य म भी कवि का काव्य के पात्रो के साथ समात्मभाव होता है। इसी के आधार पर कवि काव्य रचना मे समथ होता है। मनुष्य की कल्पना मे इतनी शक्ति है कि अचेतनो के साथ भी वह समात्मभाव स्थापित कर सकता है। एकागी होते हुए भी यह समात्मभाव कवि के व्यक्तित्व की ओर से उस समात्मभाव के ही समान होता है जो दो सचेतन व्यक्तियो के बीच सम्पन्न होता है। इस प्रकार का समात्मभाव भी गीति काव्यो मे बहुत मिलता है। भारतवष की प्रकृति के साथ कालिदास का समात्मभाव ऐसा ही था। इसी समात्मभाव की प्रतिमा से भारतवष की प्रकृति

की आत्मा कालिदास के काव्य में साकार और मुखरित हुई है। कवि के अतिरिक्त पात्रों का भी समात्मभाव पात्रों तथा प्रकृति के साथ होता है। उदाहरण के लिए कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल में प्रियंवदा, अनुसूया, शकुन्तला गौतमी कण्व आदि का परस्पर समात्मभाव है, तथा इनका आश्रम की प्रकृति के साथ भी समात्मभाव है। कालिदास का भी इन पात्रों और प्रकृति दोनों के साथ समात्मभाव है। इस प्रकार कई रूपों में जटिल होकर शाकुन्तल में समाहित समात्मभाव उसके अद्भुत सौन्दर्य का मर्म है। प्रेम अथवा शृंगार का रमणीय विषय शाकुन्तल के सौन्दर्य का एक साधारण रहस्य है जो अन्यत्र भी सम्भव है। किन्तु अनेक विध समात्मभाव की जटिलता काव्य की दृष्टि से उसके असाधारण सौन्दर्य का वास्तविक रहस्य है। कवि, पात्रों, पशुओं तथा वृक्ष लताओं में परस्पर व्याप्त यह समात्मभाव शाकुन्तल के सौन्दर्य को चतुर्गुण बनाता है। काव्य के रसास्वादन में पाठक अथवा दर्शक काव्य के पात्रों और विषयों के साथ समात्मभाव स्थापित करता है। तभी वह काव्य के रस का आस्वादन करता है। यह समात्मभाव किसी व्यक्तित्व के साथ तादात्म्य नहीं है वरन् भाव का साम्य है जिसके लिए समान स्थिति और दृष्टिकोण आवश्यक नहीं है। स्थिति, सम्बन्ध और दृष्टिकोण के भिन्न होने पर भी समात्मभाव सम्भव होता है। किन्तु इनके समान होने पर ही उसकी सम्भावना रहती है। पुत्र जन्म होने पर पति पत्नी दोनों समान भाव से हर्षित होते हैं। किसी आत्मीय की मृत्यु होने पर सभी निकट सम्बन्धी रोते हैं। किन्तु यह समान भाव ही समात्मभाव का एक रूप नहीं है। शोक से संतप्त होते हुए भी कुछ आत्मीयजन साहस और धैर्य द्वारा रोते हुओं को धीरज बंधाते हैं, वे स्वयं रोते नहीं। काव्य की रसानुभूति के लिए पात्रों के साथ तादात्म्य की कल्पना करके काव्यशास्त्र के आचार्य अनेक कठिनाइयों में उलझे रहे। पात्रों के साथ तादात्म्य तो नहीं किन्तु उनके साथ उसी रूप में समात्मभाव सम्भव है जिस रूप में कि कुछ अन्य पात्रों का उनके साथ समात्मभाव होता है। जब तक कि किसी काव्य के वे ही पात्र न हों तब तक यह समात्मभाव अनेक रूपों में सम्भव होता है। काव्य शास्त्र के आचार्य प्रायः प्रौढ़ 'पुरुष' रहे हैं। अपने से भिन्न स्थिति की कल्पना करने में असमर्थ होने के कारण वे समात्मभाव के इन अनेक रूपों की भी कल्पना नहीं कर सके। किन्तु वस्तुतः काव्य के रसिक अनेक प्रकार के व्यक्ति होते हैं। वे सभी प्रौढ़ पुरुष नहीं होते। शाकुन्तल को दर्शन

प्रथवा पढ़न वाले तरुण पुरुष शकुन्तला के साथ प्रेम का अनुभव कर सकते है, यह उनक समात्मभाव का रूप है। युवतिया दुष्यन्त के साथ प्रेम की भावना कर सकती हैं। गौतमी प्रौर कण्व के समान वृद्ध स्त्री-पुरुषो का शकुन्तला क प्रति वात्सल्यपूण समात्मभाव होगा।

किसी किशोर का वाल्मीकि के ग्राश्रम म सीता तथा मारीचि के ग्राश्रम की शकुन्तला के साथ मातृभाव से समात्ममाव हो सकता है। जिस प्रकार काव्य की रचना मे ग्रनेक विध समात्ममाव का सन्निधान होता है, उसी प्रकार उसके इस ग्रास्वादन मे भी ग्रनेक प्रकार का समात्मभाव सम्भव होता है। सभी रूपो म यह समात्ममाव काव्य के रस का रहस्य है। यह स्मरण रखने योग्य है कि काव्य की रचना ग्रथवा उसका ग्रास्वादन पात्रो के साथ तादात्म्य के द्वारा नही वरन् उनके साथ समात्मभाव क द्वारा होता है। यह समात्ममाव एक ही रूप म नही होता इसलिए काव्य के रसास्वादन का भी एक ही रूप नही है। तादात्म्य ग्रोर रस की एकरूपता को मानकर ही भारतीय काव्यशास्त्र भ्रान्त सिद्धान्तो की छलनाग्रो म मटकता रहा। यहा एक पुनवचन ग्रपेक्षित है कि काव्य म रस का उक्त प्रसग जीवन के रस के ग्रनुरूप है। यह रस का वह रूप है जो काव्य का उपादान बनता है। इसके ग्रतिरिक्त काव्य का स्वरूपगत रस वही है जिसे हमने काव्य के रूप ग्रौर सौन्दय का रस कहा है तथा जो ग्राकृति के ग्रतिशय की व्यजना म साकार होता है। सामान्यत साधारण पाठक जीवन के ग्रनुरूप ही काव्य के रस का ग्रास्वादन करते हैं। व्यजना के सौन्दयगत रस के ग्रास्वादन की योग्यता कुछ विनजनो म ही होती है। इसी कारण उपादान रूप रस काव्य म इतना लोकप्रिय रहा है तथा काव्यशास्त्र के ग्राचाय भी रस की व्यजना को काव्य का परम लक्ष्य मानते रहे। उपादान रूप रस के विमोह म ग्राचाय भी काव्य के स्वरूपगत रस का निरूपण नही कर सके।

जिस प्रकार जीवन के ग्रनुरूप ग्रनेक प्रकार के समात्मभाव का सन्निवश काव्य म होता है ग्रौर ग्रनेक रूप समात्ममाव के द्वारा पाठक उसका रसास्वादन करते हैं, उसी प्रकार जीवन के विशेष भाव भी ग्रनेक रूपो मे काव्य के सपादक बनते है। इन भावो के ग्रनेक रूप हैं। प्रेम, सत्य, सौहाद, वात्सल्य, दाम्पत्य ग्रादि इन भावो के उदाहरण है। ये सभी भाव प्रिय, स्पृहणीय ग्रौर रसमय है।

समात्मभाव इन सभी भावों का सामान्य आधार है, मानो समात्मभाव के मानसरोवर से बहने वाली विभिन्न सरिताओं की भांति ये भाव विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित होते हैं। जीवन के ये विशेष भाव समात्मभाव के सूर्य से प्रकाशित नक्षत्रों के समान हैं। इन प्रिय भावों के अतिरिक्त जीवन में घृणा, द्वेष, अतिचार आदि के समान अप्रिय भाव भी होते हैं।

काव्य में भी उनका सन्निधान होता है। ये अप्रिय भाव काव्य के रस में किस प्रकार योग देते हैं यह एक कठिन प्रश्न है। प्राय काव्य के आलोचकों ने यह तर्क उठाया है कि अप्रिय भावों के पात्रों के साथ हमारा तादात्म्य नहीं होता। तादात्म्य तो कहीं भी नहीं होता किन्तु दुष्टजनों का दुष्ट पात्रों के साथ समात्मभाव हो सकता है। सामान्य समात्मभाव की अपेक्षा के कारण दुष्ट भावों में समात्मभाव का प्रश्न एक कठिनाई उत्पन्न कर देता है। स्वरूपतः समात्म भाव एक सद्भाव है दुष्ट पात्रों के साथ समात्म दुर्भाव बन जाता है। सामान्यत कला के अनुरागी भी सद्भाव से पूर्ण होते हैं। दुष्टजनों का दुष्टपात्रों के साथ समात्मभाव जीवन की सहज प्रवृति है, काव्य की गुणग्राहकता नहीं। यह उन लोगों में अधिक होता है जो काव्य को काव्य की दृष्टि से नहीं वरन् जीवन की दृष्टि से देखते हैं। काव्य के इस प्रवाह में काव्य का अपना चमत्कार अधिक नहीं। प्रिय भावों के अभाव में प्राय यही भूल रहती है। प्रिय भावों के साथ अधिक व्यापक समात्मभाव की व्याख्या हम इस प्रकार कर सकते हैं कि दुष्ट भाव प्रिय भावों के साथ समात्मभाव के निमित्त बनते हैं। सीता के प्रति रावण का अत्याचार हमारे समात्मभाव में एक उत्तेजक कारण का काम करता है। निर्वासन का कठोर कृत्य सीता और शकुन्तला के साथ हमारे समात्मभाव को अधिक करुण और गम्भीर बनाता है। जीवन में ये प्रियभाव रस के कारक मान जाते हैं। इन प्रिय भावों में कुछ प्राकृतिक भाव हैं और कुछ का सांस्कृतिक भाव कहना अधिक उचित है। जो व्यक्ति के स्वार्थमय भाव हैं उन्हें तो प्राकृतिक कहना ही उचित है किन्तु जो समात्मभाव से प्रेरित हैं उन भावों को सांस्कृतिक कहना होगा। दोनों ही प्रकार के भाव रसमय माने जाते हैं। किन्तु रस के प्राकृतिक और सांस्कृतिक रूप भिन्न हैं। इन दोनों ही प्रकार के भावों का सन्निधान उपादान रूप में काव्य में होता है। अत इनके साथ कवि का समात्मभाव मानना होगा। इनके साथ पाठकों का भी समात्मभाव होता है।

तात्पय यह है कि कवि और पाठक दोनों ही प्राकृतिक अनुरोध से शासित हो हैं।

अधिकाश काव्य इस प्राकृतिक शासन से प्रभावित हैं यद्यपि सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भावो का प्रभाव भी काव्य म पर्याप्त मात्रा मे मिलता है। प्रकृति के इस प्रभाव के कारण काव्य शास्त्र म भी रस के निरूपण म प्राकृतिक रस की प्रधानता रही तथा आध्यात्मिक और सास्कृतिक रस उचित स्थान न पा सके। इतना ही नही प्रकृति का उचित सस्कार भी काव्य म न हो सका। काव्यो मे समाहित बहुत कुछ रस अहकार और व्यक्तिवाद के प्राकृतिक भावो स कलुषित ह। इसी प्राकृतिक दृष्टिकोण के प्रभाव के कारण सिद्धान्त रूप म मान्य रौद्र वीभत्स आदि रस काव्य म उचित स्थान नही पा सके। शृंगार म ही नही वात्सल्य म भी प्रकृति की विडम्बना रही।

स्वीकृत होते हुए भी शान्त रस की महिमा को कवि और आचाय नही समझ सके। शृंगार की विपुलता के पीछे यही प्रकृति की प्रेरणा है। प्रकृति के विमोह ने काव्य के स्वरूपगत सौ दय और रस का अपनी मौलिक महिमा म प्रकाशित नही होने दिया। शृंगार के अधिकाश काव्य म काव्य के वैभव की अपेक्षा प्रकृति का विमोह अधिक है। काव्य का सौ दय तो सभी रसा म समान माना जाता है। किन्तु आश्चय की बात है कि फिर भी रौद्र, वीभत्स आदि रसो की काव्य मे विपुलता नही मिली जो शृंगार को मिली। सत्य यह है कि रौद्र वीभत्स आदि भाव जीवन म रसमय नही होते तथा काव्यशास्त्र और उससे प्रभावित कवियो का रस सम्ब धी दृष्टिकोण जीवन के अनुरूप तथा प्रकृति प्रधान है। इन रसो के अल्प उदाहरण मात्र काव्य मे मिलत है। इन उदाहरणो मे भी पाठको को कोई रस मिलता है यह बहुत सदिग्ध है। विभावादि के सब अग इसम मिल जाते है किन्तु रस एक आन्तरिक तत्व हैं। ये अग उसके उपकरण मात्र है। शृगार और वात्सल्य भी अहकार के प्राकृतिक दोष से कलुषित रह और अपनी उचित महिमा स काव्य म प्रतिष्ठित न हो सके। हास्य केवल एक उपहास बना रहा। शान्त के समान गम्भीर और महान् रस भी किसी महत्वपूण काव्य का उपादान न बन सका। भक्ति को भी शृगार ने भ्रमित किया। इस भ्रम के दोषी वे आचाय है जो शृंगार म भक्ति का

अन्तर्भाव करते रहे। वे यह भूलते रहे कि सख्य, वात्सल्य, दास्य आदि अनेक भावों से युक्त भक्ति का समीकरण श्रृंगार में नहीं किया जा सकता। शांत वात्सल्य, भक्ति आदि रसों के सांस्कृतिक स्वरूप को समझने में प्रकृति से प्रभावित आचार्य असमर्थ रहे।

काव्य शास्त्र की इस समस्त विडम्बना का मूल कारण आचार्यों की रस सम्बन्धी धारणा में प्रकृतिवाद का अनुरोध है। हमने चौथे अध्याय में रस की त्रिवेणी में अवगाहन का प्रयत्न किया है। हमारे मत में प्राकृतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक भेद से जीवन के रस तीन प्रकार के होते हैं। काव्य का रस सांस्कृतिक रस के अन्तर्गत है क्योंकि उसमें भी संस्कृति के समान प्रकृति और अध्यात्म का समन्वय होता है। समात्मभाव इस सांस्कृतिक रस का मूलाधार है। इसमें रूप के अतिशय का योग करके जीवन के साक्षात सांस्कृतिक रस को भी कलात्मक और काव्यात्मक बनाया जा सकता है। किन्तु ऐसा करने के लिए जीवन के प्रति कलात्मक दृष्टिकोण अपेक्षित है जो उपयोगिता और प्रकृति से शासित जीवन में दुर्लभ है। काव्य का रस जीवन के साक्षात सांस्कृतिक रस से भिन्न है। किन्तु वह भी सांस्कृतिक रस है क्योंकि उसमें भी प्रकृति और अध्यात्म का सामंजस्य रहता है। काव्य जीवन का चित्रण है। काव्य में जीवन के भावों की वाङ्मय अभिव्यक्ति होती है वे अपने साक्षात् रूप में उपस्थित नहीं होते। समात्मभाव की भूमिका में रूप के अतिशय से युक्त होकर जीवन के भावों का वाङ्मय उपादान काव्य के विलक्षण रस की सृष्टि करता है। काव्य के रस का यही अपना स्वरूप है। जीवन के कोई भी तत्व और भाव इस रस के उपादान बन सकते हैं। इस रस का मूल स्रोत जीवन के रसमय भाव नहीं वरन् समात्मभाव से समन्वित व्यंजना का सौन्दर्य है जो रूप के अतिशय में निहित रहता है।

रौद्र वीभत्स आदि के समान जीवन के अप्रिय भाव भी काव्य के इस रस के उपादान बन सकते हैं। काव्य के रस के इस रहस्य को न समझने के कारण अधिकांश कवि प्रकृति के प्रिय भावों में ही रमते रहे। किन्तु काव्य का यह सौन्दर्य जीवन के घोरतम यथार्थ को काव्य की दृष्टि से रसमय बनाने में समर्थ हैं। इटलियन कवि दान्ते के नरक वर्णन में हम इस मत का समर्थन पा सकते

है। जीवन के प्रिय और सास्कृतिक भाव और भी सरलता से काव्य के रस के उपादान बन सकते हैं। काव्य के स्वरूपगत रस से समवेत होकर जीवन के ये सरस भाव काव्य के सौन्दय और रस का दुगना उत्कष करते है। अप्रिय भावा मे उत्कष का यह लाभ नही रहता, उनम केवल काव्य का स्वरूपगत रस ही सम्भव होता है। काव्य की रस साधना के लिए अधिकाश कवि प्रकृति की रमणीयता पर अवलम्बित रहे है, अत वे इन अप्रिय भावा के उपादान लेकर किसी महत्वपूर्ण काव्य की सृष्टि नही कर सके। अप्रिय भावो की विभीषिका से प्रताडित मनुष्य समाज के साथ स्वाथ और सुख के विलासी कवियो का पर्याप्त समात्मभाव भी नही रहा, जो ऐसे काव्य की रचना सम्भव बनाता। प्रकृति की रमणीयता का अनुरोध अधिकाश कवियो की सीमा बना रहा। इसी सीमा के कारण जिस प्रकार वे अप्रिय भावा को काव्य म प्रतिष्ठित नहीं कर सके उसी प्रकार व सास्कृतिक भावो की प्रतिष्ठा भी काव्य म बहुत कम कर सके। वाल्मीकि के बाद कालिदास प्रसाद रवीन्द्र आदि कुछ विरले ही कवि हुए ह जिहोने सास्कृतिक भावा का काव्य का उपादान बनाया।

ये भाव समात्मभाव पर आश्रित होते हैं। अतएव ये प्रकृति और अध्यात्म दोनो से भि न है यद्यपि इनमे दानो का सम वय रहता ह। आत्मा के उदार सस्कारो से अचित प्रकृति भी सास्कृतिक भावो का उपकरण बन जाती है। एक प्रकार से सास्कृतिक भाव प्राकृतिक भावो से भी अधिक रस सम्प न होत है। प्राकृतिक रस की रमणीयता अक्षुण्ण रहते हुए उनमे आध्यात्मिक उदारता और महिमा का योग रहता है। भारतवष की जीवन्त सस्कृति के दिव्य सौन्दय की महिमा का सास्कृतिक भाव की इसी श्रेष्ठता म निहित है। समात्मभाव का औदाय प्राकृतिक रस की रमणीयता का दिव्य उत्कष करना है। जब सास्कृतिक भाव काव्य के उपादान बनते है तो इन भावो के समात्मभाव मे मिल कर काव्य के लिए अपेक्षित समात्मभाव सास्कृतिक काव्य की भाव भूमि को दूना दृढ और उच्च बना देता है। समात्मभाव की इस उच्च भूमि पर सास्कृतिक काव्य का प्रासाद निर्मित होता है। भाव के इस अतिशय म मिलकर विशेष भावो के अतिशय एक ओर भाव को समृद्ध बनाते है और दूसरी ओर व्यजना के रूप का अतिशय भाव की समृद्धि म समाहित होकर सास्कृतिक काव्य के सौन्दय और रस को सवश्रेष्ठ बनाता है। काव्य के श्रेष्ठ रूप को विरले ही

कवि समझ सके हैं और उस काव्य म प्रतिष्ठित कर सके हैं। आध्यात्मिक रस यद्यपि अपने स्वरूप मे कवल्य का रस है कि तु आत्मा का जीवन क किसी भी तत्व से विरोध नही है। वह समस्त सत्ता और अनुभव म अनुगत है। जीवनमुक्ति की स्थिति म जीवन के समस्त उपकरणो के साथ समात्मभाव की सगति सम्भव होती है अत जीवन मुक्ति के अनुरूप जीवन क समान काव्य म हम आध्यात्मिक भाव की भी सगति मान सकते हैं। यदि काव्य म प्रतिष्ठित यह आध्यात्मिक रस कैवल्य नही तो भी उसका कुछ आभास काव्य मे अवश्य माना जा सकता है। जिस प्रकार जीवन के साक्षात रस क लिए काव्य की व्यजना का सौ दय एक द्वार है उसी प्रकार वह आध्यात्मिक रस के लिए भी बन सकता है। आध्यात्मिक रस भी जीवन के रस की भाति साक्षात अनुभव का रस है। काव्य के सौ दय म समाहित होकर अध्यात्म का दुलभ रस समृद्ध जनो के लिए ग्राह्य बन जाता है। इसीलिए भारतीय साहित्य मे अध्यात्म के अधिकाश ग्रथ काव्यमय ह और काव्य मे भी अध्यात्म की विपुलता है। भारतवष की मौलिक आध्यात्मिक दृष्टि के कारण आध्यात्मिक भाव का स निधान काव्य मे सास्कृतिक भाव की अपेक्षा अधिक हो सका है। आध्यात्म की एकागिता के कारण वह एकागी रूप म ही अधिक सग्रहीत हुआ है। आध्यात्म की इस एकागिता और प्रकृति की प्रबलता के कारण ही सास्कृतिक भाव की महिमा मय विभूति भारतीय काव्य को अपने समुचित सौ दय से मडित नही कर सकी।

अस्तु प्राकृतिक सास्कृतिक और आध्यात्मिक तीनो ही प्रकार के रस के भाव काव्य के उपादान बन सकते हैं। इन सभी भावो म समाहित होकर काव्य का सौ दय रस की सृष्टि करता है। इनमे जो भाव स्वरूपत प्रिय और रसमय है उनके साथ स्वरूपगत रस का योग होने पर रस की समृद्धि होती है। समात्मभाव और विशेष भावो की विविध स्थितिया और विविध रूप काव्य के रस को अधिक सम्पन्न बनाते हे। काव्य के रस की इन विविध कोटियो का विवरण इसी अध्याय म ऊपर किया गया है।

का य के रस के मौलिक स्वरूप के सम्ब ध मे इस अध्याय का समग्र विवेचन निता त मौलिक और क्रा तिकारी है। यह स्पष्ट है कि काव्य के रस के सम्ब ध म हमारा मत काव्यशास्त्र के आचार्यों स पूणत भिन्न है।

काव्यशास्त्र की परम्परा और अधिकाश काव्य प्रकृति के अनुरोध से प्रभावित है। इसके साथ साथ काव्य शास्त्र म उपनिषदो के आध्यात्मिक रस का स्मरण तथा रौद्र वीभत्स आदि अप्रिय भावो या रसो म सग्रह है। किन्तु काव्यशास्त्र मे इन दोनो का उचित समाधान नही किया गया है। केवल प्राकृतिक रस की रमणीयता स प्रभावित आचाय प्राकृतिक रस से भिन्न सास्कृतिक रस के स्वरूप को न समझ सके। जीवन और काव्य क रस का एक मानने क कारण वे काव्य के स्वरूपगत रस का निधारण भी नही कर सके। हमार मत म काव्य का रस जीवन क रस स भिन्न एक स्वतत्र रस है। रूप के अतिशय के सौदय का समात्मभाव के साथ साम्य इस रस का सामा य रूप है। काव्य मे यह रूप का अतिशय प्राय आकृति के अतिशय के रूप म मिलता है। काव्य का विशेष रूप व्यजना का सौदय है। व्यजना का यह रूप ध्वनि के बहुत निकट है। व्यजना अभिव्यक्ति के रूप का वह अतिशय है, जिसम आकृति का अतिशय समवत रहता है। ध्वनि का सकेत आकृति के अतिशय की ओर अधिक है किन्तु आकृति का यह अतिशय व्यजना का समानाधक नही है। उसमे लक्षणा का भी समाहार है। आनन्दवधन न ध्वनि को का य की आत्मा अवश्य माना है। कि तु उनके मत म ध्वनि के व्यापार का मुख्य लक्ष्य रस है और यह काव्यशास्त्र का परिचित रस ही है।

हमारे मत म काव्य के स्वरूपगत रस का मुख्य आधार जीवन के रस नही वरन् रूप के अतिशय का सौदय है जो काव्य का मौलिक स्वरूप है। समात्मभाव से युक्त होकर यही सौ दय काव्य के विशेष रस की सृष्टि करता है। काव्य का यह रस सास्कृतिक है कि तु साक्षात् सास्कृतिक रस मे भिन्न है। समात्मभाव और विशेष भावा की विविध कोटिया का य के इस सामान्य रस म समवेत होकर उसे अधिक समृद्ध बनाती है। दूसरी ओर प्राकृतिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक रस काव्य के विशेष रस म समवेत होकर उसे सम्प न बनाते हैं। काव्य के स्वरूपगत रस की सम्प नता और समृद्धि की इन विविध कोटियो का सकेत ऊपर क विवचन मे किया गया है। ये विविध कोटिया काव्य के रूपो के विभाजन का आधार भी बन सकती है काव्य के इतिहास से उदाहरण देकर काव्य के स्वरूप और रस सम्बन्धी इन सिद्धा तो के लिए अधिक स्थान और अवकाश अपेक्षित है। ऊपर के विवचन म सिद्धान्तो का सकेत मात्र हो सका

है। इस विवेचन म भी कई अपूर्णतायें हैं। उनम एक प्रमुख अपूर्णता यह है कि जीवन तथा काव्य के विशेषरसो की सख्या का कोई प्रसग हमारेउ क्त विवेचन म नही आ सका। चौथे अध्याय म रस के तीन प्रधान रूपो का विभाजन और विवरण किया गया है कि तु इनके उपभेदो का विवरण भी अपक्षित है। अध्यात्म का यद्यपि एक ही रूप है किन्तु वेदा त और भक्ति के अनेक रूपो म वह भी अनक रूप हो जाता है। रस के प्राकृतिक भाव भी अनेक हैं। सास्कृतिक भावो का विभाजन भी कुछ मुख्यरूपा म किया जा सकता है। विविध रसो के ये अनेक रूप काव्य के अनेक रूपों की सृष्टि करते है। प्रस्तुत अध्याय मे हम केवल काव्य के रस के सामा य रूप और उसकी कुछ कोटियो का ही निर्धारण कर सके हैं। त्रिवि रसा के उपभेदा का विवरण हम आगे चलकर किसी अध्याय म करेंगे, यहा हमकेवल इतना ही सकत कर देना चाहते हैं कि काव्य के स्वरूपगत रस के समान जीवन के रसो के सम्ब ध म भी हमारा सिद्धा त काव्यशास्त्र की परिचित स्थापनाओ स भि न है। हम श्र गार आदि नव रसा को समान रूपसे जीवनअथवा काव्य का रस नही मानते।

जीवन म श्र गार, वीर और वात्सल्य को रसमय माना जा सकता है। ये प्राकृतिक जीवन के प्रिय और स्पृहणीय भाव हैं। करुण, रौद्र, अद्भुत, वीभत्स और भयानक जीवन के रस नहीं हैं, क्योंकि य जीवन के प्रिय और स्पृहणीय अनुभव नही है। किस प्रकार ये काव्य के रस के उपादान बन सकते हैं इसका कुछ दिग्दर्शन हमन ऊपर के विवेचन म किया है। शा त रस की स्थिति कुछ विचित्र है। उसके प्राकृतिक आध्यात्मिक और सास्कृतिक तीनों ही पक्ष हैं। भोजन की तृप्ति, सामाजिक सद्भाव और आत्मिक प्रस नता इसके उदाहरण हैं। कुछ आचाय उसे समस्त रसो का मूल मानत ह। यह काव्य के रस के आध्यात्मिक दष्टिकोण का रहस्यमय सूत्र है। कि तु हमारे मत म शा त का रस आध्यात्मिक नही वरन् सास्कृतिक है। शाति, करुणा ओज और आह्लाद ये चार मूल सास्कृतिक भाव है जो काव्य के रस के सामा य स्रोत को जीवन की चार दिशाओ म प्रवाहित करत है। इनके विषय म हमारी धारणा काव्य शास्त्र की परम्परा से भि न है। हमारे मत म शाति का आधार निर्वेद नहीं वरन् समता और साम्य की प्रसन्न स्थिति है। ओज भी काव्यशास्त्र के वीर रस स बहुत कुछ भिन्न है। वीर रस का प्रसिद्ध रूप विध्वसात्मक है। हमारे

मत म ओज का अधिक महत्वपूर्ण पक्ष सजनात्मक है। श्रृगार वात्सल्य आदि जीवन के अनेक भावो म आज का सचार हो सकता है। हमारे मत म करुणा जीवन और काव्य का एक व्यापक और महनीय भाव है। वह काव्य के करुण रस स भिन्न है। करुण का स्थायीभाव शोक है। जीवन के अनुभव मे शोक रसमय नही वरन् रस का शपक है। केवल शोक म भय और सकोच प्रधान होत है।

अनु और रुदन भी उसमे सभव नही है। शोक की स्थिति म समात्मभाव का समवाय होने पर वह करुणा को ज म देता है। दु खमय समात्मभाव करुणा का रूप है। अनु और रुदन करुणा के काव्य हैं। आह्लाद आत्मा का उल्लास है। सास्कृतिक रस क लिए वह आन द स अधिक उपयुक्त है। आन द मे अध्यात्म की शाति और समता रहती है। आल्हाद उल्लास का बीच विलास है। एक प्रकार से उसमे शाति, ओज और करुणा का समवाय है। किन्तु वह इन तीनो से भिन्न एक स्वतत्र भाव भी है। दु ख की करुणा और आद्र ता तथा ओज के उत्साह और सृजन के स्थान पर उसम हर्ष और प्रेम का उल्लास रहता है। प्रस्तुत अध्याय के अ त म प्रसगत इन मूल सास्कृतिक भावो का इतना ही सकेत पर्याप्त हैं। जीवन और काव्य के रसो के विभिन्न रूपो का विवरण हम आगे करेंगे। वहा काव्यशास्त्र के नव रस के प्रसग म इन मूल सास्कृतिक भावो का विशद और तुलनात्मक विवेचन किया जा सकेगा।

अध्याय–७

काव्यशास्त्र मे रस

पिछले अध्याय मे हमने अपने मत के अनुसार काव्य मे रस के स्वरूप का निरूपण किया है। इस निरूपण से यह स्पष्ट है कि हमारे मत म काव्यगत रस का स्वरूप काव्यशास्त्र की परम्परागत धारणा से पूणत भि न है। काव्यगत रस के स्वरूप के सम्ब ध म अपने मत के प्रतिपादन के प्रसग म हमने काव्यशास्त्र की परम्परा मे स्वीकृत रस सिद्धान्तो के कुछ दोषों का सकेत किया है। किन्तु मुख्य रूप से हमने पिछले अध्याय म अपन अभिमत के अनुसार काव्यगत इसके मौलिक स्वरूप का ही सक्षेप म विवेचन किया है। हमारे मत म काव्य क रस का अपना मौलिक और स्वत त्र रूप है तथा वह जीवन के साक्षात अनुभव से अभि न नही है। काव्य का यह रस समात्मभाव की सांस्कृतिक भूमिका मे रूप के अतिशय के साथ भाव अथवा भाव के अतिशय के साम्य म सम्पन्न होता है। मुख्यत यह काव्य के रूपगत सौन्दय का रस है जबकि जीवन के साक्षात अनुभव का रस भावगत माधुय का रस है। समात्मभाव और भाव के अतिशय की अनेक कोटिया काव्यगत रस के अनेक रूपा की रचना करती हैं। जीवन के सरस और कटु सभी भाव काव्य के उपादान बन सकत हैं। जीवन के कटु भावो म भी काव्य का रस सम्प न हो सकता है। सरस भावो के उपादान काव्य के रस को जटिल और समृद्ध बनाते हैं।

हमारे मत म काव्य का यह रस व्यक्तित्व के एका त म सम्पन्न नहीं होता है। इस दृष्टि स यह जीवन क प्राकृतिक रस से भिन्न है। जिसका अधिष्ठान व्यक्ति की इकाई को ही काव्य क रस का अधिष्ठान मानत हैं। भारतीय काव्य शास्त्र की रस विषयक धारणा बहुत कुछ प्राकृतिक रस क अनुरूप है जो व्यक्ति की इकाई के अधिष्ठान म सम्पन्न होता है। काव्य शास्त्र म रस मीमांसा प्रसंग म उपनिषदा के आध्यात्मिक रस का भी स्मरण किया गया है। इस [illegible]

स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हमारे अभिगत रस चेतना का निरवच्छिन्न कैवल्य है। काव्य के रस मे अहकार आदि के अवच्छेदको का विलय नही होता वरन् समात्मभाव मे उनका सामजस्य होता है। आध्यात्मिक रस एक ही प्रकार का होता है कि तु काव्य के रस के भाव और सम्ब ध के अनुसार अनेक रूप होते है। प्राकृतिक रस की भाति काव्य के रस की यह अनेकरूपता वस्तुनिष्ठ अथवा उपादानो पर आश्रित नही होती वरन् व्यक्तियो के स्वत त्र सम्ब ध और उनकी स्वतन्त्र इच्छा पर निभर होती है। यह स्वतन्त्रता सास्कृतिक रस का लक्षण है और प्राकृतिक रस से काव्य के रस को भिन्न करती है। काव्य का रस सास्कृतिक अवश्य है कि तु वह जीवन क साक्षात् सास्कृतिक रस से भी भिन्न है। जीवन क सास्कृतिक रस मे भाव का अतिशय प्रधान होता है। किन्तु काव्य का रस रूप के अतिशय के सौ दय से प्रसूत होता है, यद्यपि यह रूप के अतिशय का सौ दय भाव के साथ साम्य के द्वारा ही रस का सजन करता है। इस प्रकार हमारे मत म काव्य का रस जीवन के साक्षात रस के प्राकृतिक आध्यात्मिक और सास्कृतिक तीनो रूपो स भि न कला का सास्कृतिक रस है। यद्यपि जीवन के साक्षात् रस काव्य की अभिव्यक्ति के उपादान बन कर काव्य के रस को समृद्ध बना सकते है।

प्रस्तुत अध्याय मे हम काव्य शास्त्र की परम्परा मे प्राप्त रस विषयक सिद्धान्ता का विवेचन करेंगे। इस विवचन के प्रसग मे हम अपने रस सिद्धा त के साथ काव्यशास्त्र के रस सि द्धातो की तुलनात्मक आलोचना भी अभीष्ट है। इस तुलनात्मक आलोचना के द्वारा काव्यगत रस का स्वरूप अधिक स्फुट हो सकेगा। इस प्रसग म हम काव्यशास्त्रो की इस मीमासा म व्याप्त कुछ भ्रातियो का भी अनावरण करेंगे। इनम से कुछ भ्रातियो का सकेत हमने पिछले अध्याया मे किया है, कि तु प्रस्तुत अध्याय म उनका कुछ विस्तृत विवरण अभीष्ट है।

भारतीय काव्यशास्त्र मे मीमासा का आरम्भ भरत के उस आदि सूत्र से हुआ है जिसक भिन्न भिन्न भाष्यो ने रस मीमासा का इतिहास बनाया। भरत का यह आदि सूत्र इस प्रकार है —

विभानुभाव व्यभिचारि सयोगात् रस निष्पत्ति ।

भारतीय काव्य शास्त्र के सभी आचार्य रस को काव्य का परम लक्ष्य मानते हैं। भरत के इस आदि सूत्र में निहित रस के स्वरूप को सभी आचार्यों ने अतर्कि रूप से स्वीकार किया है। कुछ प्रमुख आचार्यों ने इस सूत्र में 'निष्पत्ति' पद की व्याख्या भिन्न प्रकार से की है। रस की निष्पत्ति विषयक इसी मतभेद से काव्यशास्त्र का इतिहास बना है। किन्तु सूत्र के शेष भाग में निहित रस की योजना सभी को मान्य है। सभी आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि विभाव, अनुभव, व्यभिचारी भाव आदि का संयोग रस में कारण है। इन में विभाव, अनुभाव और उद्दीपन भाव रस के मुख्य भाव रस के मुख्य कारण है। व्यभिचारी भाव रस के मुख्य कारण नहीं है। वे केवल रस के उत्कर्ष में सहायक होते है और रस के ये सब उपकरण उस व्यक्ति से बहिर्गत हैं जिसे रस का पात्र अथवा आश्रय माना जाता है। इन बहिर्गत उपकरणों के संयोग से पात्र अथवा आश्रय में रस का अनुभव उदित होता है।

किन्तु यह रस का पात्र अथवा आश्रय कौन है तथा उसे किस प्रकार रस का अनुभव होता है इस प्रश्न को लेकर काव्यशास्त्र में बहुत विवाद रहा हैं। इस विवाद का प्रारम्भ रंगमंच पर अभिनीत नाटक की भूमिका में होता है। भरतनाट्य शास्त्र के प्रणेता और नाटक के आचार्य थे। अतः नाटक की भूमिका में रस का निरूपण करना उनके लिए स्वाभाविक और आवश्यक था। काव्य शास्त्र के अनुसार नाटक में रस ही प्रधान हैं अलंकार आदि का जितना महत्व काव्य के अन्य रूपों में है, उतना नाटक में नहीं। नाटक भाषा के रूप में निबद्ध अवश्य होता है किन्तु उसका विशेष रूप अभिनय ही है। इसके विपरीत काव्य के अन्य रूपों में वाङ्मय अभिव्यक्ति की प्रधानता होती है, जिसमें अलंकारों का महत्वपूर्ण स्थान है। नाटक के अभिनय में नट मूल पात्रों का अनुकरण करते हैं। दर्शक नटों में मूल पात्रों की कल्पना करते हैं और मानो नाटक के अभिनय में मूल वृत्ति का भान कर लेते हैं। किन्तु साथ ही साथ नाटक के दर्शन यह भी जानते हैं कि यह नाटक मूल कथा का अभिनय मात्र है। मूल कथा एक विगत घटना है। नट उसका अनुकरण करके उसकी अनुकृति प्रस्तुत कर रहे हैं। वे यह भी जानते हैं कि ये नट वास्तविक मूलपात्र नहीं हैं। वे केवल मूल पात्रों का रूप धारण करके उनके चरित्र का अनुकरण अथवा अभिनय कर रहे हैं।

नाटक की यह स्थिति अत्य त स्पष्ट और सरल है। कि तु इस स्पष्ट और सरल स्थिति मे रस सम्ब धी अनेक भ्रातिया और कठिनाइया उत्प न हो जाती हैं। भारतीय काव्य शास्त्र के आचार्यों के सामन रस के स्वरूप से भी अधिक महत्वपूण रस के पात्र का प्रश्न रहा है। अधिकाश आचार्यों ने रस के स्वरूप को सिद्ध मानकर एक प्रकार से स्वीकार कर लिया है और उसके सम्ब ध म तक अथवा विवचन नही दिया है। भारतीय काव्य शास्त्र के अ तिम महान् आचाय पण्डित जग नाथ ने भग्नावरणाचित' के रूप म जसा रस क सामा य स्वरूप का निरूपण किया है वैसा अ य पूववर्ती आचार्यों म दुलभ है। प्राचीन आचाय मुख्य रूप से रस के पात्र का ही निर्धारण करते रहे। इसी प्रसग मे रस के अनुभव की प्रणाली का प्रश्न उपस्थित हुआ। परवर्ती आचार्यों न रस के प्रश्न के साथ साथ रसानुभव की प्रणाली का भी विशद विवचन किया है। अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद इस रस मीमासा का अ तिम परिणाम है जो पात्र और प्रणाली दोनो की समस्या का समाधान एक ही सिद्धा त क द्वारा करता है। अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद को हि दी के आधुनिक आचार्यों ने भी रस की सतोषजनक व्याख्या माना है। स्थायीभाव के सामा य सिद्धा त का आविष्कार करक अनुभव गुप्त ने परम्परागत काव्यशास्त्र की उलझी हुई पहली का अवश्य ही एक अपूव ढग स सुलझाया है। कि तु अभिनव गुप्त का सिद्धान्त भी परम्परागत काव्यशास्त्र की रस सम्ब धी भ्रातियो से गुप्त नही है। इन भ्रातियो के अनावरण के पूव काव्यशास्त्र क रस सम्ब धी इतिहास का पर्यालोचन अपक्षित है।

भरत क रस सूत्र म रस के उपकरणो का सामा य रूप स उल्लेख किया गया है। भरत के मत मे य उपकरण विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव हैं। इनके सयोग स रस की निष्पत्ति होती है। सयोग का अथ यही होगा कि य एकत्र सगठित होत हैं और मिल कर रस को निष्प न करते है। कि तु रस के साथ इनका सम्ब ध किस प्रकार का है और इनके सयोग से रस किस प्रकार निष्प न होता है, ये प्रश्न काव्यशास्त्र की जटिल समस्यायें बन गये। य रस के कारण हैं अथवा केवल सहकारी हैं। रस की निष्पति का अथ उत्पत्ति है अथवा अभि यक्ति है? इन प्रश्नो क सूक्ष्म विवचन न रस मीमासा का इतिहास बनाया। इसके अतिरिक्त एक विवाद पूण प्रश्न यह है कि रस

का पात्र अथवा आश्रय कौन है। भरत के नाटय शास्त्र म उनके सूत्र क विवादास्पद पक्षा की व्याख्या नहीं मिलती। भरत ने यह स्पष्ट नही किया कि रस की निष्पत्ति का स्वरूप क्या है ? रस के पात्र अथवा आश्रय के सम्बन्ध म भी भरत का मत विदित नहीं है। रस के आश्रय और रस की निष्पत्ति प्रश्न को लेकर ही काव्यशास्त्र म सूक्ष्म विवाद हुआ है।

साक्षात जीवन मे रस के आश्रय के सम्ब ध म अधिक मतभेद अवकाश नहीं है। प्रत्येक मनुष्य रस का आश्रय है। रस आ तरिक अनुभव रूप है जिसे रस का अनुभव होता है वही रस का आश्रय है। कि तु नाटक का कलात्मक अनुकरण अथवा अभिनय है। का य जीवन का वाङमय अकन है। दोनो को ही हम जीवन की अभिव्यक्ति कह सकते है, कि तु अभिव्यक्ति के इन रूपों मे अ तर है। नाटक की अभिव्यक्ति साक्षात जीवन के अनुरूप है। काव्य की अभिव्यक्ति वाङ मयी है। जीवन और नाटक म वाक अभिव्यक्ति का केवल एक आशिक रूप है किन्तु काव्य का स्वरूप पूर्णत वाङ मय है। काव्य मे रस के सम्ब ध म रस के आश्रय और रस की निष्पत्ति का प्रश्न अधिक जटिल है। शब्द के द्वारा रस की निष्पत्ति किस प्रकार होती है मूल पात्र और पाठक इनम रस का आश्रय कौन है। इनम किस की और किस प्रकार रस का अनुभव होता है। काव्य म इन प्रश्नो की जटिलता का कारण यह है कि प्रधानत काव्य के रस के सम्ब ध म एक ही पात्र की कल्पना की जाती है। यह पात्र काव्य का रसिक पाठक है। पाठक के सम्ब ध म यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसे किस प्रकार रस का अनुभव होता है और उसके रस का क्या स्वरूप है। पाठक का रसानुभव मूल पात्रो के रसानुभव से भि न होता है इसकी कल्पना किसी आचाय न नही की। सभी आचाय यही मानते रहे हैं कि दोनों का रसानुभव समान होता है। अतएव वे इसी पहेली को सुलझाने म लगे रहे कि मूल भावो द्वारा अनुभूत रस का सक्रमण पाठक के मन मे किस प्रकार होता है। नाटक का रूप काव्य से भि न है। उसमे मूल पात्रो और दर्शक के बीच म एक तीसरा पात्र नट आ जाता है। नटो के द्वारा नाटक के अभिनय से रस की निष्पत्ति किस प्रकार और किस म होती है। दर्शकों को नाटक देखने की रुचि रसास्वादन के ही कारण होती है। यह नाटक का एक सामा य सत्य है। इसे मान लेन पर रस का प्रश्न काव्य के ही समान रहता है कि दर्शक म

रस की निष्पत्ति किस प्रकार और किस रूप में होती है ? दोनों में केवल इतना अन्तर है कि नाटक के अभिनय में नट दर्शकों के रसास्वादन के उपकरण किस प्रकार उपस्थित करते हैं। यह अन्तर भी इतना मौलिक नहीं है जितना कि प्रतीत होता है। किन्तु माध्यम के भेद के कारण यह महत्वपूर्ण बन जाता है। जीवन की मौलिक स्थिति की अभिव्यक्ति काव्य में शब्दों के द्वारा होती है। शब्द एक प्रकार के पारदर्शी माध्यम हैं। व्यंजक होते हुए भी वे मूल स्थिति और पाठक के बीच में व्यवधान नहीं बनते। विशेष कला प्रेमियों के अतिरिक्त साधारणतः लोग अभिव्यक्ति की भंगिमा के रूप पर भी ध्यान नहीं देते। प्रायः रसिक पाठक भी शब्द के पारदर्शी माध्यम से झलकने वाले तत्व को ही ध्यान देते हैं। काव्य में यह तत्व काव्य के पात्र, विषय, सम्बन्ध, कर्म, भाव आदि होते हैं। ये तत्व ही साक्षात् जीवन के भी उपकरण हैं। अतएव प्रायः पाठकों पर काव्य का प्रभाव साक्षात् जीवन के अनुरूप ही होता है। अभिव्यक्ति के काव्यगत स्वरूप का प्रभाव कुछ विज्ञजनों पर ही होता है।

नाटक की स्थिति कुछ विचित्र है। एक ओर नाटक का अभिनय साक्षात जीवन की अनुकृति उपस्थित करता है। यह अनुकृति एक प्रकार से साक्षात् जीवन के अनुरूप होती है क्योंकि इसका माध्यम केवल शब्द नहीं है जो जीवन का एक अंग मात्र है वरन् उसका माध्यम मनुष्य तथा उसके व्यवहार हैं जो साक्षात् जीवन के समान हैं। नाटक का यह सजीव माध्यम काव्य के वाङ्मय माध्यम के समान पारदर्शी नहीं होता। नट मूलपात्रों की अनुकृति प्रस्तुत करते हैं किन्तु दूसरी ओर हम यह भी जानते हैं कि वे मूल पात्र नहीं हैं, वरन् मूल पात्रों का अभिनय करने वाले नट मात्र हैं। हम यह भी जानते हैं कि नाटक का अभिनय मौलिक घटना नहीं है वरन् उसकी कलात्मक अनुकृति है। नाटक के रूप की ये सब विशेषतायें एक प्रकार का व्यवधान सा उपस्थित करती हैं। दूसरी ओर नाटक साक्षात् जीवन का प्रतिभास भी प्रस्तुत करता है जो काव्य की तुलना में उसकी मौलिक विशेषता है। इस असमंजस में नाटक में रस की समस्या और अधिक जटिल हो जाती है। काव्य में केवल मूल पात्रों के रसानुभव तथा पाठकों के रसास्वादन का प्रश्न था। नाटक में इन दो के अतिरिक्त तीसरा पात्र है जो दो समस्यायें बढ़ा देता है। एक समस्या यह है कि नट मूलपात्र का अनुकरण करता है तो क्या वह मूलपात्र के रस का भी अनुभव करता है ?

यदि करता है तो किस प्रकार ? दूसरी समस्या यह है कि वह पाठकों के आस्वादन के लिए मूलपात्र के रस को किस प्रकार प्रस्तुत करता है और स्वयं उसका आस्वादन किस प्रकार करता है। इस प्रकार नट के सजीव माध्यम के कारण नाटक मे रस की समस्या और उलझ जाती है।

कि तु काव्यशास्त्र म रस क प्रसग म एक स्थिति को अधिक महत्व दिया गया है। यह स्थिति साक्षात् जीवन के सजीव पात्रो के रसानुभव का पाठक के द्वारा आस्वादन है। माध्यम का भेद होन पर भी यह स्थिति नाटक और काव्य म समान है। अभिनय और शब्द के भिन्न माध्यमो स होन वाली अभिव्यक्ति के रूप की विशेष भगिमा को साधारणजन बहुत कम ध्यान देते हैं। उस कुछ विज्ञजन ही ध्यान देते ह, जो नाटक और काव्य को साक्षात जीवन की दृष्टि स ही नही वरन् कला की दृष्टि से देखते है। अ यथा साधारण जन दोनो को साक्षात जीवन की ही दृष्टि म देखते हैं। काव्य का वाङ मय माध्यम पारदर्शी होता है और अभिनय का सजीव माध्यम पारदर्शी न होते हुए भी साक्षात जीवन का अनुकार उपस्थित करता है। अत नाटक और काव्य दोनो का प्रभाव साधारणजनो पर साक्षात जीवन क अनुरूप ही होता है। काव्यशास्त्र के आचाय भी दोनो के प्रभाव का दृष्टि स दखत है। यह कहना अनुचित न होगा कि उनका दृष्टिकोण भी साधारण जनो क दृष्टिकोण क समान ही रहा है। आचार्यों न भी रस का विवचन साक्षात जीवन म अनुभूत होन वाल रस के अनुरूप ही किया है। इसीलिए व जीवन क रस स भिन्न काव्य क स्वरूपगत रस का प्रकल्पन नही कर सक। इस दृष्टिकोण क अनुसार रस का प्रमुख प्रश्न यही रह जाता है कि मूल पात्रो म रस की निष्पत्ति किस प्रकार होती है और रसिक सामाजिक (नाटक के दर्शक तथा काव्य के पाठक) उसका आस्वादन किस प्रकार करत हैं। रस के इस दृष्टिकोण म भी रस की एक ही स्थिति स्वीकार की गई है। वह स्थिति साक्षात जीवन म रस का अनुभव है। यह मान लिया गया है कि दर्शक तथा पाठक को भी रस की अनुभूति साक्षात जीवन के अनुरूप ही होती है। विचारणीय प्रश्न केवल इतना ही है कि वह इस प्रकार होती है ? काव्यशास्त्र म मुख्य रूप स इसी प्रश्न पर विचार किया गया है।

अस्तु काव्यशास्त्र म साक्षात जीवन क अनुभव म रस की स्थिति को ही रस की एकमात्र स्थिति मानकर रस का विवचन किया गया है। अतएव इस

ग्रोर काव्य म रस की भिन्न स्थिति ग्रौर उसके भिन्न स्वरूप का प्रसग भी काव्यशास्त्र म नही उठाया गया है। हमने पिछल ग्रध्याय म काव्य के कलात्मक रस का अपन स्वरूप म स्थापित करने का प्रयत्न किया है। हमारा मत यह है कि काव्य क रस का अपना स्वरूप है जो जीवन के रस से भिन्न नही तो विविक्त अवश्य है। जीवन क रस और भाव काव्य के उपादान बनकर उसके रस को सम्पन्न बना सकत ह। अनक स्थितिया ग्रौर भावो के योग से काव्य का स्वरूपगत रस जटिल ग्रौर समृद्ध बनता है। इस प्रकार काव्य म रस की अनक कोटिया होती ह जिनका सकेत हमने पिछल ग्रध्याय म किया है। काव्यशास्त्र की रस मीमासा म रस की एक ही कोटि मानी गइ है, यद्यपि रस के अनक भेद स्वीकृत किय गय हैं। रस की यह एक कोटि साक्षात जीवन म होन वाले रसानुभव क अनुरूप है। रस की इसी सामान्य कोटि को काव्यशास्त्र म रस मीमासा का ग्राधार बनाया गया है। जीवन का साक्षात रस भी काव्य का उपादान बनता है ग्रौर काव्य के रसिक पाठक उसका भी ग्रास्वादन करते ह। सामान्यत काव्य क स्वरूपगत रस की अपक्षा काव्य के इस उपादान रूप रस का प्रभाव पाठको पर अधिक होता है। अत काव्य के सम्बन्ध म यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि इस उपादान भूत रस का ग्रास्वादन पाठक किस प्रकार करत हैं। पिछले ग्रध्याय म हमने मुख्यत काव्य क स्वरूपगत रस का ही निरूपण किया है। किन्तु जो समात्मभाव काव्य के स्वरूपगत रस का ग्राधार है उसी के ग्राधार पर काव्य क उपादान भूत रस के पाठक द्वारा ग्रास्वादन की भी व्याख्या की जा सकती है। ग्राग यथा प्रसग हम रस के इस पक्ष का भी ग्रालोचन करेंग। साक्षात जीवन के अनुरूप काव्यगत रस की व्याख्या करन के लिए भी साक्षात् जीवन के रस का समुचित रीति से समझना ग्रावश्यक है। साक्षात जीवन का रस एक ही प्रकार का नही है वह तीन प्रकार का होता है। रस के इन तीन भेदो का निरूपण हमन चौथे ग्रध्याय मे रस की त्रिवेणी के अवगाहन के प्रसग म किया है। रस के इन तीन प्रकारो म केवल प्राकृतिक रस व्यक्ति की इकाई के अधिष्ठान म सम्पन्न होता है।

ग्राध्यात्मिक रस व्यक्तित्व ग्रादि के अवच्छेदो स ग्रतीत है। किन्तु सांस्कृतिक रस मे ग्रात्मा ग्रौर प्रकृति का सामजस्य होता है। इसमे प्रकृति के उपकरण ग्रात्मा के उदार अचल म समजसित होकर अपूर्व सौन्दर्य ग्रौर रस की

सष्टि करते हैं। यह सास्कृतिक रस व्यक्ति की प्राकृतिक इकाई म सम्पन्न नही होता, वरन् एकाधिक व्यक्तित्वो के सामजस्य पूर्ण समात्मभाव म सम्भव होता है। कला और काव्य का रस न पूर्णत प्राकृतिक रस है और न एकात रूप से आध्यात्मिक रस है। वह समात्मभाव की भूमिका म दोनो के सामजस्य से सम्पन्न सास्कृतिक रस है। सास्कृतिक रस के साक्षात रूप म भाव के अतिशय की प्रधानता होती है तथा उसके कलात्मक रूप म रूप का अतिशय प्रधान होता है। रूप के अतिशय के सौन्दय का रस ही कला का मौलिक रस है। कलाओ म काव्य का अनोखा रूप है। उसम रूप और भाव का अपूर्ण सगम होता है। अत जीवन का सास्कृतिक रस साक्षात रूप म भी काव्य का उपादान बनता है और काव्य के स्वरूपगत रस को समृद्ध करता है। इसी प्रकार साक्षात जीवन म भी कला के रूप सौन्दय के रस को समाहित किया जा सकता है जसा कि हमारी पव सस्कृति मे किया गया है। किन्तु विवेचन की दष्टि से सास्कृतिक रस के साक्षात और कलात्मक रूपो को पृथक करना उचित है। इसी विवेक के आधार पर काव्यगत रस की मीमासा हम अभीष्ट है।

हमने ऊपर कहा है कि काव्य शास्त्र की रस मीमासा मुख्य रूप से साक्षात जीवन म रस की स्थिति के आधार पर की गई है। किन्तु हमारे विचार से इस साक्षात जीवन के रस की स्थिति को भी काव्यशास्त्र मे ठीक ठीक नही रखा गया है। साक्षात जीवन का रस केवल प्राकृतिक ही नही हैं वह आध्यात्मिक और सास्कृतिक भी है। इन तीनो प्रकार के रसो म अनेक भेद हैं, जिनका विवेचन चौथे अध्याय म दिया गया है। इनमे दो भेदो का पुनवचन यहाँ अपक्षित है। इन भेदो का सकेत भी पीछे कई बार किया गया है। प्राकृतिक रस व्यक्ति की इकाई म सम्पन्न होता है। सकोच के साथ साथ उसम पराधीनता भी होती है। आध्यात्मिक रस पूणत निरवच्छिन्न और स्वतन्त्र है। सास्कृतिक रस म प्रकृति और आत्मा का सामजस्य है। किन्तु यह सामजस्य व्यक्ति की प्राकृतिक इकाई म घटित नही होता वरन् एकाधिक व्यक्तित्वों क समात्मभाव म सम्पन्न होता है। सास्कृतिक रस म प्रकृति क उपादानो का सस्कार और उन्नयन आत्मा की स्वतन्त्रता और उदारता के अनुरूप होता है। अत यदि प्रकृति को इसका उपादान और आत्मा का इसका रूप कहा जाय तो अनुचित न होगा।

काव्यशास्त्र मे काव्य के रस का विवेचन केवल साक्षात जीवन के अनुरूप ही नहीं किया गया है वरन् साक्षात जीवन के रस को भी अपूर्ण रूप से समझा गया है। काव्यशास्त्र की रसमीमासा म आरम्भ से ही प्राकृतिक दृष्टिकोण का अनुरोध अधिक है। यह इसी दृष्टिकोण का परिणाम है कि व्यक्ति के भावो के रूप म प्राकृतिक भावो को ही रस का मुख्य उपकरण माना गया है। इस रसमीमासा मे व्यक्ति की इकाई को रस का अधिष्ठान माना गया है। यह केवल प्राकृतिक रस के अनुरूप है, सास्कृतिक रस के अनुरूप नहीं। प्राकृतिक रस के अतिरिक्त जीवन के सास्कृतिक रस भी काव्य के उपादान बन सकते हैं। इसकी कल्पना काव्यशास्त्र मे नही की गई है। वस्तुत सास्कृतिक रस की ओर काव्यशास्त्र के आचार्यों का ध्यान आरम्भ से ही नही रहा। इसी कारण वे काव्य के स्वरूपगत रस की स्थापना भी नही कर सके। काव्यशास्त्र की रस मीमासा मे साक्षात जीवन के प्राकृतिक दृष्टिकोण के प्रबल अनुरोध का एक ऐतिहासिक कारण नाटक से रस मीमासा का आरम्भ है। काव्यशास्त्र के इस सीमित दृष्टिकोण को नाटक के प्रसग मे सामान्य लोकरुचि की स्थिति ने और अधिक सीमित बनाया। भारतीय काव्यशास्त्र मे नाटक को काव्य का एक रूप माना गया है। इसमे सदेह नही कि नाटक एक साहित्यक रचना है। सस्कृत के नाटको म तो छ दो की प्रचुरता है। किन्तु साहित्यिक होते हुए भी नाटक का मुख्य उद्देश्य अभिनय ही है। साहित्यिक नाटको की रचना से पहले भी अलिखित पौराणिक अथवा अ य लोक प्रसिद्ध कथानको का अभिनय लोक के सरल रगमच पर होता रहा होगा। रामलीला रासलीला, स्वाग आदि उन्ही प्राचीन लोक नाटको की परम्परा के प्रतिनिधि है। लोक नाटक अथवा साहित्यिक नाटक दोना का ही अभिनय जनसाधारण के सामने किया जाता है।

जनसाधारण भी अभिनय को कला के रूप मे लेते है कि तु वे कला के कौशल को अधिक ध्यान नही देते। साधारण जनो के दृष्टिकोण म कला के रूप की अपक्षा भाव का महत्व अधिक होता है। वे कला के सभी रसो म रूप के सौन्दय की अपेक्षा भाव से अधिक प्रभावित होते हैं। इसीलिए लोक सगीत आदि मे भी रूप की अपेक्षा भाव की प्रधानता अधिक है। इसी कारण नाटक मे रस की प्रधानता रहती है। नाटक मे रस की इस प्रधानता को नाटक के आचाय भी मानते रहे हैं। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र म लिखा है

तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः ।
नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ॥
(नाट्यशास्त्र अ० ६)

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह कला अथवा काव्य का वह स्वरूपगत रस नहीं है जिसका विवेचन हमने पिछले अध्याय में किया है वरन् यह जीवन का साक्षात रस है, जो लौकिक जीवन के साक्षात अनुभव में प्राप्त होता है। जीवन के साक्षात रस के प्राकृतिक और सांस्कृतिक दोनों ही रूप साधारण लोकरुचि में समाहित रहते हैं। सर्वसाधारण के भावों का इतना संस्कार प्रायः दुर्लभ है कि उनमें प्रकृति के अनुरोध का अधिक प्रभाव न रहे। लोक संस्कृति का ऐसा उत्कर्ष कठिन है। भारतीय पर्वों के अतिरिक्त व्यापक रूप में वह उत्कर्ष कदाचित ही कहीं मिल सके। भावों का यह उत्कर्ष व्यापक और गम्भीर समात्मभाव में ही सम्भव हो सकता है। भारतीय पर्वों संस्कारों आदि के अतिरिक्त ऐसा व्यापक समात्मभाव दुर्लभ है। काव्य, नाटक आदि में भी यह समात्मभाव होता है।

क्योंकि समात्मभाव कला के सौंदर्य और रस का सामान्य आधार है किन्तु कला के अभिजात रूपों में साक्षात् समात्मभाव की अपेक्षा काल्पनिक समात्मभाव अधिक रहता है। साक्षात समात्मभाव काल्पनिक समात्मभाव की अपेक्षा अधिक सक्रिय और समर्थ होता है। लोक संस्कृति में भावों का संस्कार साक्षात समात्मभाव के द्वारा ही होता है। नाटक में जीवन का साक्षात प्रदर्शन होता है। अतः उसमें साक्षात समात्मभाव का अवकाश अधिक रहता है। अकेले व्यक्ति को नाटक देखने में कम आनन्द आता है, इसीलिए प्रायः कई साथी मिलकर नाटक देखते हैं। दर्शकों का यह संग उनके साक्षात् समात्मभाव का आधार है। किन्तु यह समात्मभाव लोक संस्कृति के समात्मभाव की अपेक्षा अत्यन्त सीमित और कम सक्रिय होता है। समात्मभाव के अधिक सक्रिय न होने पर प्रकृति का अनुरोध प्रबल हो जाता है। दर्शकों के अल्प समात्मभाव में अपरिचित समूह की उपस्थिति भी प्रकृति को अवकाश देती है। प्रकृति की प्रबलता समूह मनोविज्ञान का एक सुविदित सिद्धान्त है। नाटक में साक्षात् जीवन का अभिनय होने के कारण पात्रों के साथ दर्शकों का समात्मभाव भी सम्भव होता है। किन्तु दूसरी ओर अभिनय का तथ्य ही इस समात्मभाव को

म द बनाता है। कुछ प्रत्यन्त भावमय क्षणो के प्रतिरिक्त नाटक के प्रभिनय म दशका का एक प्रयथाथता को भावना भी बनी रहती है, जो प्रभिनय के प्रभाव के कारण काव्य मे नही होती।

यह धारणा भी पात्रा के साथ दशका के समात्मभाव की गम्भीरता म बाधक है। कला के सास्कृतिक दृष्टिकोण से 'प्रभिनय' लोककला और प्रभिजात कला की सधि रखा प्रथवा विभाजन रखा है। कलाकारा और दशका का भेद प्रभिजात कला का मुख्य लक्षण है। इस भेद के कारण ही प्रभिजात कला म रूप के कौशल का इतना उत्कप होता है कि दशक प्राय उसको ग्रहण भी नही कर सकते उसके प्रनुकरण का तो प्रश्न ही दूर है। इसी भेद के कारण एक ग्रार प्रभिजात कला मे रूप का उत्कप होता गया है और दूसरी ग्रार कलाकार के प्रतिलोक का समात्मभाव और कला के प्रतिलोक का प्रनुराग म द होता गया है। कलाकारो और दशको का भेद नाटक को भी प्रभिजात कला के निकट ले ग्राता है, यद्यपि नाटक म साक्षात जीवन का प्रदशन इस भेद को यथासम्भव कम करता है। फिर भी नाटक क दशक कला के प्रभिजात प्रदशन के दशको की भाति निष्क्रिय ही रहत हैं। वे लोकनत्य प्रथवा लोक सगीत की भाति कलात्मक समारोह के सक्रिय भागीदार नही होते। प्रस्तु इन प्रनेक कारणो से समात्मभाव की ग्रल्पता, म दता निष्क्रियता, ग्रादि मिलकर नाटक के दशको म उसके सास्कृतिक प्रभाव को बहुत मन्द बना देती है। समात्मभाव के म द होन पर प्रकृति की प्रबलता स्वभाविक होती है। व्यापक समात्मभाव के प्रतिरिक्त सास्कृतिक उत्कप का ग्र य साधन दुलभ है। ग्र यथा सक्रिय प्रथवा निष्क्रिय समूह म प्रकृति के प्रनुरोधो को सक्रिय प्रथवा मानसिक रूप म प्रवकाश मिलता है। प्रभिनय मे ग्रन्तर्निहित प्रयथाथता की धारणा भी प्रकृति के लिए एक प्रोत्साहन बन जाती है। प्रस्तु, नाटक की इन परिस्थितियो मे साक्षात जीवन के भावो म सास्कृतिक भावो की ग्रपक्षा प्राकृतिक भावो के लिए ही प्रवकाश रहता है। नाटक की यह परिस्थिति ही इसका मूल कारण है कि नाट्यशास्त्र के रूप मे काव्यशास्त्र के ग्रादि प्रवतक भरत ने रस के सम्ब ध मे एक प्राकृतिक दृष्टिकोण प्रपनाया। रस के ग्रगो के सम्ब ध मे तथा रसो के विभाजन के सम्ब ध म उनकी धारणा उनके इस प्राकृतिक दृष्टिकोण का समथन करती है। रस का ग्रालम्बन और ग्राश्रय तो सास्कृतिक रस म भी प्रपेक्षित है।

किन्तु सांस्कृतिक रस में ये दोनों व्यक्तिगत इकाई के रूप में रस के आश्रय अथवा आलम्बन नहीं होते, वरन् एक साम्यपूर्ण समात्मभाव में समाहित होकर परस्पर रस का सृजन और आस्वादन करते हैं। सांस्कृतिक रस में रस का आलम्बन सदा मनुष्य अथवा प्राणी नहीं होता। कोई प्राकृतिक अथवा मौलिक उपादान अथवा कोई क्रिया भी रस का आलम्बन हो सकती है। सांस्कृतिक रस आलम्बन पर नहीं, वरन् आश्रया के समात्मभाव पर निर्भर होता है। काव्यशास्त्र में आश्रय और आलम्बन का भेद ही वस्तुतः रस के सांस्कृतिक दृष्टिकोण के विपरीत है, और रस के सम्बन्ध में भरत के प्राकृतिक दृष्टिकोण का समर्थन करता है। यह भेद आश्रयों के समात्मभाव के उस साम्य का खण्डन करता है जो सांस्कृतिक रस का मूल स्रोत है। भरत के रस सूत्र में आश्रय का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, इसका कारण यह है कि नाटक के आधार पर काव्य के रस का निरूपण करने वाले आरम्भिक आचार्यों का रस आश्रय के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत बन सका था। भरत के परवर्ती आचार्यों ने रस के आश्रय के प्रसंग को लेकर ही रस मीमांसा का विस्तार किया है। किन्तु रस निराश्रय नहीं होता उसकी अनुभूति किसी न किसी आश्रय में ही होती है चाहे वह आश्रय कोई भी हो। यह सरल सत्य नाट्य शास्त्र के आचार्यों को भी अविदित न था। स्पष्ट उल्लेख न होते हुए भी आलम्बन की कल्पना में आश्रय की धारणा अभिप्रेत है।

भरत के रस सूत्र में आश्रय का स्पष्ट उल्लेख न होने का एक विशेष कारण नाटक में नट की संदिग्ध स्थिति है। नट मूलपात्र का अभिनय करता है। अतः उसमें रस की कल्पना निश्चित रूप से नहीं की जा सकती। नाटक के दर्शक यद्यपि रसास्वादन के लिए ही जाते हैं। किन्तु वे मूलपात्रों द्वारा अनुभूत रस का अभिनय के माध्यम के द्वारा किस प्रकार आस्वादन करते हैं यह एक विवादास्पद विषय है। यही विवाद भरत के परवर्ती आचार्यों में मतभेद का कारण रहा है। किन्तु भरत के रस सूत्र में आश्रय का स्पष्ट उल्लेख न होने पर भी भरत और उनके परवर्ती आचार्य अपने आश्रय अस्तित्व की इकाई में परिच्छिन्न व्यक्ति को ही रस का आश्रय मानते रहे हैं। आश्रय और आलम्बन का भेद रस मीमांसा के इस व्यक्तिवाद का समर्थन करता है। इस व्यक्तिवाद के आग्रह के कारण ही भरत के परवर्ती आचार्यों के लिए रस के आश्रय

का निर्णय करना एक कठिन पहेली बन गया। इकाई में परिच्छि न व्यक्ति को रस का आश्रय मान लेन पर इसकी व्याख्या करना अत्य त कठिन हो जाता है कि एक व्यक्ति क द्वारा अनुभूत रस का आस्वादन दूसरा व्यक्ति किस प्रकार करता है। व्यक्ति के आश्रय में रति क्रोध, भय आदि मनोवैज्ञानिक स्थायी भावा की कल्पना तथा विभाव अनुभाव आदि के सयोग स उनके रस रूप में परिपाक को प्रतिपादित करन वाला सवत अभिनन्दित अभिव्यक्तिवाद काव्य-शास्त्र के रस सिद्धा त के मौलिक और आरम्भिक प्राकृतिक दृष्टिकोण का ही प्रतिक परिणाम ह। अभिव्यक्तिवाद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने मानस में स्थिति स्थायी भावा की अभिव्यक्ति और उनक परिपाक के रूप मे रस का अनुभव करता है। सत्य यह है कि नाटक की प्रकृति प्रधान परिस्थिति और उस परिस्थिति से प्रभावित भरत के प्राकृतिक और व्यक्तिवादी सीमाओ से बाहर निकल कर काइ भी आचाय काव्य अथवा जीवन के उस सास्कृतिक रस का प्रतिपादन नही कर सका, जो वस्तुत व्यक्ति की इकाई के आश्रय म अभिव्यक्त न होकर एकाधिक व्यक्तिया के समात्मभाव मे सम्प न होता है। कुछ आचार्यो के द्वारा उपनिषदो के आध्यात्मिक रसवाद का स्मरण भी भारतीय रस मीमासा को इस प्राकृतिक दृष्टिकोण के भ्रमर से न निकाल सका।

अस्तु, आश्रय और आलम्बन के अतिरिक्त उद्दीपन, विभाव और अनुभाव की कल्पना भी काव्यशास्त क रस सिद्धा त के प्राकृतिक दृष्टिकोण का समथन करती है। उद्दीपन व वाह्य उपकरण अथवा भाव ह जो रस का उत्तेजन करत ह। च द्रमा, वायु, उद्यान आदि उद्दीपक उपकरणा के उदाहरण ह। शत्रु से दुवचन, उसका दप उद्दीपक भावो क उदाहरण हैं। अनुभाव रस की अभिव्यक्ति के आंगिक लक्षण ह। अनुभावो के अ तगत व शारीरिक विकार हैं जिनके द्वारा आन्तरिक रस की वाह्य अभिव्यक्ति होती है। ये उद्दीपन, विभाव और अनुभाव स्वरूप स प्राकृतिक होने के अतिरिक्त रस को भी प्राकृतिक बनाते है। वाह्य कारणता का हमन पिछले अध्यायो म प्राकृतिक रस का एक लक्षण बताया है। यह वाह्य कारणता रस को पराधीन बनाती हैं। यह पराधीनता प्राकृतिक रस का एक प्रमुख लक्षण है। उद्दीपन विभाव यद्यपि रस के मूल उपकरण नही ह, फिर भी रस के परिपाक म उनका योग एक वाह्य कारण के रूप म ही रहता है और यह रस का पराधीन बनाता है। वस्तुत अभिनव गुप्त के द्वारा स्थाय ी

भावो की स्थापना पय त रस निष्पत्ति म आलम्बन, उद्दीपन आदि विभावो और अनुभावो को ही मुख्य कारण माना गया।

यद्यपि काव्यशास्त्र के आचाय विभाव आदि को कारण और रस को काय नही मानत। कदाचित् रस को काय मानने म रस की स्वरूपगत महत्ता और स्वत त्रता नष्ट हा जाती है। कि तु साथ ही जिस प्रबलता क साथ विभावादि की रस के सम्ब ध म स्थापना की गई है वह भी रस की महत्ता और स्वतन्त्रता के अनुरूप नही है। स्थायीभाव की स्थापना रस निष्पत्ति म आश्रय को उसके बहिगत विभावादि की अपक्षा अधिक महत्व देती है किन्तु जो स्थायी भाव काव्य शास्त्र म माने गये ह, वे मनुष्य के प्राकृतिक भाव है। उनके जागरण और रस परिपाक की प्रक्रिया बहुत कुछ प्राकृतिक है तथा प्राकृतिक हाने क कारण इन प्रक्रिया म भी विवशता है। अ तर केवल इतना ही है कि विभावादि की प्रक्रिया का प्रभाव बाहर से होता है और स्थायी भावो की प्रक्रिया म प्रकृति मनुष्य के व्यक्तित्व का अग बन कर प्रवृत्त होती है कि तु वह प्रकृति ही है और उसकी प्रक्रिया म विवशता रहती ह। सत्य यह है कि पूणत प्राकृतिक भावारा को मानकर रस की महत्ता और स्वत त्रता की रक्षा नही की जा सकती। भरत के रस सूत्र म आरम्भ स ही प्राकृतिक दष्टिकोण स्पष्ट रहा है और सभी आचाय रस क इन प्राकृतिक आधारा का मानत रह है। अत काव्यशास्त्र म रस के स्वत त्र और सास्कृतिक रूप की प्रतिष्ठा नही हा सकी।

रस के उपकरणो म अनुभावो की स्थिति अद्भुत और विचारणीय है। अनुभाव रस की बाह्य अभि यक्ति है। व एस आगिक विकार हैं जो रस के परिपाक की सूचना दत हैं। इसस स्पष्ट है कि अनुभावा का अधिष्ठान आश्रय है। आलम्बन के अनुभावा का उद्दीपन के अ तगत मानना होगा। वस्तुत आलम्बन के अनुभाव निष्प न रस के अभिव्यजन नही हैं। रस की निष्पत्ति आलम्बन म नही आश्रय म होती है। आलम्बन म रस की निष्पत्ति हाने पर वह आलम्बन नही रहता वरन् आश्रय बन जाता है। आलम्बन की दृष्टि स उसक आगिक विकारो को अनुभव न कहकर आ श्रय क सम्ब ध म उन्हें रस के उद्दीपन विभाव कहना अधिक उचित होगा। कि तु अनुभावो को आश्रय के आगिक विकार मानकर रस निष्पत्ति के प्रसग म एक सूक्ष्म समस्या उपस्थित

हो जाती है, जिसकी ओर कदाचित् आचार्यों का ध्यान नही गया। वह समस्या यह है कि रस की निष्पत्ति म विभाव और अनुभावो का सयोग कैसे होता है। अनुभाव आश्रयगत होत हैं। आलम्बन विभाव आश्रय स भि न व्यक्ति है और उद्दीपन विभाव कुछ आलम्बन मे रहते हैं यद्यपि कुछ उद्दीपन वातावरण म भी रहते हैं। इस सूक्ष्म समस्या का एक सूक्ष्म पक्ष यह भी है कि यदि अनुभाव आश्रय म रस की निष्पत्ति के सूचक हैं तो उन्ह रस की निष्पत्ति के सहकारी कारणो म क्या सम्मिलित किया गया। रस क फल को रस का कारण कैस माना जा सकता है।

भरत क रस सूत्र म विभाव और अनुभव के इस विचित्र सयोग का समाधान नाटक की विशेष स्थित म मिलता है। नाटक के अभिनय म अनुभावो का बडा महत्व है। अनुभावो की यथार्थता ही अभिनय की सफलता का प्रमाण है। अभिनय करत समय नट म वास्तविक रस जागृति होता है अथवा नही, इस विषय म नट ही प्रमाण है, दूसरा कोई इसका सही अनुमान नही लगा सकता। रस एक आन्तरिक अनुभव है जो आत्म सम्वेद्य है। उसका परस-म्वेद्य होना कठिन है। दूसरो के लिए नट म रस की जागृति का अप्रमाणित करना भी उतना ही कठिन है जितना कि उसे प्रमाणित करना। भाव अथवा रस के अनुरूप अनुभाव प्रस्तुत करना ही अभिनय का कौशल है। अभिनय का यह कौशल ही नाटक मे मौलिक जीवन की स्थिति का आभास प्रस्तुत करता है। दूसरी ओर अनुभावो की अनुरूपता नट म रस की जागृति का आभास भी उपस्थित करती है। यद्यपि नट म रस की उपस्थिति को प्रमाणित करन का प्रयत्न किसी ने नही किया है। फिर भी अभिनय मे अनुभवो के महत्व को कोई भी अस्वीकृत नही करता।

अनुभावो को रस का व्यजक भी सभी मानते हैं। किन्तु दूसरी ओर दशक *के रसास्वादन को भी कोई अस्वीकृत नहीं करता। भरत के रस सूत्र की व्याख्या* और उसके सम्ब ध म विवाद भी आग चलकर इसी आधार पर हुआ है कि दशक को नाटक म रस का अनुभव किस प्रकार होता है ? अभिनीत नाटक के रस का आश्रय सामाजिक (दशक) है। इस सम्बन्ध म सभी आचाय एक मत है। विवाद केवल इस बात पर है कि उसे रस का अनुभव किस प्रकार होता है।

अभी हम इस प्रश्न का विवेचन अभीष्ट नहीं है, यह विवेचन हम आगे करेंगे। यहां हमारा उद्देश्य भरत के सूत्र में अनुभाव की विचित्र स्थिति को समझना है। साधारणजनों पर अनुभावों का क्या प्रभाव होता है इसे समझने पर एक सूक्ष्म समस्या कुछ सुलझती हुई दिखाई देती है, जिसका संकेत हमने ऊपर किया है। साधारण लोक जीवन में भी हम अनुभावों का प्रभाव देखते हैं। शोक के अवसर पर कुछ लोगों को रोते देखकर दूसरे लोग भी रोने लगते हैं। दूसरों को हंसते देखकर हमें हंसी आ जाती है। प्रायः एक बालक के रोने पर दूसरा भी रोने लगता है। एक भीड़ को उत्तेजित देखकर अन्य बहुत से उत्तेजित होकर उसमें सम्मिलित हो जाते हैं, जबकि वे स्पष्ट रूप से यह नहीं जानते हैं कि उत्तेजना का कारण और लक्ष्य क्या है। धार्मिक और राजनीतिक जन आन्दोलन इसी आधार पर रचे जाते हैं। भावना संक्रमणशील है। किन्तु प्रायः भावना का संक्रमण अनुभवों के द्वारा होता है। भावना आंतरिक और अप्रत्यक्ष होती है। बाह्य और आंगिक होने के कारण अनुभाव अधिक प्रभावशाली होते हैं। चाहे सभी दर्शक नट के अनुभावों का अनुकरण न करें किन्तु अभिनय की यथार्थता और कुशलता उन्हीं पर निर्भर करती है। अनुभावों पर ही नाटक के प्रति दर्शकों का अनुराग भी अवलम्बित होता है। भरत के रस सूत्र का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि अनुभाव रस की निष्पत्ति में कारण होते हैं। अनुभावों की यह कारणता दर्शक के सम्बन्ध में ही हो सकती है। क्योंकि उसके रसास्वादन को सभी स्वीकार करते हैं।

नाटक के रसास्वादन के लिए ही दर्शक उपस्थित होते हैं। भरत के इस सूत्र में व्यभिचारी भावों का समावेश दर्शक की रसाश्रयता का समर्थन करता है। नट में उनकी कल्पना कुछ असंगत सी जान पड़ती है। नाटक और काव्य के प्रबन्ध में व्यभिचारी भावों का सन्निवेश मूलपात्रों के सम्बन्ध में ही किया जाता है, जो रस के मूल आश्रय हैं। दर्शक के व्यभिचारी भाव मूलपात्र के ही समान हों यह आवश्यक नहीं है। क्योंकि व्यभिचारी भाव मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से अनुबद्ध रहते हैं। दर्शक को रस का आश्रय मानने पर आलम्बन का प्रश्न उठता है। व्यक्तिगत जीवन में दर्शक के आलम्बन नाटक अथवा नाटक के पात्रों से भिन्न होते हैं। दर्शक के आलम्बनों का विवेचन काव्य शास्त्र में किया गया है।

इस प्रकार नाटक के प्रसग म रस की समस्या बहुत उलझी हुई है। नाटक के मूल पात्र नट और दशक इन तीनो के नाटक के क्षेत्र म सम्मिलित हो जाने के कारण यह समस्या जटिल हो गई है। रस के सम्ब ध म आचार्यों द्वारा समान रूप से स्वीकृत प्राकृतिक आधार का मूल अथ यह है कि रस की निष्पत्ति व्यक्ति की इकाई के आश्रय म होती है। नाटक के क्षेत्र म सम्मिलित तीनो व्यक्तियो का प्रसग भरत क रस सूत्र म वतमान है। आलम्बन का सम्ब ध मूलपात्र से है, अनुभावो का सम्ब ध नट से है और व्यभिचारी भावो का सम्ब ध दशक स हैं। नाटट की विचित्र स्थिति के मुख्य तत्वो को लकर ही भरत के रस सूत्र की रचना हुई है। नाटक की स्थिति की इस जटिलता के कारण ही रस के सम्ब ध म मतभेद और विवाद रहा। व्यक्ति की इकाई को रस का आश्रय मानन क कारण रस की समस्या स तोषजनक रूप स सुलझ न सकी। व्यक्ति की इकाई का रस का आश्रय मान लेन पर यह व्याख्या करना अत्य त कठिन हो जाता है कि एक आश्रय क रस का सचार दूसर आश्रय म किस प्रकार होता है। मूल रूप मे तो यही मानत है कि रस का अनुभाव कथा क मूल पात्रो म हाता है। नट उन पात्रो का अभिनय करत ह। नट मे रस की उपस्थिति सदिग्ध है, किन्तु भाव के अनुभाव नट क अभिनय की विशेषता मान जाते हैं। नाटक क रसास्वादन म अनुभावो का महत्व भरत के मूलत प्राकृतिक दृष्टिकोण का ही परिणाम है।

भाव अथवा रस म अनुभावो का महत्व आधुनिक मनोविज्ञान भी मानता है। विलियम जम्स और लाग के नाम से प्रसिद्ध रस का सिद्धा त अनुभावो के महत्व पर ही आश्रित है। जैम्स और लागे का सिद्धा त नाटक से सम्ब ध नही रखता है वरन् साक्षात् जीवन से सम्ब ध रखता है। जीवन के सम्बन्ध म उनका मत है कि भाव अथवा सम्वेग का अग अनुभाव ही है। मनुष्य भय के कारण नही कापता है, वरन् कम्पन के कारण भी हाता है। इन मनोवज्ञानिको का तक यह है कि अनुभावो को रोकने पर अथवा उनके विलीन हो जाने पर भाव ही विलीन हो जाता है। किन्तु यह तक ठीक नही है। भाव और अनुभाव एक दूसरे से अपृथक हो सकते हैं कि तु वे एक ही नही हैं। अनुभावो को ही भाव नही माना जा सकता है। भाव अथवा सम्वेग एक तीव्र आन्तरिक अनुभूति है। अनुभाव उसके बाह्य और आगिक लक्षण हैं। जीवन और मनोविज्ञान

मे अनुभावो का महत्व भाव सम्बधी दृष्टिकोण म प्रकृतिवाद की प्रधानता का सूचक है। नाटक मे अनुभावों का महत्व इस प्रकृतिवाद को और भी प्रबल बना देता है। समूह म मनुष्य की स्थिति असाधारण रूप से प्राकृतिक होती है। यह आधुनिक मनोविज्ञान भी मानता है। नाटक के दशको का समूह निष्क्रिय प्रतीत होता है। वह केवल दशक के रूप म अभिनय का आस्वादन करता है। प्राय नाटक अथवा चित्रपट म कोई प्रभावशाली अनुभाव उपस्थित होने पर यह समूह भाव स अभिभूत दिखाई देता है। यह अनुभाव का अनुरूप फल है। कि तु कभी कभी अनुभाव का प्रतिक्रम फल भी दिखाइ देता है। किसी अप्रिय तथ्य से उत्तेजित होकर दशको का समूह मनोविज्ञान के सिद्धा तो को प्रमाणित करता है। यह उत्तेजना समूह की असाधारण प्रकृतिनिष्ठता की द्योतक है।

अस्तु नाटक की स्थिति म प्रकृति की प्रधानता के लिए बहुत अवकाश है। भरत के रस सूत्र म प्रकृति की इस प्रधानता क स्पष्ट सकेत है। भरत के परवर्ती आचार्यों के सिद्धा त काव्यशास्त्र की इस मौलिक भूल स प्रभावित है। इन आचार्यों की कठिनाइया तथा इनके समाधानो की विडम्बनाओ का मूल कारण भी काव्यशास्त्र के इस प्रथम अध्याय मे प्रकृति की प्रधानता ही है। पीछे के विवरण म नाटक की स्थिति तथा भरत के रस सूत्र से लक्षित रस की समस्या के कुछ सूक्ष्म और महत्वपूर्ण पक्षो का सकेत करके अब आगे हम भरत के परवर्ती द्वारा की गई भरत के रस सूत्र की व्याख्याओ तथा नाटक एव काव्य मे रस की समस्याओ के उनके द्वारा किये गये समाधानो का पर्यालोचन करेंगे। हम ऊपर अनेक बार सकेत कर चुके हैं कि नाटक की स्थिति और आचार्यों के प्रकृति प्रधान दृष्टिकोण के कारण काव्यशास्त्र के रस की मीमासा स्थूल आधार पर की गई है। नाटक अथवा काव्य का रस व्यक्ति की इकाई म सम्पन्न होता है। नाटक की स्थिति मे यह सव मान्य है कि दशको की उपस्थिति का उद्देश्य नाटक का रसास्वादन है, अत नाटक की मूल समस्या इस रूप म उपस्थित हुइ कि दशक नाटक का रसास्वादन किस प्रकार करता है। कला काव्य अथवा अभिनय के विशेष रूप से कलात्मक रस की कल्पना किसी भी आचाय ने नही की। अत नाटक के अभिनय मे प्रस्तुत जीवन के साक्षात रस का दशको द्वारा आस्वादन ही काव्य शास्त्र की मुख्य समस्या बन गया। मूलत यह रस काव्य के मूल पात्रो द्वारा अनभूत होता है। वह मूल स्थिति तो प्रतीत

के गत म विलीन हो जाती है। नाटक म नट उसका अभिनय करते है। कि तु वह अभिनय ही होता है। अभिनय मूल घटना का स्थान नही ले सकता। वह उसका कलात्मक चित्रण है। नट मे रस की स्थिति भी सदिग्ध रहती है। यदि नट मे रस की स्थिति मान भी ली जाय तो भी अ तत यह प्रश्न शेष रह जाता है कि दशक उस रस का अनुभव किस प्रकार करते हैं। भरत के रस सूत्र और परवर्ती काव्यशास्त्र की इस मा यता के कारण कि रस का अनुभव व्यक्ति को इकाई में होता है रस की समस्या का मुख्य रूप यही रहा है कि मूलपात्रो द्वारा अनुभूत अथवा नट म आरोपित रस का अनुभव दशक किस प्रकार करते है। भरत के रस सूत्र के व्याख्याकारो तथा अ य सभी आचार्यों ने रस की इसी समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है।

भरत क रस सूत्र के व्याख्याकारो म सबसे पहला नाम भट्ट लोल्लट का है। उनका सिद्धा त आरोपवाद कहलाता है। आरोप एक प्रकार की कल्पना है जो सत्य के सदश्य बनना चाहती है। किसी वस्तु को कोई दूसरी वस्तु मान लेना पहली वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोपण कहलाता है। इस आरोपण मे सादश्य का आधार रहता है। सादश्य के आधार पर एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोपण होता है। वेदा त दशन म इसे अध्यारोप कहते हैं। यह एक प्रकार का मिथ्या आभास है। कि तु अनुभव काल मे वह सत्य प्रतीत होता है। वेदा त के अध्यारोप से भट्ट लोल्लट के आरोपवाद मे इतना अ तर है कि वेदा त म आरोप के मिथ्यात्व और उसके निराकरण पर बहुत ओर दिया जाता है। इसका कारण आरोप्य और आरोपित पदार्थों के स्वरूप की नितान्त भि नता ह। कि तु नाटक की परिस्थिति म उपस्थित होने वाले इस आरोप मे मिथ्यात्व और उसके निवारण का प्रसग इतना प्रबल नही रहता। इसका कारण यह है कि नाटक और साक्षात् जीवन के स्वरूप म ब्रह्म और जगत के समान भिन्नता नही है। कुछ अ तर होते हुए भी दोना म बहुत सादृश्य हैं। नाटक साक्षात् जीवन का स्थानाप न हाता है। जीवन की मूल स्थिति के साथ अधिकतम सादृश्य उपस्थित करने म ही अभिनय की कुशलता मानी जाती ह। इस सादश्य के आधार पर हो नटो मे मूलपात्रो का आरोपण होता है। यह आरोपण नाटक म निवारणीय नही वरन् अभीष्ट होता है।

भट्ट लोल्लट के मतानुसार दशको द्वारा नाटक का रसास्वादन इसी आरोपण पर अवलम्बित है। अभिनय की कुशलता तथा अपनी कल्पना के आधार पर नाटक के दशक नटा मे मूलपात्रो का आरोपण करते हैं। इस आरोपण के द्वारा नाटक के पात्र मूलपात्रो से प्रतीत होते है। अभिज्ञान शाकु-तल मे दुष्य त का अभिनय करन जाला नट दशको की कल्पना मे दुष्यन्त ही वन जाता है। इस आरोप क द्वारा मानो दशकगण रगमच पर अभिनय का नही वरन् साक्षात जीवन का दशन करते हैं। नट के अनुभवा के आधार पर वे नट म दुष्य त के द्वारा अनुभूत मौलिक रस की भी कल्पना कर देते है। भट्ट लोल्लट का मत है कि इस प्रकार अभिनय मे यथाथ जीवन के आरोपण के द्वारा दशकगण स्वय रस का अनुभव करने लगते हैं।

भट्ट लोल्लट अथवा किसी व्याख्याकार ने यह स्पष्ट नही किया कि नट म दुष्य त का और उसके फलस्वरूप दुष्य त की शकु तला विषयक रति का आरोपण करने स दशक स्वय रस का अनुभव किस प्रकार करन लगते हैं। कला अथवा काव्य के स्वरूपगत सौ दय के मौलिक रस की कल्पना किसी भी आचाय ने नही की। यदि किसी न यह कल्पना की होती तो कला के सौन्दय गत रस का विवेचन भी जीवन के साक्षात रस क विवचन के समान काव्यशास्त्रो म विपुलता से मिलता। दूसरे कला के स्वरूपगत रस की कल्पना करने पर दूसरे मूलपात्रा मे वतमान अथवा नट मे आरोपित रस के दशको द्वारा आस्वादन की कठिन समस्या को आचार्यो की प्रतिभा के उपन्यय का सौभाग्य नही मिलता। भट्ट लोल्लट के अभिनव आरोप को वेदा त के अध्यारोप के समान पूणत मिथ्या अथवा भ्रम नही माना जा सकता। वेदा त के अध्यारोप मे सत्य का ज्ञान नही हाता और आरोप ही सत्य प्रतीत होता है। सत्य का आभास मिलत ही भ्रम विलीन हो जाता है और आरोप का अवसर का अपवाद हो जाता है। नाटक के आराप म ऐसा पूण भ्रम नही होता। दशक यह भलिभाति समझते हैं कि व नाटक दख रहे है और थोडी देर के लिए भी व इस स्थिति का नही भूलत। वे यह भी जानते है कि नाटक की कथा अतीत का इतिहास बन चुकी है तथा मूल कथा के राम सीता, दुष्यन्त शकुन्तला आदि अब नही हैं। वे यह भी जानत ह कि नट राम अथवा दुष्यन्त नही ह वह केवल उनका अभिनय कर रहा है। फिर भी नाटक के अभिनय मे तत्काल के लिए नट नटी राम सीता तथा दुष्यन्त

शकुंतला ही बन जाते हैं। यही नाटक का उद्देश्य है और यही देखने के लिए दर्शक जाते हैं।

प्राचीन और अर्वाचीन काव्यशास्त्र में भट्ट लोल्लट के मत की बहुत आलोचना की गई है। श्री शकुक ने इस आलोचना के प्रसंग में एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि सामाजिक (दर्शक) मूलपात्र अथवा नट दोनों से भिन्न है। तब वह मूलपात्र द्वारा अनुभूत अथवा नट में आरोपित रस का आस्वादन किस प्रकार करता है। श्री शकुक का यह प्रश्न समीचीन है। किन्तु इसका समुचित समाधान श्री शकुक अथवा अन्य कोई भी आचार्य नहीं कर सके। इसका कारण कला काव्य अथवा नाटक के स्वरूपगत सौंदर्य के कलात्मक रस का काव्यशास्त्र में उपेक्षित रहना तथा जीवन के साक्षात रस में व्यक्तिवाद और प्रकृतिवाद का अनुरोध अधिक होना है। व्यक्तित्वों के तादात्म्य के द्वारा नहीं वरन् उनके समात्मभाव के द्वारा ही रस की समस्या का उचित समाधान हो सकता है। किन्तु यह लोल्लट का मत अपनी सीमाओं में पूर्णत गलत नहीं है। आरोप नाटक का एक सरल सत्य है। इस आरोप में भ्रम न रहते हुए भी वह साक्षात् जीवन का दृश्य हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। इस आरोपगत सादृश्य के आधार पर दर्शक कुछ ऐसा अनुभव करते हैं मानो साक्षात् जीवन की ही पुनरावृत्ति हो रही हो। दर्शक यह आरोपण किसी भ्रांतिवश नहीं वरन् सादृश्य के सत्य के आधार पर करते हैं। वस्तुत आरोपण का समग्र भार दर्शकों पर नहीं होता।

नट मूलपात्रों के अनुरूप वेशभूषा आकृति आदि ग्रहण कर इस आरोपण में सक्रिय सहयोग देते है। इस आरोपण की यथार्थता में ही अभिनय का कौशल और नाटक का सौंदर्य निहित है। यह आरोपण भट्ट लोल्लट का भ्रम नहीं वरन् नाटक का एक असंदिग्ध सत्य है। किन्तु यह आरोपण केवल साक्षात जीवन की सादृश्य पूर्ण आकृति उपस्थित करता है। इस आरोपण को नाटक के कलात्मक सौंदर्य के रस का अवलम्ब मान सकते हैं किन्तु यह आरोपण इस बात की व्याख्या नहीं करता कि इस आरोपण के द्वारा दर्शक किस प्रकार रस का आस्वादन करते हैं। इसकी व्याख्या समात्मभाव के आधार पर ही की जा सकती है। आरोपण कथा के मूलपात्रों के साथ समात्मभाव का साक्षात अवलम्ब

बन जाता है और समात्मभाव के द्वारा दर्शकों से रसास्वादन को सम्भव बनाता है। सभी दर्शक एक ही प्रकार के नहीं होते और न वे नाटक के आस्वादन एक ही रूप में करते हैं। बालक, वृद्ध किशोर किशोरी, पुरुष, स्त्री आदि सब का पात्रों के साथ समान रूप से तादात्म्य नहीं हो सकता। समात्मभाव के लिए तादात्म्य की रूपता अपेक्षित नहीं है। अतः विविध रूप समात्मभाव के द्वारा सभी प्रकार के दर्शक साक्षात जीवन के रसानुभव के बहुत कुछ समान रस का अनुभव करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि नाटक की अयथार्थता के कारण नाटक और साक्षात् जीवन के रस में अन्तर है। किन्तु दूसरी ओर यह भी सत्य है कि नाटक में प्रभावशाली रूप में जीवन की घटनायें साधारण जीवन में कम ही देखने में आती है। अतः नाटक की घटनाओं की असाधारणता उनकी अयथार्थता की पूर्ति करके उन्हें समुचित प्रभावशाली बना देती है। फिर कला का समग्र प्रभाव कला पर ही निर्भर नहीं करता। दर्शक अथवा श्रोता की कल्पना और संवेदनशीलता अपने सक्रिय योग के द्वारा जैसा समात्मभाव सम्भव बनाती है वैसा ही रस का अनुभव वे करते हैं। सभी दर्शक समान तीव्रता से रस का अनुभव नहीं करते। यह कहना अनुचित न होगा कि अधिक तीव्रता से नाटक के रस का अनुभव करने वाले सहृदय रसिक दर्शकों के समूह में कम ही होते हैं। अभिनव गुप्त के स्थायीभाव और साधारणीकरण के सिद्धान्त के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक दर्शक अपने अद्भुत भाव के रस का अनुभव करता है। तब ऐसी स्थिति में नाटक दर्शक के स्थायीभाव के उद्भावन का निमित्तमात्र है।

दर्शक का यह रस उसके जीवन का साक्षात रस है। किन्तु यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि दर्शक का यह रस नाटक के कलात्मक रस तथा पात्रों के साथ समात्मभाव के सांस्कृतिक रस दोनों से ही भिन्न है। दर्शक का यह रस प्राकृतिक और सांस्कृतिक दोनों ही प्रकार का हो सकता है, किन्तु काव्य शास्त्र में स्वीकृत स्थायीभावों में सांस्कृतिक रस के लिए अवकाश नहीं है। वे ऐसे भाव हैं जो व्यक्ति के स्वार्थमय भाव हैं तथा जो समात्मभाव का आधार नहीं बन सकते। समात्मभाव के लिए हम अन्य भावों की खोज करनी होगी। इन भावों की खोज हम अगले अध्याय में करेंगे। यहां इतना संकेत अपेक्षित है कि नाटक के निमित्त से जाग्रत होने वाला दर्शक के अपने जीवन का सांस्कृतिक रस

उस सास्कृतिक रस से स्वरूप म (कोटि म नही) भिन्न है, जो पात्रा के साथ समात्मभाव के द्वारा सम्पन्न होता है। दोनो क स्वरूप की भिन्नता का माधार केवल समात्मभाव के आलम्बनो की भिन्नता है।

भट्ट लोल्लट के बाद भरत के रस सूत्र के दूसरे व्याख्याकार श्री शकुक है। श्री शकुक ने भट्ट लोल्लट के आरोपवाद के सम्ब ध मे यह आपत्ति की है कि नट मे आरोपित दुष्य त आदि के रति आदि भाव के रस का आस्वादन दशक किस प्रकार करते है। जबकि वे मूलपात्र और नट दोनो से भिन्न है। नट मे मूल-पात्र का आरोपण कर लेन पर भी यह भेद बना रहता है। कि तु श्री शकुक ने भी स्वय इस प्रश्न का कोई समाधान नही किया है। उनके अनुमानवाद के अनुसार भी रति आदि भावों का आश्रय नट ही रहता है फिर भी यह प्रश्न बना रहता है कि अनुमान द्वारा नट मे स्थापित रस का अनुभव दशक किस प्रकार करता है।

श्री शकुक का अनुभानवाद केवल नट मे मूलपात्र के भाव और रस की स्थापना की एक नवीन प्रक्रिया प्रस्तुत करता है। श्री शकुक के मत मे यह प्रक्रिया भट्ट लोल्लट के आरोपवाद से भिन्न है, किन्तु वस्तुत वह इतनी भिन्न नही है जितनी कि श्री शकुक उसे समझते ह। श्री शकुक का मत है कि वास्तविक रस मूलपात्रो म रहता है। दशक उस रस का नट म अनुमान कर लेते है और रस अनुभान के द्वारा रस का आस्वादन करता है। भट्ट लोल्लट और श्री शकुक के मत म दृष्टिकोण की समानता है कि तु सिद्धा त का कुछ भेद अवश्य है। दोनों ही इस बात को मानते हैं कि मूलरस मूलपात्रो म ही रहता है तथा दशक नट म उस रस की कल्पना द्वारा स्थापना करता हैं और इस प्रकार रस का आस्वादन करता है। दशक की कल्पना द्वारा नट म रस की स्थाना को भट्ट लोल्लट आरोप और श्री शकुक उसको अनुमाव कहते है आरोप और अनुमान म अ तर यह है कि आरोप प्रत्यक्ष के समकक्ष है और अनुभान उससे भिन्न है। प्रत्यक्ष और अनुमान म अन्तर यह ह कि प्रत्यक्ष का सम्बन्ध प्रस्तुत विषय से है और अनुभान का सम्ब ध अप्रस्तुत विषय से है। हम धुऐं की व्याप्ति से अग्नि का अनुमान करते है। इसमे हमारा धुएँ का ज्ञान प्रत्यक्ष हैं क्योकि धुआ प्रस्तुत विषय है।

जिस अग्नि के विषय मे हम अनुमान करते हैं, वह इस समय प्रस्तुत नही है। इसीलिए अप्रस्तुत अग्नि का ज्ञान अनुमान न रहकर प्रत्यक्ष बन जाता है। नाटक म नट वेश, भूषा, अभिनय आदि के द्वारा मूल पात्र का रूप ग्रहण करता है। नाटक मे नट प्रत्यक्ष उपस्थित रहता है अत उसके सम्ब ध म अनुमान का अवकाश नही है। मूलपात्र अवश्य अप्रस्तुत होता है अत उसके सम्ब ध मे अनुमान की गति हो सकती है। इस अनुमान का रूप यह होगा कि हम प्रस्तुत नट के आधार पर अप्रस्तुत मूलपात्र की सत्ता की स्थापना करेंगे। अनुमान के बाद होने वाला मूलपात्र का साक्षात्कार अनुमान का खण्डन नही वरन् उसकी यथाथता का समथन करता है। यदि हम नट के प्रस्तुत आधार पर अप्रस्तुत मूलपात्र की सत्ता को स्थापना करत है तो निश्चित ही इसम अनुमान है। किन्तु अनुमान यथाथ ज्ञान होता है वह अप्रस्तुत पदाथ की रूप मे स्थापना करता है। नट म मूलपात्र की स्थापना यथाथज्ञान नही है। नट वस्तुत दुष्य त, राम आदि नही होता अत इस अनुमान मानना उचित नही है। इसके अतिरिक्त अनुमान व्याप्ति के आधार पर किया जाता है। व्याप्ति एक जाति को अनेक व्यक्तियों म अनुगत लक्षण है। व्याप्ति के आधार और अनुमेय विषय अलग अलग होते है। उनका कभी तादात्म्य नही होता। नाटक के प्रसग मे असज्जित नट मनुष्य जाति का एक व्यक्ति है कि तु सज्जित रूप मे वह एक विशष व्यक्ति बन कर जाता है।

मूलपात्र दुष्य त, राम आदि भी विशेष व्यक्ति हैं। प्रत्येक व्यक्ति का सम्ब ध जाति से होता है कि तु इस सम्ब ध मे गुण प्राधा य भाव से ही निणय किया जा सकता है। कला और काव्य म जातिगत साधारण भाव का इतना महत्व नही होता जितना कि व्यक्तिगत विशेष रूप का होता है। इसका अधिक विवचन आगे चलकर साधारणीकरण के प्रसग मे करेंगे। यहा प्रस्तुत प्रसग मे इतना ही पर्याप्त है कि कला और काव्य के सामा य क्षेत्र की भांति नाटक के मूलपात्र नट और सामाजिक (दशक) सभी व्यक्ति भाव की प्रधानता से उसके अग बनते है और उसके रस का आस्वादन करत है। एसी स्थिति मे जातिगत व्यक्ति का अवकाश नही दिखाई देता। नाटक के प्रसग म हेतु उदाहरण और उपनय को सिद्ध करना कठिन है। इसके अतिरिक्त व्याप्ति द्वारा अनुभव में हेतु और साध्य अलग अलग रहते है। उनका तादात्म्य नहीं होता। यहां

नाटक के प्रसग मे नट और दुष्यन्त आदि मूलपात्रो का कुछ तादात्म्य होता है। भट्ट लोल्लट की भाति श्री शकुक ने भी इस तादात्म्य को स्वीकार किया है। इस तादात्म्य की स्थिति म अनुमान की अपेक्षा आरोप अधिक सत्य है। आरोप व्यक्तिभाव म भी सम्भव है और आरोप का तादात्म्य प्रत्यक्ष होता है। भ्रम म यह आरोप तत्काल के लिए पूर्ण होता है। तभी हम रज्जु सप से भयभीत हाते है।

कि तु नाटक मे यह आरोप पूण नही होता, नट को हम नट भी समझते हैं, किन्तु साथ ही साथ उसका अभिनय हमारे सामने मूलपात्र का रूप भी प्रस्तुत करता है। यहा भी गुण प्राधा य की दृष्टि से नट मे आरोपित मूलपात्र का भाव ही प्रधान होता हैं। इस प्रधानता का भाव प्रत्येक दशक की दृष्टि म भिन्न होता है। इसीलिए नाटक का प्रभाव सभी दशको पर समान नही होता। मूलपात्र रूप साध्य वास्तव मे अप्रस्तुत होता है, किन्तु अनुमान मे अप्रस्तुत रूप मे ही उसकी सिद्धि की जाती है। नाटक म प्रस्तुत रूप मे उसकी स्थापना की जाती है। अत नाटक की स्थिति म अनुमान अमा य है। भट्ट लोल्लट का आरोप नाटकीय स्थिति की अधिक सगत व्याख्या करता है। आरोप की सत्यता इसी से प्रकट है कि नट के साथ दुष्य त के तादात्म्य के रूप मे श्री शकुक भी उसे मानते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि वे इस आरोपण की प्रक्रिया मे अनुमान की गति देखते हैं। किन्तु अनुमान के स्वरूप और नाटक की स्थिति का सूक्ष्म विचार करने पर नाटक म अनुमान का अवकाश दिखाई नही देता। प्रत्यक्ष रूप म नट मूलपात्र के रूप म उपस्थित होता है। अत उसवें नट रूप को अप्रस्तुत मानकर उसकी स्थापना मे अनुमान की गति अवश्य हो सकती है, कि तु अनुमान की यह गति श्री शंकुक के उद्देश्य के ठीक विपरीत
श्री शकुक ने नाटक मे अनुमान की सिद्धि ज्ञान के रूपो के कुछ सूक्ष्म विश्लेषण के द्वारा की है। उ होने लोक प्रसिद्ध नान के चार रूप बताये हैं—सम्यक ज्ञान मिथ्या नान, सशय ज्ञान और सादृश्य ज्ञान। सम्यक ज्ञान में कोई भ्रम नही होता। वह यथाथ ज्ञान है। मूलपात्र को मूलपाध समझना नट को उसके वास्तविक स्वरूप मे पहचानना इसके उदाहरण हैं। मिथ्या ज्ञान मे भ्रम रहता , कि तु सशय ज्ञान म असमजस होता है और हम यथाथज्ञान तथा भ्रम दोनो मे रहत हैं। सादृश्य नान मे दो पदार्थों की समानता का ज्ञान होता है। श्री

शंकुक के मत में अनुभान इन चारों से विलक्षण ज्ञान है। ये चारों ही प्रत्यक्ष के रूप हैं। अतः अनुमान इन से भिन्न अवश्य होना चाहिए, अनुमान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। सादृश्य प्रस्तुत और दोनों ही प्रकार के विषयों के सम्बन्ध में होता है। वह पूर्णतः प्रत्यक्ष के अन्तर्गत नहीं है। इसीलिए कुछ दर्शनों में उपमान को पृथक प्रमाण मानते हैं। श्री शंकुक ने नाटक के रसास्वादन में अनुमान को कारण माना है किन्तु उन्होंने इसकी सिद्धि के लिए जो 'चित्र तुरग' का उदाहरण दिया है वह न अनुमान के अनुकूल है और न नाटकीय स्थिति के अनुरूप है। चित्र तुरग में व्याप्ति की अपेक्षा सादृश्य का अवकाश अधिक है। दूसरी ओर 'चित्र तुरग' और नट में बहुत अन्तर है। 'चित्र तुरग' को तुरग कहना एक उपचार मात्र है। आकृति की समानता के अतिरिक्त उसमें तुरग के कोई धर्म लक्षण और अनुभाव नहीं होते। इसके विपरीत नट में मूलपात्र के अधिक धर्म और लक्षण मिलते हैं। अभिनय की यथार्थता के द्वारा नट अपने नट रूप का अध्यास करके अपने पात्र रूप को प्रकाशित करता है। व्यक्तित्व के अतिरिक्त नट और मूलपात्र में अन्य कोई अन्तर नहीं होता। अनुभाव आदि के द्वारा वह व्यक्तित्व का भी आंशिक तादात्म्य उपस्थित करता है। दो व्यक्तित्वों का पूर्व तादात्म्य तो बाह्य दृष्टि से सम्भव नहीं है।

इसके अतिरिक्त 'चित्र तुरग' तुरग नहीं चित्र है। चित्र और तुरग दोनों भिन्न जाति के पदार्थ हैं। किन्तु नट और पात्र दोनों एक ही जाति के व्यक्ति होते हैं। जाति ही नहीं उनके व्यक्तित्व में भी बहुत समानता होती है। नट के रूप और गुण पात्र के जितने अधिक समानता होते हैं, उतना ही आरोप और अभिनय सफल होता है। इसीलिए अभिनय के लिए अधिक से अधिक सादृश्य वाले व्यक्ति चुने जाते हैं। कृत्रिम प्रसाधनों के द्वारा इस सादृश्य को बढ़ाकर अधिक से अधिक पूर्ण किया है। अतएव वस्तुतः नाटक की स्थिति की व्याख्या अनुमान की अपेक्षा सादृश्य के आधार पर अधिक संगत हो सकती है। जातिगत सादृश्य की अपेक्षा यह व्यक्तिगत सादृश्य अधिक है। कला में व्यक्तिगत विशेषता की ही प्रधानता रहती है। इस सादृश्य के आधार पर नट में दुष्यन्त का आरोप अवश्य किया जाता है किन्तु यह आरोप अपूर्ण होने के कारण भ्रम नहीं है। वस्तुतः यह आरोप नट और दर्शक दोनों की सृजनात्मक कल्पना के द्वारा होता

है। इस सृजनात्मक कल्पना म ही नाटक के आरोप का कलात्मक सौदय निहित है। नट और दशक की कल्पना का सम्वाद इस आरोप का सफल और सु दर बनाता है। श्री शकुक भी इस आरोप को मानते हैं कि तु इसकी व्याख्या वे अनुभाव के द्वारा करत हैं। वस्तुत इस आरोप म अनुमान की अपेक्षा प्रत्यक्ष और सादृश्य का स्थान अधिक है। इनके आधार पर नट और दर्शक की सृजनात्मक कल्पना का सम्वाद नाटकीय सौ दय की सृष्टि करता है।

इसके अतिरिक्त अनुमान एक बौद्धिक व्यापार है। अत यह विचारणीय है कि नाटक के अभिनय और आस्वादन म उसका हाथ कहा तक हो सकता है। बुद्धि को नीरस मानत हैं और उसकी प्रवृत्ति विश्लषणात्मक है। वह सूक्ष्म तत्वो का विश्लेषण और अवगाहन करती हैं। बुद्धि के धम मे सामा य की प्रधानता होती है। सजन की अपेक्षा वह ग्रहणात्मक अधिक होती है। कला मे बुद्धि के इस प्रधान लक्षणो की अधिक सगति नही है। कला म विश्लेषण, ग्रहण और सामा य की अपेक्षा सश्लेष, सृजन और विशेष का महत्व अधिक होता है। तत्व विचार की अपेक्षा कला मे भाव और रूप की महिमा अधिक होती है। कला मे भाव और रूप के सन्निधान मे सृजनात्मक कल्पना का हाथ रहता है। अनुमान की अपेक्षा कल्पना प्रत्यक्ष के अधिक निकट है। अनुमान मे अप्रस्तुत अप्रस्तुत ही बना रहता है, कि तु कल्पना अप्रस्तुत को प्रत्यक्ष बनाती है। *नाटकीय स्थिति मे भी कल्पना के द्वारा अप्रस्तुत पात्र प्रस्तुत बनते हैं।* इस कल्पना के द्वारा ही नाटकीय स्थिति म आरोप सम्भव होता है। काल्पनिक समात्मभाव के द्वारा ही दर्शक और नट भिन्न रूप म रस का आस्वादन करते है। नाटक अथवा काव्य का रस सृजनात्मक कल्पना के द्वारा जाग्रत समात्मभाव का सास्कृतिक रस है, जो व्यक्ति म सीमित प्राकृतिक धर्मों तथा निर्वैयक्तिक बुद्धि के धर्मों से भिन्न है।

नाटकीय स्थिति के साथ साथ श्री शकुक का अनुमानवाद दशक के रसास्वादन की भी व्याख्या नही करता। भट्ट लोल्लट और श्री शकुक दोनो ही यह मानते ह कि दशक नट मे मूलपात्र क पात्र की स्थापना करता है यथा साथ ही उसम रति आदि भाव एव रस की कल्पना करता है। दोनो म केवल इतना अ तर और श्री शकुक इसको अनुमान मानते है। ऊपर के विश्लेषण मे हमने

यह प्रकट किया है कि ये दोनो ही आचाय इस बात की व्याख्या नही करते कि नट मे स्थित रस का आस्वादन दर्शक किस प्रकार करत हैं। प्राकृतिक व्यक्तिवाद के आधार पर कला के इस रहस्य की सगत और सन्तोषजनक व्याख्या नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से आचार्यों द्वारा बहुमा य अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद भी कला के रस की स तोषजनक व्याख्या नही है। अभिव्यक्तिवाद भी प्राकृतिक व्यक्तिवाद के दोषो से दूषित तथा सीमित हैं। कला के सौंदय और रस का सृजन और आस्वादन प्राकृतिक व्यक्तित्व की इकाई मे नही होता, वरन् भाव के उस विस्तार म होता है जिसमे एकाधिक व्यक्तित्व का सामजस्य होता है। व्यक्तित्वा के इसी सामजस्य को हमने समात्मभाव कहा है। क्योंकि सामजस्य आत्मा का ही लक्षण है और उसी के प्रयास से प्रकृति के उपकरणो म ही सम्पन्न होता है। विभिन्न व्यक्तियो का समात्मभाव एक रूप मे नही होता वरन् विविध रूप म होता है। इस समात्मभाव के द्वारा नट, दर्शक (दर्शको मे भी विभिन्न व्यक्ति) आदि विविध रूप म कला के रस का आस्वादन करत हैं। यह समात्मभाव पूरा तादात्म्य नही वरन् प्राकृतिक इकाई की सीमाओं के अतिक्रमण म सम्पन्न होने वाला साम्य है। अत आरोप का अपूण तादात्म्य वाह्य रूप से कला की वास्तविक स्थिति के अधिक निकट है। समात्मभाव के द्वारा विभिन्न व्यक्ति कला की अभिव्यक्ति के रूपगत सौ दय और तत्वगत भाव दोनो का ही रसास्वादन करत हैं यद्यपि लोक के सामा य अनुभव तथा काव्य शास्त्र म भावगत रस को ही प्रधान माना जाता हैं।

भरत के रस सूत्र के तीसरे प्रसिद्ध व्याख्याता भटट नायक हैं। भट्ट नायक का सिद्धा त भोग' व्यापार की अपूव कल्पना के कारण मुक्तिवाद कहलाता है। काव्यशास्त्र मे साधारणीकरण भट्टनायक की मौलिक और महत्वपूण देन है। साधारणीकरण के द्वारा भट्टनायक ने रसास्वादन की समस्या को विशेषत दशक की दृष्टि से अधिक सतोषजनक रूप से सुलझाया है। इसम सदेह नहीं कि दशक की स्थिति को जितने स्पष्ट रूप से भट्टनायक ने अपने सामने रखा है उतने स्पष्ट रूप से उनके पूववर्ती आचाय नही रख सके। भट्टनायक के साधारणीकरण के सूत्र से ही अभिनव गुप्त अभि यक्तिवाद के मम तक पहुच सके। रस के आलोचन को दृष्टि को दशक पर केद्रिय करने का श्रेय काव्यशास्त्र के इतिहास में भट्टनायक को ही दिया जा सकता है।

भट्टनायक के पूव भट्ट लोल्लट और श्री शकुक ने इस बात का सकेत किया है कि आरोप अथवा अनुमान के द्वारा दशक नट के रूप म मूलपात्र की धारणा करते हैं। इसके साथ साथ वे नट मे मूलपात्र के रस की भी कल्पना करत हैं। इन दोनो आचार्यों के मत मे इस धारणा और कल्पना के फलस्वरूप दशक नाटक के रस का आस्वादन करते हैं। इन आचार्यों ने यह स्पष्ट नही किया कि मूलपात्रा के अथवा नट म स्थापित रस का आस्वादन दशक किस प्रकार करते ह्। एक व्यक्ति के रस का दूसरे व्यक्ति के द्वारा आस्वादन मनुष्य के अ तरजीवन का एक रहस्यमय और कठिन प्रश्न है। ये दानो आचाय इस रहस्य और कठिनाई की कल्पना नही कर सके, इसीलिए उ होने दशक के रसास्वादन की ऐसी सरल व्याख्या की है जो सतोषजनक न होने के साथ साथ अपूण भी है। भट्टनायक ने रसास्वादन की समस्या का अधिक गम्भीरता के साथ अवगाहन करन का प्रयत्न किया है। उ हाने इस समस्या की कुछ सूक्ष्म असगतियो को प्रथम बार काव्यशास्त्र मे उपस्थित किया है और साधारणीकरण के द्वारा उनका सुलझाने का अद्भुत प्रयत्न किया है।

भट्टनायक ने रसास्वादन के सम्ब ध मे एक अत्यन्त महत्वपूण प्रश्न औचित्य का उठाया है। प्रश्न यह है कि सीता, शकु तला आदि विषयक रतिभाव की नट मे कल्पना अथवा दशक में उसकी उद्भावना कहा तक उचित है। पहले तो भट्टनायक को श्री शकुक का अनुमितिवाद स्वीकार नही है। वे कहते हैं कि मूलपात्र के रस का नट से अनुमान अथवा इस अनुमान के द्वारा दशक म उसका अनुभावन सम्भव नही है। फिर इस अनुभान के सम्ब ध म उ्हे एक प्रबल आपत्ति है, जो औचित्य से सम्ब ध रहती है। उदाहरण के लिए सीता के प्रति राम की रति सगत है। कि तु नट अथवा दशक मे उस (सीता सम्ब धी) रति की कल्पना असगत ही नही पापपूण है। धमशास्त्र की भाषा म इस कल्पना मे अगम्या गमन का दोष है। सीता, शकु तला आदि की नट अथवा दशक की रति के आलम्बन के रूप म कल्पना निता त अनुचित है। स्वय नट और दशक इस अनौचित्य को स्वीकार करेंगे। धर्मानुरोध के कारण व अपने म इस रति की कल्पना करने का भी साहस नही कर सकते। यदि यह कल्पना असगत और अनुचित है तो श्री शकुक के अनुमितिवाद का आधार ही उच्छिन्न हो जाता है।

इस प्रकार श्री शंकुक के अनुमितिवाद का खण्डन करके भट्टनायक ने अपने भुक्तिवाद की स्थापना की है। भट्टनायक ने रस की व्याख्या नाटक के स्थान पर काव्य के आधार पर की है। नाटक में भी शब्द का प्रयोग होता है किन्तु उसमें अभिनय की प्रधानता रहती है। काव्य में शब्द की प्रधानता होती है। वह कला का वाङ्मय रूप है। भट्टनायक ने शब्द शक्ति के आधार पर काव्य के रसास्वादन की व्याख्या की है। अभिधा लक्षणा और व्यंजना के नाम से शब्द की तीन शक्तियां प्रसिद्ध हैं। भट्टनायक ने इनसे कुछ भिन्न शब्द शक्ति के तीन व्यापारों की कल्पना की है। शब्द के ये तीन व्यापार अभिधा, भावना और भोग हैं। अभिधा के द्वारा यथार्थ अर्थ का बोध होता है। यह शब्द शक्ति की प्रसिद्ध कल्पना में भी इसी रूप में मान्य है। किन्तु भट्टनायक द्वारा स्वीकृत शब्द के शेष दो व्यापार लक्षणा और व्यंजना से भिन्न हैं। लक्षणा और व्यंजना का सम्बन्ध अर्थ के अतिशय से है। भावना और भोग का सम्बन्ध भोग के विस्तार से है। अभिनव गुप्त ने ध्वनि के अन्तर्गत इनका अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया है। किन्तु वस्तुतः ये ध्वनि के पर्याय नहीं हैं। ध्वनि शब्द की शक्ति है। ऐसा प्रतीत होता है मानो ध्वनि के अन्तर्गत अर्थ का विस्तार केवल शब्द की शक्ति के द्वारा होता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस विस्तार की शक्ति अभिव्यक्ति के रूप में निहित रहती है यद्यपि विज्ञपाठक के सक्रिय सहयोग द्वारा ही यह अर्थ का विस्तार सम्पन्न होता है।

भट्टनायक ने भावना और भोग को लक्षणा और व्यंजना के समान शब्द की शक्ति के रूप में ही प्रस्तुत किया है। किन्तु वस्तुतः ये व्यापार पूर्णतः शब्द शक्ति के अन्तर्गत नहीं हैं। शब्दों में इन व्यापारों की शक्ति उस प्रकार निहित नहीं रहती जिस प्रकार कि उनमें लक्षणा और व्यंजना की शक्ति निहित रहती है। भावना और भोग शब्द शक्ति की अपेक्षा मनुष्य की इच्छा पर अधिक निर्भर करते हैं। इच्छा करने पर भी ये दुष्कर हैं। इसीलिए सम्भव होते हुए भी ये काव्य के रसास्वादन के सामान्य सिद्धान्त नहीं बन सकते। भट्टनायक ने इन्हें सब साधारण सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत किया है, यही उनके सीमित रूप में सत्य सिद्धान्त की असफलता है। भट्टनायक के साधारणीकरण को प्राचीन और अर्वाचीन सभी आचार्यों ने जो मान्यता दी है उसका कारण यह नहीं है कि वस्तुतः वह काव्यगत रस की समस्या का पूर्णतः सतोषजनक समाधान प्रस्तुत करता है

वरन् उसका एक कारण यह है कि दशक अथवा पाठक के रसास्वादन की जो समस्या का व्यशास्त्र के इतिहास म आरम्भ से खडी हुई, उसके सफल समाधान का माग आचार्यों का इसम दिखाई दिया। अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद की लोकप्रियता का भी यही कारण है कि तु वस्तुत ये दोनो सिद्धा त भ्रातिपूवक उठाई गइ रस सम्ब धी समस्याओ क भ्रातिपूण समाधान है।

इस भ्राति का मूल कारण रस के प्राकृतिक और सास्कृतिक रूपो का परस्पर अविवेक है। अस्तु, भट्टनायक की अभिमत 'भावना' साधारणीकरण का व्यापार है। साधारणीकरण का अथ यह है कि स्थायी भाव आलम्बन आदि जो विशेप व्यक्ति के सम्ब घ मे उपस्थित होते है उनके विशेप सम्ब धो का परिहार भावना व्यापार के द्वारा होता है तथा ये स्थायी भाव आलम्बन आदि अपने शुद्ध सामा य रूप म प्रतीत होते है। साधारणीकरण के द्वारा रामसीता अपने विशेप रूप मे न रहकर सब सामा य पति-पत्नी के रूप म प्रतीत होते हैं। एसी स्थिति मे उनके साथ दशक का तादात्म्य सम्भव होता है क्योकि साधारणीकरण के द्वारा अनौचित्य की बाधा हट जाती है। अत मूलपात्रो के अनुरूप ही दशक भी रस का आस्वादन कर सकत हैं। इतने पर भी रसास्वादन मे जो मूल कठिनाई थी वह बनी रहती है कि साधारणीकृत पात्रो के रस का आस्वादन दशक अथवा पाठक किस प्रकार करता है। अभिनव गुप्त ने दशक के स्थायी भाव की स्थापना करके उसके साधारणीकरण के द्वारा इस प्रश्न को हल करने का प्रबल प्रयत्न किया है। फिर भी भट्टनायक और अभिनव गुप्त के मत म अनेक असगतिया रह जाती हैं, जिनका विवरण हम अभी आगे करेंगे।

भट्टनायक द्वारा स्वीकृत श द का तीसरा व्यापार भोग है। भोग व्यापार के द्वारा साधारणीकृत विभाव आदि का सामाजिको (दशको) का रसास्वादन होने लगता है। साधारणीकरण के द्वारा विभाव आदि का विशेप रूप तिरोहित हो जाता है। अतएव दशक के लिए उनम परायेपन की जो बाधा होती है वह दूर हो जाती है और दशक का रसास्वादन सम्भव होता है। भोग का अथ है सत्व गुण के उद्रेक से प्रादुभू त प्रकाश रूप आन द का भान अथवा अनुभव (सत्वोद्रेक प्रकाशान द सविद्विश्रा ति) यह आन द का अनुभव किसी अ य बँध-विषय के सम्पक से रहित होता है। अतएव यह लौकिक सुख से विलक्षण है।

इस प्रकार भोग व्यापार के द्वारा अनुभूत काव्य का आनन्द अलौकिक है। भट्टनायक की व्याख्या के अनुसार काव्य के रस का अनुभव सामान्य के लोक में होता है। यह सामान्य का लोक सत्व के आलोक से प्रकाशित है। सत्व के उद्रेक से रजोगुण और तमोगुण अभिभूत हो जाते है तथा आत्मा का चैतन्य प्रकाशित होता है। इस आत्म चैतन्य के प्रकाश में विभाव आदि अपने सामान्य रूप में प्रकट होते हैं। तथा सामाजिक (दर्शक) जन आनन्द का अनुभव करते हैं। यही आनन्द काव्य का अलौकिक रस है। काव्य का यह अलौकिक रस ब्रह्मानन्द के अत्यन्त निकट है। दोनों में केवल यही अन्तर है कि काव्य के रस में विभाव आदि के अवच्छेद सामान्य रूप में वर्तमान रहते है। जबकि ब्रह्मानन्द पूर्णतः निरवच्छिन्न होता है।

भट्टनायक द्वारा प्रस्तुत भावना और भोग की कल्पना काव्य के रस की अत्यन्त चमत्कारी व्याख्या है। उसके चमत्कार से समस्त परवर्ती काव्य ऊपर कह चुके हैं कि भट्टनायक के साधारणीकरण का सम्मान उसके व्यापक सत्व के कारण नहीं वरन् इस तथ्य में है कि वह रस की समस्या में पात्र और दर्शक के अन्तराल पर सेतु बनाने में समर्थ हुआ। अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद में इस दुर्गम सेतु को काव्य के रस का राजमार्ग बना दिया है।

हमने ऊपर संकेत किया है कि भट्टनायक ने भावना और भोग को शब्द शक्ति का व्यापार माना है। किन्तु वस्तुतः ये केवल शब्द शक्ति के व्यापार नहीं हैं इन व्यापारों में लक्षणा और व्यंजना से भी अधिक मनुष्य का सक्रिय और सचेतन भावायोग अपेक्षित है। यह सत्य हो सकता है कि शब्दों में भी साधारणीकरण और सत्व के उत्कर्ष की सामर्थ्य विद्यमान हो किन्तु वह मनुष्य के सक्रिय भावयोग के बिना चरितार्थ नहीं होती। इसका स्वाभाविक निष्कर्ष यह होगा कि साधारणीकरण का व्यापार सम्भव होते हुए भी सर्वदा चरितार्थ न होगा। जिन पाठकों अथवा दर्शकों का पर्याप्त भाव योग होगा वे ही इसे चरितार्थ बनाने में सफल हो सकेंगे। भट्टनायक यहां पर यह कह सकते हैं कि वे ही दर्शक अथवा पाठक काव्य के अलौकिक रस के आस्वादन में भी समर्थ होंगे। यह मान लेने पर काव्य का रस अत्यन्त असाधारण हो जायगा। काव्य के रस का ऐसा अलौकिक रस भी सम्भव हो सकता है जो ब्रह्मानन्द के निकट हो।

आचार्यो ने उसे ब्राह्मन द का सहोदर माना है। किन्तु काव्य के रस का यह रूप अत्य त दुलभ है। इसी को काव्य का एकमात्र रस मान लेने पर सामा'य जनो के लिए काव्य नीरस और निष्प्रयाजन हो जायगा कि तु वस्तुत ऐसा नही। काव्य के अलौकिक रस मे समथन होते हुए भी साधारण जन काव्य का रसास्वादन के दो मुख्य भेद हो सकते है। उसका एक रूप प्राकृतिक है जिससे समस्त काव्यशास्त्र प्रभावित है। का य के रस का यह रूप रति आदि प्राकृतिक मनोभावो के द्वारा व्यक्ति के अधिष्ठान मे सम्प न होता है। काव्य के रस का दूसरा रूप सास्कृतिक है, जो व्यक्तियो के विभिन्न रूप समात्मभाव के द्वारा व्यक्तित्वो के सामजस्य मे विविध रूप मे सम्प'न होता है।

भटटनायक ने साधारणीकरण के द्वारा परम्परागत काव्यशास्त्र मे स्वीकृत रस के प्राकृतिक अधिष्ठानो और उपकरणो को सात्विक अलौकिक रस के क्षेत्र मे प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। कुछ विद्वानो ने साधारणीकरण को भोग की मधुमती भूमिका म स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इससे काव्य के रस की असाधारणता और अलौकिकता ही सिद्ध होती है। यह साधारणीकरण जनसाधारण द्वारा आस्वादित किय जाने वाले काव्य के रस की समुचित व्याख्या नही करता। यहा यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जन साधारण से हमारा अभिप्राय उन लोगो से नही है जो कि सास्कृतिक प्रसगा मे भी प्राकृतिक भावो से अभिभूत रहते है, वरन् हमारा अभिप्राय उन लोगा से है, जो कला और का'य में सास्कृतिक रस का अनुभव करते हैं। इस सास्कृतिक रस के आस्वादन मे सत्व का उत्कर्ष अवश्य रहता है। सत्व प्रकृति और आत्मा की सधि का क्षेत्र है। वह रजोगुण और तमोगुण के विकारो का अभिभव करता है। कि तु उनका उ'नयन कर आत्मभाव के साथ उनका सामजस्य भी करता है। सत्व का यह उत्कप और प्रभाव केवल शब्द की शक्ति द्वारा नही होता और न साधारणीकरण के द्वारा होता है। शब्द म इसकी शक्ति मानी जाती है किन्तु मुख्यत सत्व का उत्कप मनुष्य की भावना तथा साधना के द्वारा ही सम्भव होता है। एक प्रकार से काव्य के विभाव आदि का साधारणीकरण नही वरन् उनका सत्वानु रूप चित्रण इस उत्कप म अधिक सहायक हो सकता है। शब्द की सामा य शक्ति के द्वारा नही वरन् भावो के सत्वानु रूप चित्रण के द्वारा सत्व के सत्कप का लाभ अधिक लोग उठा सकत हैं।

श्री शकुक के अनुमान की भाति भट्टनायक के मुक्तिवाद म भी एक विलोम दिखाई देता है। भट्टनायक न भोग के सात्विक व्यापार को भावना के साधारणीकरण का फल माना है। किन्तु सत्य यह है कि साधारणीकरण सत्व के उद्रेक का फल है। व्यक्ति और विशेष के अवच्छेद रजोगुण पर अवलम्बित होते हैं। सत्व की भूमि म ये अवच्छेद विलीन हो जाते हैं और सभी विषय अपन सामा य रूप म प्रकाशित होते हैं। किन्तु यह शब्द की शक्ति क द्वारा नही वरन् साधना के द्वारा होता है। सत्व का उत्कर्ष सुलभ नही है। उसकी व्यक्तिगत साधना अत्यन्त दुष्कर है किन्तु समात्मभाव की सास्कृतिक स्थिति म सत्व की प्रधानता सहज सुलभ हो जाती है। किन्तु समात्मभाव की स्थिति म सत्व की प्रधानता रजोगुण आदि का उन्नयन और व्यक्तियो तथा उनके विशेष आलम्बनो का सामजस्य करती है, उनका निर्विशेष साधारणीकरण नही करती। निर्विशेष साधारणीकरण म सास्कृतिक भाव निष्फल हो जाते हैं। वह बौद्धिक व्यापार का क्षेत्र है। व्यक्तिगत साधना म जब सत्व का उत्कर्ष होता है बुद्धि विशेषो के भार स मुक्त होकर सामान्यो के सूक्ष्म लोक म विचरण करती है।

यह दार्शनिको, गणितज्ञो, वैज्ञानिको आदि का लोक है किन्तु यह काव्य का लोक नही है। कला और काव्य के क्षेत्र मे विशेष रूपो की प्रतिष्ठा होती है। ये विशेष रूप ही सौन्दर्य के उपकरण हैं। इन्ही के साथ सास्कृतिक समात्मभाव के द्वारा दर्शक और पाठक रस का आस्वादन करते हैं। साधारणीकरण द्वारा प्रस्तुत सामान्य प्रत्ययो के लोक मे भी मनीषियो को रस का अनुभव होता है। इसको बौद्धिक रस कह सकते हैं। इसकी सरसता सदिग्ध होने के कारण हमने इसका अधिक विवेचन नही किया है। सामान्यजनो के लिए यह रस बहुत दुर्लभ है। सामान्यजन बुद्धि के इन व्यापारो को शुष्क और नीरस भी मानते हैं। इस सबके अतिरिक्त काव्य के रसास्वादन के सम्बन्ध म एक साधारण सत्य यह है कि काव्य के उपकरणो का सामान्य पाठको के लिए साधारणीकरण नहीं होता। या मनुष्य के समस्त अनुभव म विशेषो के अन्तर्गत सामान्य का अन्तर्भाव रहता है किन्तु सामान्यतया हम सामान्यो से समवेत विशेषो का ही अनुभव होता है। शुद्ध सामान्यो का प्रत्यक्ष योगी ही कर सकते हैं। सामान्यजन नहीं। लोक के सामान्य ज्ञान का यह तथ्य काव्य के सम्बन्ध म भी सत्य है। काव्य के विशेष उपकरणो म भी सामान्य समवेत रहते हैं किन्तु काव्य का रसास्वादन

साधारणीकरण के व्यापार स इन विशेषो क परिहार द्वारा नही होता। इन विशेषो के विशेष रूप म ही कला और काव्य का सौदय निहित होता है। इन विशेष रूपो का सजन ही कलाकार की कुशलता है। इन्ही का अभिनय नट का कौशल है और सामाजिको के द्वारा इ ही विशेष रूपो का रसास्वादन कला तथा काव्य का उद्देश्य है। यह रसास्वादन साधारणीकरण व द्वारा नही, वरन् समात्मभाव के द्वारा होता है। साधारणीकरण और समात्मभाव का तुलनात्मक विवेचन हम आगे एक अध्याय मे करेंगे।

भरत के रस सूत्र के चौथे व्याख्याकर काव्यशास्त्र मे अतिशय अभिनदित आचाय अभिनव गुप्त हैं। सामाजिक के स्थायी भाव म साधारणीकरण का प्रयोग करके तथा विभाव आदि के उपकरणो के द्वारा रस के रूप म स्थायीभाव की अभिव्यक्ति के सिद्धा त करके अभिनव गुप्त रस मीमासा क अभर स काव्य-शास्त्र के उद्धारक सिद्ध हुए हैं। इसी अनुभुत चमत्कार क कारण अभिनव गुप्त काव्यशास्त्र म अतिशय अभिनन्दित हैं। वासना रूप म स्थित स्थायीभाव साधारणीकरण द्वारा रस म अभिव्यक्त होते हैं। यही अभिव्यक्तिवाद के सिद्धान्त का सार है। वासना रूप म स्थायी भावो की कल्पना और साधारणी-करण के कारण उनकी रस रूप की अभिव्यक्ति काव्यशास्त्र को अभिनव गुप्त की मौलिक देन है। स्थायीभावो का काव्यशास्त्र के आचाय अभिनवगुप्त से पहले भी मानते रहे थे, किन्तु सूक्ष्म वासना के रूप म उनकी कल्पना उन्होने नही की थी। अभिनव गुप्त का मत यह है कि दशक अथवा पाठक के रसास्वादन का मूल आधार स्थायीभाव है जो उसकी चेतना म अव्यक्त रूप से वतमान रहते हैं। काव्य अथवा नाटक मे प्रस्तुत विभाव आदि के सयोग से स्थायीभाव की रस के रूप म अभिव्यक्ति होती है। साधारणीकृत होकर काव्य के आलम्बन आदि पाठक के भी आलम्बन बन जाते हैं। साधारणीकरण के द्वारा स्थायी-भाव के उद्भूत होने पर पाठक अपने ही रस का आस्वादन करता है। भट्ट नायक के अनुसार यह साधारणीकरण भावना क व्यापार के द्वारा होता है।

अभिनव गुप्त ने व्यजना के विभावन व्यापार के अ तगतउसका समावश करने का प्रयत्न किया है। यह साधारणीकरण की प्रक्रिया का भेद है, जो अपने आप मे विचारणीय है। अभिनव गुप्त भरत और आनन्द वधन के

श्री शकुक के अनुमान की भांति भट्टनायक के विलोम दिखाई देता है। भट्टनायक ने भोग के सा' के साधारणीकरण का फल माना है। किन्तु सत्य यह सत्व के उद्रेक का फल है। व्यक्ति और विशेष के अ- न्वित होते हैं। सत्व की भूमि म ये अवच्छेद विलं विषय अपने सामा य रूप म प्रकाशित होते हैं। कि द्वारा नही वरन् साधना के द्वारा होता है। सत्व उसकी व्यक्तिगत साधना अत्यन्त दुष्कर है किन्तु समा मे सत्व की प्रधानता सहज सुलभ हो जाती है। कि म सत्व की प्रधानता रजोगुण आदि का उन्नयन औ- आलम्बनो का सामजस्य करती है उनका निर्विशेष निर्विशेष साधारणीकरण मे सास्कृतिक भाव निष्क व्यापार का क्षेत्र है। व्यक्तिगत साधना मे जब स विशेषा के भार स मुक्त होकर सामा यो के सूक्ष्म ल

यह दार्शनिको, गणितज्ञो, वैज्ञानिको आदि । लोक नही है। कला और काव्य के क्षेत्र म विशे ये विशेष रूप ही सौ दय के उपकरण है। इ ही । के द्वारा दर्शक और पाठक रस का आस्वादन करत प्रस्तुत सामा य प्रत्ययो के लोक मे भी मनीषियो इसका बौद्धिक रस कह सकते है। इसकी सरसत इसका अधिक विवेचन नही किया है। सामान्यज दुलभ है। सामा यजन बुद्धि के इन व्यापारों व हैं। इस सबके अतिरिक्त काव्य के रसास्वादन के यह है कि काव्य के उपकरणो का सामा य पाठको क होता। या मनुष्य के समस्त अनुभव म विशेषो के । भाव रहता है कि तु सामा यतया हम सामान्या से सम होता है। शुद्ध सामा यो का प्रत्यक्ष योगी ही कर सव लोक के सामा य ज्ञान का यह तथ्य काव्य के सम्बन्ध म के विशेष उपकरणो मे भी सामा य समवेत रहते हैं कि तु

व्याख्याकार थे। अतः उनका रस और ध्वनि को मानना स्वाभ
आगे एक अध्याय मे साधारणीकरण के प्रसग मे हम उसकी प्रक्रिया का
चन करेंगे। अभिनव गुप्त के सिद्धान्त के सम्बन्ध में यहां इतना
अपेक्षित है कि उन्होंने दर्शक को रस का आश्रय बना कर भरत
भटकती हुई रस मीमांसा को एक सीधा मार्ग दिखाया, यद्यपि वह
पूर्णतः सत्य नहीं है। मूलपात्र और नट के दृष्टिकोण से जो रस
रही थी वह सामाजिक को उचित महत्व नहीं दे पा रही थी। अभिन
सामाजिक को प्रमुखता दी तो साधारणीकरण के द्वारा पात्र आलम्ब
विशेष रूप का महत्व हर लिया। अभिनव गुप्त के मत मे सामाजिक
रस का अनुभव करता है। अतः मूलपात्रो के रस का महत्व कम हो
कवि की स्थिति को देखने पर यह समस्या बहुत जटिल हो जाती है
अपने काव्य के रस का किस रूप मे आस्वादन करता है यह एक पृथ
किन्तु सामाजिक और उसके रसास्वादन का प्रश्न कवि के सामने प्रत्य
नही रहता। कवि की भावना सामाजिक पर नहीं वरन् काव्य
पर केन्द्रित रहती है। किसी भी रूप मे सही किन्तु कवि
म पात्रो के रस का सन्निधान करता है। अतः काव्य मे पा
अनुभूत रस की उपेक्षा करना भी उचित नहीं है। अभिनव गुप्त इस
अपराधी हैं। इसके अतिरिक्त उनके रस सिद्धान्त मे उस प्रतिकृतिवा
प्रमाण है जिसका अनुरोध हम काव्य शास्त्र मे आरम्भ से देखते
वस्तुतः अभिनव गुप्त ने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्र के अनिश्चित प्रकृतिवाद
निश्चित आधार दिया है। साधारणीकरण का अवलम्ब उन्होंने कवि
के आलम्बन आदि बनाने के लिए किया है।

इस प्रकार साधारणीकरण के द्वारा काव्य के आलम्बन आदि स्था
भाव के रस रूप मे परिपाक के साधन बन जाते हैं और सामाजिक
स्वादन सिद्ध हो जाता है, किन्तु यहां यह विचारणीय है कि अभिनव
मत मे सामाजिक का रसास्वादन ही काव्य का मुख्य प्रयोजन बन जाता
काव्य का सृजनात्मक सौन्दर्य तथा कवि द्वारा काव्य मे समाहित रस

काव्यशास्त्र के अतिम महान आचाय पण्डिराज जगन्नाथ माने जाते हैं। उन्होने रस के सम्ब ध मे एक अत्य त मौलिक सिद्धा त उपस्थित किया है तथा साथ ही साधारणी करण का खण्डन भी किया है। यह मौलिक रस सिद्धा त सामाजिक जीवन म क्रातिकारी चरण रखने वाल साहसी और मधावी पण्डितराज की प्रतिभा के अनुरुप है भरत के समय से चली आने वाली रस सम्ब ध प्राकृतिक परम्परा के विपरीत पण्डितराज न काव्य के रस की व्याख्या के लिए उपनिषदो के रसो वै स' का स्मरण किया है। 'स' का अभिप्राय आत्मा से है। उपनिषदो के अनुसार आत्मा आन दमय है। वह रस स्वरूप है। काव्यशास्त्र के रस का आधार भी वह आत्मा ही है यद्यपि अध्यात्म और काव्य के आन द मे कुछ अ तर अवश्य है। पण्डितराज के अनुसार रति आदि से अवच्छिन्न भग्नावणाचित् हो रस है (रत्यादि अवच्छिन्ना भग्नावर्णाचिदव रस) रति आदि का अवच्छेद ही आत्मा और काव्य के रस मे भेदक है। आत्मा के शुद्ध रस म काइ अवच्छेद नही होता। वह पूण रूप मे निरवच्छि न होता है। काव्य का रस भी चि मय अवश्य है कि तु वह रति आदि स्थायीभाव तथा आलम्बन आदि से अवच्छि न रहता है। इन अवच्छेदकों के रहत हुए भी काव्य का रस आन दमय रहता है। पण्डितराज के मत म इसका कारण चेतना के आवरण का भग्न हो जाना है। चेतना का यह आवरण अज्ञान रूप है। पण्डितराज ने इस आवरण के स्वरूप तथा इसके भग होने की प्रक्रिया के सम्ब ध मे अधिक विवेचन नही किया है। कि तु यह भारतीय दशन का परिचित विषय है। रजोगुण और तमोगुण के प्रभाव से अज्ञान उत्प न होता है और वह चेतना का आवरण बनता है।

सत्व गुण के उत्कष से यह आवरण भग होता है। सत्व का उत्कष आन द को उचित करता है। यह योग और वेदा त का एक सरल सत्य है। भट्ट नायन ने भी सत्व के उत्कष को आन द का कारण बताया है। कि तु दोनो ही आचार्यों ने यह नही बताया कि सत्व का उत्कष काव्य के द्वारा किस प्रकार होता है। भट्ट नायन ने सत्व के उत्कष को भावना का फल कहा है। कि तु वस्तुत सत्य इसके विपरीत है। सत्व का उत्कष भावना के साधारणीकरण का फल नही, वरन् उसका कारण है। सत्व का उत्कष शब्द की शक्ति से नही वरन् साधना की महिमा से होता है। पण्डितराज जग नाथ रति आदि को काव्य के

आनन्द का अवच्छेदक मानते हैं यह उनकी क्रान्तिकारी प्रतिभा पर काव्यशास्त्र की परम्परा के प्रभाव का परिणाम है। भारतीय दर्शन के साधारण ज्ञान से भी यह स्पष्ट हो सकता है कि रति, क्रोध, भय आदि भावों से अवच्छिन्न रहने पर आत्मा के आनन्द का आविष्करण नहीं हो सकता। काव्यशास्त्र में स्वीकृत स्थायीभाव दर्शन की दृष्टि से अज्ञान मूलक हैं।

इनका अवच्छेदक रहने पर अज्ञान का आवरण भग नहीं हो सकता और चेतना में आनन्द का स्फुरण नहीं हो सकता। यह सत्य है कि काव्य का आनन्द ब्रह्मानन्द से अभिन्न नहीं है। कला और काव्य में विशेष रूपों की सृष्टि की जाती है। इन विशेष रूपों से अवच्छिन्न आनन्द ही काव्य का विशेष आनन्द होगा। इन रूपों के अवच्छेदक ही ब्रह्मानन्द से उसका भेद कर सकेंगे। किन्तु ये अवच्छेदक रति आदि के रूप में स्वीकृति स्थायीभाव नहीं हो सकते जो अज्ञान मूलक तथा सत्व के उत्कर्ष के प्रतिकूल हैं। इसके लिए हम सत्व के अनुकूल अन्य अवच्छेदकों की कल्पना करनी होगी। एक अगले अध्याय में हम इन अवच्छेदकों का विवरण करेंगे। पण्डितराज के मत में 'चित्रवरस' अतः सत्य है। आवरण भग की कल्पना भी कदाचित सगत है। क्योंकि रजस और तमस का प्रमुत्व रहने पर वह समात्मभाव सम्भव नहीं हो सकता जिसे हमने काव्य के आनन्द का मूल माना है। किन्तु रजोगुण मूलक अवच्छेदकों से आत्मानन्द और काव्यानन्द दोनों की सगति नहीं हो सकती। जीवन और काव्य के वास्तविक रस का आभास पाकर भी परम्परागत काव्यशास्त्र के प्रकृतिवाद प्रभाव के कारण पण्डितराज जगन्नाथ काव्य रस की समुचित व्याख्या बिना इस अनौचित्य का आभास नहीं हो सकता। सत्व ज्ञान में इस दोष दर्शन का साक्षी है। इस अनौचित्य को न देखना और रजस के प्रभाव का सूचक है। अतः यह दोष दर्शन के अज्ञानावरण के भग का कारण हो सकता है।

इस प्रकार दोष की कल्पना पण्डितराज के रस सिद्धान्त के साथ सगति हो सकती है। यदि यह सगति उनके सिद्धान्त के अनुकूल है तो निस्सदेह साधारणीकरण की शब्दगत शक्ति नहीं वरन् सामाजिक के सत्व का प्रभाव काव्य के रसास्वादन की मूल प्रेरणा है। किन्तु सत्व का यह प्रभाव रति क्रोध आदि के प्राकृतिक

ग्रौर राजस अवच्छेदकों के साथ सगत नहीं हैं। अत सत्व के अनुरूप काव्य रस के अवच्छेदको की कल्पना करनी होगी। परम्परा के प्रभाव के कारण पण्डित-राज स्वीकृत स्थायीभावा का त्याग न कर सके। दोषदर्शन के बाद भी पात्रो के साथ अभेद की कल्पना भी परम्परा का वह प्रभाव है जो उनके सिद्धान्त के विपरीत है। साधारणीकरण अथवा चिदावरण भग की सत्व प्रधान स्थितियो मे भी रति आदि के राजस अवच्छेदको की स्वीकृति करना आश्चर्यजनक है। तादात्म्य का आग्रह भी प्रकृति के अनुरोध का परिणाम है।

वस्तुत काव्य के रस का आस्वादन तादात्म्य के रूप मे नही वरन् समात्म भाव के रूप मे होता है। यह समात्मभाव व्यक्तियो के स्वरूप का तादात्म्य नही वरन् उनके भाव का सामजस्य है। जो विविध रूपो मे होता है। इस समात्मभाव म प्रकृति के राजस् और तामस अनुरोध मन्द हो जाते है। अथवा सत्व उत्कर्ष के द्वारा उनका उन्नयन हो जाता है तथा आत्मा का उदार और आनन्दमय रूप विभासित होता है। काव्य के रस की यह धारणा पण्डितराज के 'चिदेव रस' का समर्थन करती है। किन्तु काव्य के रस म प्रकाशित यह चित न अध्यात्म की अनवच्छिन्न आत्मा है और न रति आदि राजस भावो से अवच्छिन्न चेतना हैं। काव्य के रस म प्रकाशित होने वाली चित के अवच्छेदक सत्व और समात्मभाव के अनुरूप होगे। समात्मभाव इस दृष्टि स एक सात्विक भाव है कि अहकार आदि के रज प्रधान अवच्छेदक अपने कठोर रूप म उसम स्थान नही पा सकते। सत्व के साम्य और समात्मभाव की उदारता के साथ काव्य क रस के सभी अवच्छेदको का सामजस्य आवश्यक है।

प्रस्तुत अध्याय म ऊपर के विवरण मे हमने काव्य शास्त्र की परम्परा मे प्राप्त प्रमुख रस सिद्धान्तो का सक्षिप्त किन्तु सूक्ष्म विवेचन किया है। ऐतिहासिक क्रम मे होने के कारण इस विवेचन मे विभिन्न रस सिद्धान्तो का विवरण पृथक पृथक किया है। इन सिद्धान्तों की अल्प आलोचना भी हमने यथास्थान दी है। किन्तु ऐतिहासिक विवेचन म सामान्य और सश्लिष्ट आलोचना सम्भव नही हो सकती। अत इस अध्याय के उपसहार मे हम काव्यशास्त्र के रस सम्बन्धी सिद्धान्तो का एकत्र आलोचन करेंगे। इस सामान्य और सश्लिष्ट आलोचना में हमारा उद्देश्य रस सिद्धान्तो के सामान्य तत्व और उनका सामान्य

भार्तियों का अनावरण करना है। इस अध्याय के प्रारम्भ में ही हमने यह बताया है कि किस प्रकार नाटक की परिस्थिति और उसकी अपेक्षाओं से प्रभावित भरत के रस सिद्धान्त में प्रकृति के अनुरोध की प्रधानता है। प्रकृति के इसी अनुरोध की प्रधानता के कारण रति, क्रोध भय आदि क राज से स्थायी भाव काव्यगत रस के मूल आधार बने। जीवन के प्राकृतिक दृष्टिकोण से ये स्थायी भाव प्रभावशाली होते हैं, यह सभी को स्वीकार होगा। किन्तु ये मनुष्य के प्राकृतिक भाव हैं सांस्कृतिक भाव नहीं। काव्य की रचना और उसका आस्वादन पूर्णत प्राकृतिक नहीं है। प्रकृति के भाव भी काव्य क उपकरण बन सकते है। कुछ प्राकृतिक भाव भी रस मय होते हैं। रति इनका उदाहरण है। किन्तु भय क्रोध, जुगुप्सा आदि प्राकृतिकभाव साक्षात जीवन म भी रसमय नहीं होते। व्यक्तित्व का सकोच करने के कारण व रस के विपरीत हैं। रस का स्रोत व्यक्तित्व की उदार भूमि पर प्रवाहित होता है।

अत सभी स्वीकृत स्थायीभाव प्राकृतिक जीवन म भी रस के आधार नहीं हैं। काव्य के उपकरण बन कर व किस प्रकार रस के कारण बन सकते हैं यह एक विचारणीय प्रश्न है। हमने पिछले अध्याय म अपने रस सिद्धान्त के विवरण के प्रसग मे बताया है कि काव्य का स्वरूपगत रस समात्मभाव क साथ काव्य क रूपगत सौ दय के सामजस्य स प्रसूत होता है। काव्य के इस स्वरूपगत सौ दय का उपकरण जीवन का कोई भी तत्व और भाव बन सकता है। इस प्रकार जीवन के नीरस कटु बीभत्स और अप्रिय तत्व भी काव्य के उपकरण तथा काव्य के स्वरूपगत रस के अवलम्ब बन सकते है। किन्तु यहाँ स्मरण रखना आवश्यक है कि यह काव्य क रूपगत सौ दय का ही रस होता उसके भावगत तत्व का रस नहीं। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य के इस स्वरूपगत रस का प्रतिपादन नहीं किया। काव्य के इस स्वरूपगत रस का आस्वादन वही कर सकते हैं, जो उनके सौ दय से अवगत ह और उसे ग्रहण करने मे समर्थ है। साधारण जन इस सौ दय स अवगत नहीं होने, अत रसास्वादन के सम्बन्ध म उनका दृष्टिकोण भाव प्रधान ही होता है। जनसाधारण के इस भावगत दृष्टिकोण म प्रकृति की ही प्रधानता रहता है। नाट्कीय स्थिति म प्रकृति का यह प्रमुत्व किस प्रकार प्रबल होता है इसका विश्लेषण हमने इ

अध्याय के प्रारम्भ मे भरत के आदि रस सूत्र की अवतारणा के समय किया है।

इन प्राकृतिक भावा म रति के समान सरस भाव सभी को प्रिय होते है काव्य के उपकरण बन कर ये भाव काव्य को सरस बनाते हैं। किन्तु इन भावा से प्राप्त होने वाला रस काव्य के स्वरूपगत रस से भिन्न है। इन भावा का रस साक्षात जीवन के अनुरूप है। इन भावा का काव्यगत रस जीवन से अभिन्न है। किन्तु काव्य मे स्वीकृत स्थायी भावो मे भय, क्रोध आदि अनेक अप्रिय भावों का समावेश है। ये जीवन के साक्षात् अनुभव मे रसमय नही होते फिर ये काव्य मे किस प्रकार रसमय बन जाते हैं। इसकी सन्तोषजनक व्याख्या काव्य शास्त्र मे नही मिलती है। काव्य के स्वरूपगत रस के सौन्दय का सकेत किसी आचाय ने नही किया है। इस सौन्दय के उपकरण बन कर य अप्रिय भाव भी रसमय बन सकत हैं। किन्तु काव्यशास्त्र मे इसकी व्याख्या इस प्रकार नहीं की गई है। दूसरी ओर अप्रिय भावों का भेद भी नही किया गया है। सभी स्थायी भावो को एक ही कोटि म रख कर उन्ह रस का आधार माना गया है। यह सौन्दय के स्वरूपगत रस के सिद्धान्त द्वारा ही सम्भव हो सकता है। किन्तु इस रस का आचार्यों को आभास नही है। उनकी दृष्टि जीवन के प्राकृतिक रस पर ही रही किन्तु आश्चय की बात है फिर भी उन्होन प्राकृतिक भावो मे प्रिय और अप्रिय का भेद नहीं किया। किन्तु काव्य का इतिहास सभी भावा की समानता को खण्डित करता है। नाटकों और काव्यो मे रौद्र, वीभत्स भयानक आदि का वणन बहुत कम मिलता है। काव्य के शृगार, वीर और करुण की ही प्रधानता है।

उनमे शृगार सबसे अधिक प्रेरक होता है। इनमे करुण की महिमा का विवरण हम आगे किसी अध्याय म करेंगे। शृगार और वीर का आकषण स्वाभाविक और प्राकृतिक है। ये तीनो ही रस सांस्कृतिक भाव के फल भी बन सकते हैं। किन्तु जीवन और काव्य दोनो मे सास्कृतिक भाव की ओर आचार्यों की दृष्टि कम रही उनके दृष्टिकोण मे प्रवृत्ति के अनुरोध को ही प्रधानता है इसीलिए लक्षण व्यजना तथा अलकारा के उदाहरणो मे भी काव्य-शास्त्र म शृगार की भरमार है, जो आवश्यक नही। इनके उदाहरण किसी भी रस के द्वारा दिये जा सकते हैं।

काव्यशास्त्र की परम्परा में प्रकृति के अनुरोध की प्रधानता और सांस्कृतिक भाव की अवहेलना का ऐतिहासिक कारण नाटक की प्रकृति प्रधान परिस्थिति और उसके अनुरूप भरत के द्वारा रस सूत्र की रचना है। इसका एक अन्य मौलिक कारण पुरुष स्वभाव प्रकृति की प्रधानता है। नाटक की स्थिति और भरत के रस सूत्र के तत्व तथा उसकी व्याख्याओं का विवरण हमने इस अध्याय में आरम्भ से अन्त तक किया है। पुरुष के स्वभाव के सम्बन्ध में कुछ कहना शेष किन्तु शकामय है। भारतीय संस्कृति की सजीव परम्परा के पर्यालोचन से विदित होगा कि सांस्कृतिक परम्पराओं का निर्वाह प्रधानतः स्त्रियाँ ही अपने औदार्य से करती रही हैं। पुरुष उन परम्पराओं के सम्बन्ध में बहुत उदासीन और निष्क्रिय रहा है। इस कारण पुरुष में अहंकार आदि प्राकृतिक तत्वों की प्रधानता है। समात्मभाव की भावना स्त्रियों में अधिक होती है। इसी के द्वारा वे संस्कृति का निर्वाह और सरक्षण करती रही है। इस समात्मभाव का बीज उनके मातृधर्म में है। मातृधर्म के पालन और संस्कृति के निर्वाह में संलग्न रहने के कारण ही स्त्रियाँ शास्त्रों और काव्यों की रचना का अवकाश न पा सकीं। काव्य और काव्यशास्त्र के प्रणेता सभी पुरुष हैं। प्रकृति और अहंकार का अनुरोध उनकी इन रचनाओं में विपुलता से मिलता है।

वाल्मीकि, कालिदास, प्रसाद, रवीन्द्र आदि कुछ कवियों में ही सांस्कृतिक भाव के उत्स प्रकट हुए हैं। किन्तु काव्यशास्त्रों के प्रणेता आचार्य ऐसे कवि नहीं थे। अतः उनके दृष्टिकोण में प्रकृति का अनुरोध और भी अधिक रहा। आरम्भ के प्राकृतिक दृष्टिकोण का विस्तार ही काव्यशास्त्र के इतिहास में हुआ। रति आदि स्थायी भावों का सभी आचार्यों के द्वारा स्वीकरण और उन्हीं के आधार पर रस की असंगत व्याख्या इसका प्रमाण हैं। व्यक्ति की इकाई और आदान की प्रधानता प्रकृति का प्रमुख लक्षण है। प्रकृति का रस सुख का पर्याय है। प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ सुख से प्रेरित होती है। प्रकृति का यह रस व्यक्ति की इकाई में चरितार्थ होता हैं। काव्यशास्त्र में व्यक्तिगत इकाई के रूप में रस के आश्रय की कल्पना इसी प्राकृतिक दृष्टिकोण के अनुरूप है। काव्यशास्त्र की रस मीमांसा में व्यक्ति की इकाई का अनुरोध ही रस की व्याख्या में कठिनाइयों का मूल रहा। मूलपात्रों के रस का अनुभव नट अथवा सामाजिक किस प्रकार करते हैं यही प्रश्न काव्यशास्त्र में मुख्य रहा। इस कठिनाई का

कोई स तोपजनक निवारण इसलिए नही हो सका कि इनको सुलझाने का प्रयत्न करने वाले आचाय भी प्राकृतिक व्यक्तिवाद को मानते रहे। भट्ट नायक के साधारणीकरण और अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद मे रस मीमासा को कुछ सुलझाव का माग दिखाया किन्तु अ तिम परिणाम मे काव्यशास्त्र का रस सिद्धा त अपनी प्रारम्भिक स्थिति मे ही रहा, जिसमे व्यक्ति अपनी इकाई मे रस का स्वाथमय आस्वादन करता है। अभिव्यक्तिवाद केवल यही सिद्ध कर सका कि काव्य के साधारणीकृत आलम्बन आदि सामाजिक व्यक्ति के स्वगत स्थायी भावो का उद्भावन करते हैं और वह अपने ही रस का आस्वादन करता है। ऐसी स्थिति मे सामाजिक का व्यक्तिगत रसास्वादन का य का लक्ष्य बन जाता है और काव्य का मौलिक सौ दय और महत्व नष्ट हो जाता है। काव्य की इस निष्फलता और काव्यशास्त्र की इस विडम्बना का मूल कारण प्राकृतिक व्यक्तिवाद का ही आग्रह है।

हमारे मत मे काव्य एक सास्कृतिक रचना है। समात्मभाव का सास्कृतिक भाव इसकी मूल प्रेरणा है। रूप के अतिशय का सौ दय काव्य का विशेष लक्षण है। इस सौ दय के साथ कवि के समात्मभाव के सामजस्य के द्वारा काव्य की रचना होती है। सामाजिक इस सौ दय के साथ साम्य के द्वारा काव्य के स्वरूपगत रस का आस्वादन करते है। जीवन क सभी भाव इस सौ दय के उपकरण और काव्य के स्वरूपगत रस के आलम्बन बन सकते हैं। य भाव अनेक प्रकार के होते हैं। हमने इनके तीन विभाजन किये है—प्राकृतिक आध्यात्मिक और सास्कृतिक। सास्कृतिक और आध्यात्मिक भाव सभी रस म य होते है। आत्मा और सस्कृति का स्वरूप ही सु दर और सरस हैं। प्राकृतिक भाव सभी रसमय नही होते। रति आदि रसमय होते हैं किन्तु क्रोध, भय आदि रसमय नही होते। किन्तु ये सभी भाव काव्य के उपकरण बन सकत हैं। भय आदि भावो से युक्त काव्य मे केवल रूपगत रस होता है, तत्वगत रस नही होता। कि तु अ य सरस भावो से अ वित काव्य मे रूप और तत्व का द्विगुणित रस रहता हैं। काव्य के रूप और भाव के रस मे अ य अनेक प्रकार की जटिलतायें मिलकर उसे सघन बनाती है। इसका कुछ दिग्दशन हमने पिछले दो अध्यायो मे किया है। काव्यशास्त्र के परम्परागत रस सिद्धा त के सम्ब ध मे अ त मे इतना हम अभीष्ट है कि काव्य के स्वरूपगत सौ दय के रस

तथा जीवन के सांस्कृतिक रस की स्पष्ट कल्पना किसी आचार्य ने नहीं की। जीवन के प्राकृतिक भाव ही काव्य के नवरस के आधार हैं। प्रकृति के अनुरोध के कारण वे व्यक्ति की इकाई को रस का आश्रय मानते रहे। इसीलिए रस की व्याख्या में अनेक कठिनाइयां उपस्थित हुई जो साधारणीकरण और अभिव्यक्तिवाद रस के बहुमान्य सिद्धान्त है। वे वस्तुतः काव्य रस की सन्तोषजनक व्याख्यायें नहीं हैं।

इनकी निष्फलता का दिग्दर्शन हम ऊपर कर चुके हैं। वस्तुतः काव्य का रस व्यक्ति की इकाई मे सम्पन्न नहीं होता वरन् व्यक्तियों के समात्मभाव मे सम्पन्न होता है। यह समात्मभाव साक्षात् और काल्पनिक दोनों रूपों में संस्कृति तथा काव्य का आधार बनता है। किस प्रकार इसकी अनेक कोटियां काव्य के रस को जटिल और सघन बनाती हैं इसका दिग्दर्शन हम पिछले अध्याय मे कर चुके हैं। हमारे मत में यह समात्मभाव संस्कृति और काव्य के सौंदर्य एवं रस की सबसे अधिक समीचीन व्याख्या है। व्यक्ति की इकाई को रस का पात्र मानने के कारण रस की व्याख्या में जो विडम्बना मे उत्पन्न होती है, उनकी अत्यन्त संगत और संतोषजनक व्याख्या इस समात्मभाव के द्वारा हो सकती है। अगले अध्याय में हम रस के पात्रों के विवेचन के प्रसंग में इन विडम्बनाओं और समात्मभाव के द्वारा इनकी व्याख्या का विवरण करेंगे।

—o—

अध्याय–८

रस के पात्र

पिछले अध्याय मे हमने काव्यशास्त्र के इतिहास मे विकसित होने वाले रस सिद्धान्तो की जो पर्यालोचन दिया है उसमे स्पष्ट रूप से यह प्रकट होता है कि आचार्यों के सामने मुख्य समस्या रस के पात्रो को लेकर रही। पात्र का अर्थ आश्रय है जो रस की अनुभूति का अनुभावक कहा जा सकता है। रस के सम्बन्ध म पात्र का प्रश्न अत्यन्त समीचीन है। रस एक चेतन अनुभव है। चेतना किसी व्यक्ति म ही रहती है। अत रस के पात्र इस सचेतन व्यक्ति का निर्णय काव्य तथा नाटक के सम्बन्ध म आवश्यक है। किन्तु इनमे अनेक व्यक्तियो का अनेक विध सम्बन्धो मे सगम होता है। अत रस और पात्र की समस्या जटिल हो जाती है। यह निर्णय कठिन होता है कि इनमे किस व्यक्ति को किस रूप म रस का पात्र मानें। इसी जटिलता के कारण काव्यशास्त्र के आचार्य रस की समस्या मे उलझे रहे। रस का पात्र कौन है और वह किस प्रकार रस का आस्वादन करता है इस सम्बन्ध म विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। इन मत का उद्देश्य यही निर्णय करना था कि रस का पात्र कौन है और वह किस प्रकार रस का अनुभव करता है। प्राचीन आचार्यों के मौलिक मत उनकी प्रतिभा के द्योतक हैं। स्वय आचार्यों ने नव नव उन्मेष शालिनी 'प्रज्ञा' को प्रतिभा का नाम दिया है (प्रज्ञा नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा मता)। नवीन सिद्धान्तो का प्रतिपादन प्रज्ञा के अभिनव उन्मेष के द्वारा ही होता है। ऐसे अभिनव सिद्धान्तो का श्रेय मानवीय चिन्तन के इतिहास मे विरले ही मनीषियों को मिलता है। मौलिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन युग की विरल विभूतिया करती हैं। अन्य मनीषी उनके सिद्धान्तो की व्याख्या और उनका विस्तार करते हैं। यह काय भी कम महत्वपूर्ण नही, किन्तु मानवीय चिन्तन के स्तम्भ मौलिक सिद्धान्त ही बनते हैं। ये ही विचार के इतिहास के सूत्र हैं। व्याख्याकार इन स्तम्भों के आधार पर चिन्तन के भव्य भवन का निर्माण करते है।

अर्थात् उसे साकार और सुंदर रूप देते हैं। वे इन सूत्रों के आधार पर विविध प्रकार के पटों का निर्माण करते हैं जो सभ्यता के रक्षक तथा संस्कृति के अलंकार बनते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में भरत, भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनायक, अभिनव गुप्त, पण्डितराज जगन्नाथ आदि तथा भामह, वामन, दण्डी, कुंतक क्षेमेंद्र, आनंदवर्धन आदि ऐसे ही मौलिक सिद्धांतकार हुए हैं। उन्होंने रस और काव्य के सम्बंध में मौलिक सिद्धांत स्थापित किए हैं। इन्हीं सिद्धांतों से काव्य शास्त्र का इतिहास निर्मित है। इन आचार्यों की प्रतिभा से ही भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा का पथ आलोकित है। इन आचार्यों ने काव्य और रस के सम्बंध में जो सिद्धांत प्रतिपादित किए हैं वे मौलिक और महत्वपूर्ण हैं। इन सिद्धांतों में अनेक ऐसे तत्व हैं जिनमें काव्य सम्बंधी असंदिग्ध सत्य निहित हैं। अतएव ये सिद्धांत चिरकाल से मान्य हैं, और चिरकाल तक मान्य रहेंगे। यदि इन आचार्यों के सिद्धांतों में कुछ ऐसे अंश हैं, जिनका अन्य आचार्यों ने खण्डन किया है तथा जो काव्य और रस की समस्याओं का संतोषजनक समाधान नहीं कर सके हैं तो उनकी यह असफलता इसी बात की द्योतक है कि किसी भी शास्त्र की समस्याओं का पूर्ण और संतोषजनक समाधान अत्यंत कठिन है। यदि इन आचार्यों की उज्ज्वल प्रतिभा भी उन तत्वों की कल्पना नहीं कर सकी, जिनका प्रकाशन अन्य आचार्यों ने किया है तो इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि प्रतिभा का विकास मनुष्य जाति की विचार परम्परा में क्रमशः होता है। यदि नवीन आचार्यों ने कुछ नवीन सिद्धांतों का उद्घाटन किया है तो दूसरी ओर उनकी प्रतिभा का पंथ प्रकाशित करने का श्रेय पूर्व आचार्यों को है इसीलिए भारतीय विद्या की परम्परा में सदा पूर्वाचार्यों का आदर होता रहा है।

हमने रस सिद्धांत के पर्यालोचन के प्रसंग में प्राचीन आचार्यों के सिद्धांतों का जो खण्डन किया है उसमें हमारा उद्देश्य उनका अनादर करना नहीं है। शास्त्रों की मीमांसा में जो सिद्धांत खण्डन के आधार बनते हैं वे वस्तुतः शास्त्र के शिखर की ओर आरोहण के सोपान पीठ हैं। इन सोपानों के निर्माता पूर्व सोपानों के आधार के बिना ऊपर के सोपानों का निर्माण किसी भी मनीषी की प्रतिभा नहीं कर सकती। यह इन पूर्व सोपान सिद्धांतों का दोष नहीं, वरन् यह इनकी महिमा है कि ये अपने को आच्छादित करके उत्तर सोपानों को उत्कर्ष

का अवसर देते हैं। पूर्व सोपानों की भांति पूर्व आचार्यों के सिद्धान्तों में एक असंदिग्ध अनवद्य और अनाच्छादित तत्व रहता है। उत्तर सोपानों के अनवद्य और अनाच्छाद्य तत्वों से मिलकर शास्त्र के सिद्धान्तों की वह सोपान परम्परा बनती है जो जिज्ञासुओं को शास्त्र प्रासाद के शिखर तक पहुंचाती है।

सोपान निर्माण की भांति शास्त्र निर्माण की प्रणाली की यह सीमा है कि एक ही सोपान शिखर तक नहीं पहुंच सकता। इसी प्रकार किसी भी प्राचीन सिद्धान्त का किसी भी शास्त्र की अन्तिम व्याख्या बनना कठिन है। पूर्व सिद्धान्तों में कुछ असंदिग्ध और अनवद्य सत्य का अंश हो जो वह शास्त्र की सोपान परम्परा के निर्माण में योग दे सके, इतना ही आचार्यों की अमरता के लिए पर्याप्त है। मानवीय प्रतिभा की अपूर्णता के कारण पूर्व आचार्यों के सिद्धान्तों के कुछ अंश संदिग्ध रह जाते हैं। इनका खण्डन पूर्व सोपानों के कुछ अंश के आच्छादन के समान आवश्यक हो जाता है। किन्तु वस्तुत यह उनका अनादर करना नहीं वरन् शास्त्र के उत्कर्ष के लिए आदरपूर्वक उनका अवलम्ब ग्रहण करना है। हमने पिछले अध्यायों में पूर्वाचार्यों के रस सिद्धान्तों का पर्यालोचन इसी भाव से किया है। प्रतिभा की अपनी सीमायें हैं, और शास्त्रों के अपने विस्तार हैं। इन सीमाओं को पार करके शास्त्र के जीवन विस्तारों का उद्घाटन करना नवीन प्रतिभाओं का कर्तव्य है। हमारा सौभाग्य है कि हमें अनेक पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों के अवलम्बन से शास्त्र के शिखर की ओर आरोहण का अवसर मिला और हम प्रसन्नता है कि हम कुछ कठोर सीमाओं को पार करके काव्यशास्त्र के कुछ नये विस्तारों का उद्घाटन कर सके हैं। हम शास्त्र की सोपान परम्परा की अन्तिम सीढ़ी बनने की आकांक्षा नहीं है, यदि हमारे सिद्धान्त का कोई सत्य और अनवद्य अंश एक सोपान का मुक्त अंश बन सका और शेष अंश किसी नवीन सोपान का आधार बन सका तो हमें उतना ही संतोष होगा जितना कि हमारे मत में अन्य आचार्यों को होना चाहिए।

अस्तु प्राचीन आचार्यों की प्रतिभा ने काव्यशास्त्र के अनेक अनवद्य तत्वों का प्रकाशन किया है, यद्यपि प्रतिभा की सीमा और शास्त्र के विस्तारों के कारण इन आचार्यों के सिद्धान्तों में कुछ ऐसे भी अंश हैं जिनका आच्छादन आवश्यक है। हमने पिछले तीन अध्यायों में काव्य के स्वरूप और रस की मीमांसा के

प्रसग मे आचार्यों के सिद्धान्तो के इन दोनो ही पक्षो को प्रस्तुत किया है। इस के साथ साथ हमने अपनी प्रतिभा से कुछ नवीन सिद्धा तो का उद्भावन भी किया है, तथा काव्य के कुछ नवीन विस्तारो को प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है। शास्त्र का प्रस्तार होने के नाते हमारे ये दोनो ही काय अल्प गुरु दक्षिणा के समान हैं।

प्राचीन काव्यशास्त्र के सम्ब ध मे हमारा यह मत है कि रस की अपेक्षा काव्य के पक्षो को प्राचीन आचार्यों ने अधिक यथार्थता के साथ प्रकाशित किया है। शब्द और अर्थ के साहित्य से लेकर ध्वनि औचित्य और वक्रोक्ति तक आचार्यों ने काव्य के स्वरूप के सम्ब ध मे जितने सिद्धा त प्रस्तुत किये हैं उन सब मे सत्य का अवध अश है। काव्य के स्वरूप के विवेचन म हमने विनय पूर्वक इस अश का अनुसधान कर काव्य के स्वरूप के साथ उसका अ वय करने का प्रयत्न किया है। कि तु रस के सम्ब ध मे हमारा मत है कि प्राचीन आचाय काव्य के स्वरूप के समान रस की इतनी सफल व्याख्या प्रस्तुत नही कर सके। हमने पिछले अध्याय मे परम्परागत रस सिद्धा त की सीमाओ और अपूर्णताओ का सकेत किया है। इस अध्याय मे उन अपूर्णताओ का विवेचन रस के पात्र के विशेष प्रसग मे करेंगे। रस मीमासा की मूल उलझन रस के पात्र को लकर ही रही है। रस के सचेतन अनुभव का कोई सचेतन पात्र आवश्यक है। साक्षात जीवन म यह मानना सरल है कि जिस व्यक्ति को रस का अनुभव होता है, वही रस का पात्र है। जीवन की इस सामा य धारणा म भी सूक्ष्म विचार से कुछ समस्यायें उपस्थित हो सकती हैं। कि तु सामान्य रूप से यह धारणा सही प्रतीत होती है, काव्य अथवा नाटक के सम्ब ध म ऐसी धारणा सरलता से नही बनाई जा सकती है। इसका कारण यह है कि काव्य अथवा नाटक जीवन का अकन होता है अकन होने के कारण इसकी स्थिति जटिल हो जाती है। साक्षात जीवन के भाव और सम्ब ध इनमे चित्रित होकर रस के आस्वादन और रस के पात्रो की समस्यायें उपस्थित करते हैं।

काव्य म जीवन का अकन शब्द के पारदर्शी माध्यम के द्वारा होता है। फिर भी उसम कवि और पात्रो के परस्पर भाव और सम्बन्ध की समस्या उपस्थित होती है। जीवन के साक्षात निर्वाह मे पात्रो के परस्पर भाव और

सम्बन्ध ही एक की विमा होती है। काव्य में कवि का अस्तित्व जीवन की इस एक विमा में दूसरी विमा जोड देता है। पाठकों का अस्तित्व काव्य की तीसरी विमा है। इस प्रकार काव्य की स्थिति जीवन से तिगुनी जटिल है। नाटक म जीवन का चित्रण अभिनय के सजीव माध्यम के द्वारा होता है। नटो की उपस्थिति उसमे एक और विमा जोड दती है और उसकी स्थिति को काव्य से भी अधिक जटिल बना दती है। इस प्रकार पात्रो की तीन अथवा चार विभायें मिलकर काव्य और नाटक की अथवा नाटक म रस की समस्या को तिगुना अथवा चौगुना जटिल बना देती है। जीवन का अवन होन के कारण काव्य अथवा नाटक मे सभी आचाय जीवन की मूल विभा का ही प्रमुख मानत रह ह और उसी के आधार पर उन्होंन रस की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। वस्तुत काव्यशास्त्र की रस मीमासा की अनक कठिनाइयो और असगतियो का मूल कारण यही है कि आचार्यों ने जीवन की इस एक ही विमा को काव्य के सर्जन नाटक के अभिनय और उनके आस्वादन की विमाओ पर घटित करन का प्रयत्न किया है। जीवन की एक ही विमा म अ य तीनो विभाओ का आत्मसात करने के प्रयत्न से रस मीमांसा म अनेक विडम्बनायें उपस्थित हुई हैं। साक्षात जीवन के अनुरूप ही अभिनय और आस्वादन को समझन के कारण कई सदिग्ध सिद्धान्ता की स्थापना आवश्यक हुई। नट और दशक मूलपात्रो की विभा पर स्थापित करने के कारण रस की व्याख्या म अनक कठिनाइया उपस्थित हुई। और उनका दूर करने के लिए कुछ दुरुह कल्पनायें करनी पडी। नट और दशक मूल पात्रो के रस का अनुभव किस प्रकार करते हैं? इस प्रकार की समस्याओ का उदय उन विभाओ म भ्रान्ति के कारण ही हुआ, जिनका सकेत हम ऊपर कर चुके हैं। अ त मे अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद मे विपरीत क्रम मे दशक के साक्षात जीवन की विभा की प्रधानता मे रस सिद्धान्त का ऐसा पयवसान हुआ जो अब तक सभी आचार्यों को मा य रहा है। अ तत काव्यशास्त्र के आरम्भिक और इस अ तिम दृष्टिकोण मे मौलिक अन्तर नही है। दोनो ही दृष्टिकोण साक्षात जीवन की एक ही विमा पर अवलम्बित हैं। काव्य-शास्त्र के आरम्भिक दृष्टिकोण मे इस विमा के अधिष्ठाता मूलपात्र हैं और अभिव्यक्तिवाद के अन्तिम दृष्टिकोण मे इसके अधिष्ठाता दशक है। कि तु दोनो ही दृष्टिकोणो म साक्षात जीवन की एक ही विमा की प्रधानता और उसी

के आधार पर रस की व्याख्या का प्रयत्न समान है। अलक्ष्य होने के कारण कवि के अस्तित्व और उसकी सृजनात्मक विभा की ओर आचार्यों का ध्यान नहीं गया किन्तु नट और दर्शक के भाव और सम्बन्ध की विभाओं को भी अपने विशेष रूप मे रस मीमांसा मे स्थान नही मिला। इसी कारण साक्षात जीवन की एक ही विभा के आधार पर रस की व्याख्या के प्रयत्न होते रहे। इस दुष्कर व्याख्या के लिए मूल पात्रो के साथ नटो व दर्शको के तादात्म्य की असम्भव कल्पना की गई। अन्य विभाओं की उपेक्षा के कारण सभी विभाओं के विविध दृष्टिकोणो से रस के विविध रूपो की व्याख्या काव्यशास्त्र मे नहीं की जा सकी। जीवन और जीवन के रस की इस एकरूपता का आग्रह तथा साक्षात् जीवन एक ही विभा का अनुरोध रस की सन्तोषजनक व्याख्या म बाधक रहा। साक्षात जीवन और काव्य दोनो के सम्बन्ध मे प्राकृतिक दृष्टिकोण के अनुरोध ने काव्यशास्त्र की कठिनाइयो और अपूर्णताओं को और बढा दिया। पिछले अध्याय मे हमने परम्परागत काव्यशास्त्र की इन सीमाओं का सकेत किया है। प्रस्तुत अध्याय मे हम रस के पात्रो के विशेष प्रसग मे इन सीमाओं का पुन पर्यवेक्षण करेंगे।

साक्षात जीवन के प्राकृतिक दृष्टिकोण म व्यक्ति की इकाई को प्रधानता रहती है। इकाई का सगठन और सरक्षण प्रकृति की एक प्रमुख प्रक्रिया है। आहार अथवा आदान के द्वारा यह इकाई सगठित होती है। जीवो मे और विशेषकर मनुष्यो म यह इकाई सचेतन बन जाती है। मनुष्य म अहकार उस इकाई का सचेतन केन्द्र है। इसी केन्द्र के चतुर्दिक मनुष्य का व्यक्तित्व सगठित होता है। जीवन म यह अहकार स्वार्थ के दृष्टिकोण मे व्यक्त होता है। वृक्षो म यह स्वार्थ अचेतन आहार के रूप मे प्रवर्तित होता है। सफलता की स्थिति को पहुँचे हुए वृक्षो मे आदान और प्रदान अथवा प्रकृति तथा आत्मा का साम्य प्रकट होता है। वृक्षो मे यह साम्य सहज और अचेतन रूप म सम्पन्न होता है। किन्तु मनुष्य जीवन म वह स्वतन्त्र सकल्प के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। अहकार आत्मा और प्रकृति के बीच मे द्वार के समान है। सचेतन अहकार के इस ज्योतिर्मय द्वार से 'जीवन' आत्मा और प्रकृति का अनुरोध मनुष्य को आदान और स्वार्थ की ओर खीचता है। आत्मा का अनुग्रह मनुष्य को प्रदान और परार्थ की ओर भी प्रेरित करता है। यद्यपि प्रकृति के अनुरोध की

प्रबलता के कारण आत्मा की प्रेरणा से मनुष्य कम लाभ उठा पाता है किन्तु प्रकृति का अनुरोध प्रबल रहने पर भी आत्मा की प्रेरणा की ज्योति अन्तर्हित नहीं होती। उनका मन्द आलोक भी मनुष्य को सदा आकर्षित करता रहता है। साक्षात् जीवन के अनुभव में जब कभी आत्मभाव का आभास मनुष्य को मिलता है तो वह उसके आनन्द से कृतार्थ हो जाता है। आत्मा के इस भाव में प्रकृति का परिहार नहीं होता किन्तु उसका अनुरोध मन्द और मर्यादित हो जाता है। इस मर्यादा में आत्मा के साथ प्रकृति का साम्य सम्पन्न होता है। अहंकार आदि प्रकृति के अवच्छेद अपनी कठोरता को त्याग कर मृदुल बन जाते हैं, और उनकी सीमाओं का सौन्दर्य के लोक में विस्तार होता है।

आदान और प्रदान का साम्य भी इस व्यापक साम्य का एक अंग है। व्यापक साम्य से युक्त इस आत्म भाव को ही हमने समात्मभाव कहा है। समात्म-भाव के प्रभाव से इसमें अहंकारों और व्यक्तित्वों का साम्य होता है। यह समात्मभाव ही हमारे मत में कला, काव्य और संस्कृति का मूल आधार है। रूप अथवा भाव का जो अतिशय कला, काव्य और संस्कृति का मर्म है वह समात्म भाव की भूमि पर ही उदित होता है। इसी समात्मभाव में काव्य के रस स्रोत हैं। जीवन अथवा काव्य का रस व्यक्तित्व की इकाई के एकान्त भाव में उदित नहीं होता। व्यक्तित्व की इकाई प्रकृति की रूढ़ि है। अतः केवल प्राकृतिक रस का आस्वादन उसकी सीमा में किया जा सकता है। काव्य का सांस्कृतिक रस समात्मभाव की स्थिति में ही उदित होता है। शब्द केवल संस्कृति का ही माध्यम नहीं है, वह प्रकृति का भी माध्यम है। व्यक्तित्व की इकाई की सीमा में काव्य में भी प्राकृतिक रस का ही आस्वादन होता है। मनुष्य के स्वभाव में प्रकृति के अनुरोध की प्रबलता के कारण आचार्यों की दृष्टि भी प्राकृतिक रस पर अधिक रही है अतः शृंगार, वीर आदि के रूप में उन्होंने प्राकृतिक रस को ही काव्य में प्रतिष्ठित किया है। यह प्राकृतिक रस व्यक्तित्व की इकाई में सम्पन्न होता है। इसीलिए रस मीमांसा के प्रसंग में आचार्यों ने इस इकाई को ही रस का आश्रय माना है।

किन्तु काव्य तथा नाटक में रस से अधिक इकाईयों का संगम होता है। इन इकाईयों में प्रथम और प्रमुख इकाई काव्य अथवा नाटक के मूलपात्र हैं।

मूलपात्रो की इकाई को रस का मौलिक आश्रय मानना स्वाभाविक है। मूलपात्र ही नाटक अथवा काव्य के विषय होते हैं, अत उनका मौलिक रस ही काव्य का मुख्य अभिप्रेत माना गया है। वह रस अभिधेय नही होता, किन्तु व्यजना के द्वारा ध्वसित होता है। मूलपात्रो का रस सदा प्राकृतिक भी नही होता। वह प्राय सास्कृतिक भी होता है। मूलपात्रो के इस सास्कृतिक रस म इकाई का परिच्छेद कठोर नही होता। समात्मभाव के औदाय मे सामजसित होकर इन पात्रो का अहकार सास्कृतिक रस की कादम्बिनी म सौदय के इद्र धनुष खिलाता है। भारतीय काव्य म सास्कृतिक रस और सौदय बहुत मिलता है। किन्तु आचार्यो ने इन पात्रो को इकाई के रूप मे ही देखा है। अतएव काव्य-शास्त्र की रस मीमासा म उनके व्यक्तित्व का सास्कृतिक रूप ग्रहण नही किया गया है। इन पात्रो के व्यक्तित्व को इकाई के रूप म ग्रहण करने को कारण, प्राकृतिक रस के प्रसग ही अधिक आये हैं। काव्य मे शृगार, वीर आदि प्राकृतिक रसो को ही मानने के कारण भी रस मीमामा मे सास्कृतिक रस के स्थलो को अवकाश न मिल सका।

पात्रो के व्यक्तित्व को इकाई के रूप म तथा उनके रस को प्राकृतिक रूप म ग्रहण करने के कारण काव्यशास्त्र की रस मीमासा से अनेग दुस्तर कठिनाइया उपस्थित हुई। प्राकृतिक व्यक्तिवाद के अनुपात्र नट और दशक सब अलग अलग इकाइया बन जाते है प्राकृतिक स्थिति म तीनो इकाईया अलग अलग हैं। कि तु एक ही मूलकता तीनो की रूचि का समान प्रसग है। जीवन म य तीनो प्राकृतिक दृष्टि से अपने अपने रस का अलग अलग आस्वादन करते हैं। कि तु नाटक के प्रदशन म वे तीना एक समान, प्रसग और प्रयोजन म एकत्र होते है। मूलपात्र यद्यपि उस समय उपस्थित नही होते किन्तु नाटक का अभिनय उनके स्वरूप से ही शासित होता है। उनकी सत्ता और उनका स्वरूप नाटक का मूल आधार है। नट उन मूलपात्रो के विशेप रूप का ही अभिनय करते हैं। उन मूलपात्रो का स्वरूप और वृत्त नट और दशक को एक सूत्र म बाधता है।

नाटक के बाह्य रूप की व्याख्या मे मूलपात्रो नटो और दशको का भेद अधिक कठिनाई उपस्थित नही करता। तीनो की स्थिति और उनके प्रयोजन स्पष्ट हैं नट मूल पात्रो का अनुकरणात्मक अभिनय करता है। दशक उन

अभिनय को देख कर आनंदित होते है। किंतु नाटक की आंतरिक स्थिति म तीनो के सम्बन्ध की व्याख्या इतनी सरल नही हैं। नाटक की आंतरिक स्थिति रस है। अपने साक्षात् जीव मे मूलपात्र नट और दशक अलग अलग अपन अपने रस का आस्वादन करते हैं यह सरलता से स्वीकार किया जा सकता है। किंतु नाटक की स्थिति इन तीनो के अपन जीवन से भिन्न है। नाटक की स्थिति म मूलपात्रो का वृत्त ही जीवन का एक प्रसग होता है। नट और और दशक तत्काल के लिए मूलपात्रो के जीवन वृत्त के ही अनुरागी बन जाते हैं। नट उनके वृत्त का अभिनय करता है और दशक उसका आस्वादन करता है। मूलपात्रो का जीवन वृत्त ही नाटक का विषय होता है तथा मूलपात्रा का रस ही नाटक का मुख्य रस बन जाता है।

इस प्रकार मूलपात्रो के जीवन क रस के प्रसग को लेकर ही काव्यशास्त्र की रस मीमासा आरम्भ हुई नट मूलपात्रो के रूप और वृत्त का अभिनय करत हैं। प्रश्न यह उठता है कि उनका अभिनय केवल बाह्य उपचार है अथवा वे मूलपात्रा के रस का अनुभव भी करत है। नट और नटी राम सीता बनते हैं। नट केवल राम का रूप ही ग्रहण करता है अथवा सीता के प्रति रतिभाव का भी अनुभव करता है। नट क्या अनुभव करता है यह ता वह स्वय ही अपन अनुभव स प्रमाणित कर सकता है। आचार्यों का ध्यान नट की अपेक्षा दशक पर अधिक रहा है। यह नितात स्वाभाविक और उचित है। नाटक का अभिनय दशक के ही लिए किया जाता है। अभिनय की भूमि को रगमच कहत हैं। किंतु वस्तुत जिस स्थन पर अभिनय किया जाता है वह केवल मच कहलाता है। रग' का अथ दशका का समाज है। 'रगमच' पद म रग पद की प्राथमिकता नाटक के पयोजन म दशका की प्रमुखता की सूचक है। अतएव नाटक के रस का विवेचन दशका की दृष्टि से ही किया गया है। प्रश्न यह उठता है कि दशक नाटक क रस का आस्वादन किस रूप म और किस प्रकार करता है। हम पहल ही कह चुके है कि नाटक की स्थिति म दशक के अपन स्वतत्र जीवन के रसास्वादन का प्रसग नही है। इसी प्रकार नट के अपन जीवन का प्रसग भी नही है। नाटक की स्थिति म कवल मूलपात्रो के रस का प्रसग हाता है क्योकि उन्ही का वृत नाटक का आधार है। अतएव रस के प्रसग मे नाटक का मुख्य प्रश्न यह

बन जाता है कि मूलपात्रो द्वारा अनुभूत रस का अनुभव दर्शक किस प्रकार करते हैं।

इस प्रश्न से ही काव्यशास्त्र की रस मीमांसा का आरम्भ हुआ है। इस प्रश्न की भूमिका मे सबसे पहली कठिनाई यह उपस्थित होती है कि मूलपात्र नाटक म अपन साक्षात् रूप मे उपस्थित नही होत। नाटक मूलपात्रो के जीवन की आवृत्ति नही वरन् उसका अभिनय मात्र है। ऐतिहासिक मूलपात्र अतीत के गध मे लीन रहते है, तथा अ य वास्तविक अथवा काल्पनिक पात्र अनुपस्थित रहते है। इस प्रकार पात्रो के अप्रस्तुत रहन के कारण दशको और पात्रो का साक्षात् सम्ब ध नाटक मे नही होता। नट ही पात्रो का रूप धारण करके दर्शकों के सम्मुख उपस्थित होते है और पात्रो के चरित का अभिनय करते हैं। किसी भी रूप मे साहित्य साक्षात् जीवन नही है वरन् जीवन का चित्रण है साहित्य म ये चित्रण शब्द के माध्यम के द्वारा होता है। इस चित्रण का अपना सौ दय है यह सौ दय रूप के अतिशय मे निहित रहता है। इस रूप की कई कोटियां होती है। इस सौ दय का अपना रस है। कलात्मक सौ दय के इस रस की स्वरूपगत महिमा की स्थापना किसी आचाय ने नही की। सभी आचाय साक्षात् जीवन के अनुरूप रस के एक ही प्रकार को मानकर काव्य अथवा नाटक के रस की व्याख्या का प्रयत्न करते रहे हैं। सौ दय की अनेक कोटियो के अनुरूप रस के विविध रूप होते हैं किन्तु जब सौ दय का सामा य रस ही काव्यशास्त्र में प्रतिष्ठित नही हुआ तो फिर इस रस की विविध कोटियो का तो कोई प्रश्न ही नही।

अस्तु साक्षात् जीवन के अनुरूप की काव्यशास्त्र म रस की मीमांसा हुई। इस दृष्टिकोण से मूलपात्रो द्वारा अनुभूत रस से इस मीमांसा का आरम्भ होना स्वाभाविक है। मूलपात्रो के जीवन वृत्त के रस का दर्शकों के द्वारा आस्वादन तभी सम्भव हैं जबकि मूलपात्र दर्शको के सामने उपस्थित हो। अर्थात् दर्शकों और पात्रो का साक्षात् सम्पर्क हो। वास्तविक रूप म यह सम्भव नहीं है, क्यों कि साहित्य म मूलपात्र साक्षात रूप म अप्रस्तुत रहते हैं। साहित्य में अंकित उन पात्रो का रूप उनके साक्षात् रूप का प्रतिनिधित्व करता है। रसास्वादन के लिये साक्षात् सम्पर्क अपेक्षित होने के कारण साहित्य म अंकित पात्रों के रूप की सजीवता और प्रभाव शीलता को महत्व दिया जाता है।

काव्य मे यदि पात्रो का चित्रण सजीव और प्रभावशाली होता है, तो काव्य मे शब्दो के पारदर्शी माध्यम से प्रस्तुत होने के कारण काव्य मे अकित पात्र सादृश्य पाठको को सजीव और साक्षात् से ही प्रतीत होत है। काव्य के रसिक पाठक इन चित्रित पात्रो के सम्पक से भी साक्षात् सम्पक के समान रस का अनुभव करते हैं। कि तु नाटक का माध्यम इतना पारदर्शी नही होता। नट के अस्तित्व को पृथकता नाटक मे सदा बनी रहती है। यद्यपि नाटक के अभिनेता मूलपात्रो के रूप, व्यवहार और भाव (अथवा अनुभाव) को यथासम्भव यथाथ रूप म प्रस्तुत करते हैं। इसी यथाथता म नाटक तथा अभिनय का सौन्दय निहित रहता है। फिर भी मूलपात्रो और नटो के अस्तित्व का भेद अखण्डित रहता है। देश काल की भिन्नता के अतिरिक्त नटा के स्वतन्त्र अस्तित्व का बोध इस भेद को पुष्ट करता है। इस भेद के कारण दशक की दृष्टि मे मूल पात्र और नट कभी पूणतया अभिन्न नही होत। यह भेद मूलपात्रो के साथ दशको के साथ दशको के साक्षात् और सम्पूण सम्पक मे भी बाधक होता है। इस भेद की स्थिति मे साक्षात सम्पक न होने पर पात्रो के जीवन वृत्त का रसास्वादन दशक किस प्रकार करते है यह एक कठिन प्रश्न है। दूसरी ओर साक्षात् जीवन का आग्रह रस मीमासा के मूल मे रहने के कारण किसी न किसा रूप मूलपात्रो के साथ दशको का साक्षात् सम्पक अथवा उसका आभास होना आवश्यक है।

काव्य म चित्रण की सजीवता एव प्रधानशीलता शब्द के पारदर्शी माध्यम से इस साक्षात सम्पक और रसास्वादन को सम्भव बनाती है। नाटक मे नट के अखण्डनीय अस्तित्व की भिन्नता के कारण मूलपात्रो और दशका के बीच व्यवधान रहता है। किन्तु दूसरी ओर नटा के रूप सज्जा और अभिनय की यथाथता इस साक्षात सम्पक को काव्य से अधिक सजीव रूप म प्रस्तुत करती है। इस सजीवता के कारण साधारण जनो के लिए नाटक काव्य की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है। फिर भी मूलपात्रो और नटो का भेद रहता है। साक्षात पात्रो की उपस्थिति यथाथ की अपेक्षा आभास अधिक है यद्यपि इस आभास से भी साधारण जन बहुत प्रभावित होते हैं। नटो को पात्रा का स्थानापन्न मान लेने पर यह प्रश्न उठता है कि वे मूलपात्रो के रस का अनुभव किस प्रकार करते हैं। रस मीमासा मे साक्षात जीवन के आधार को मान लेने पर नटो मे रस की उपस्थिति आवश्यक हो जाती है। नटो म रस की कल्पना के

बिना अभिनय को देखकर दर्शकों के रसास्वादन का अपेक्षित आधार नहीं बनता। अत प्रश्न यह उठता है कि नट मे रस की उपस्थिति किस प्रकार मानी जा सकती है ।

भट्ट लोल्लट ने नट मे रस की उपस्थिति की व्याख्या आरोपवाद के अनुसार की है । उनका कथन है कि नट के अभिनय की यथार्थता से प्रभावित होकर दर्शक नट म मूलपात्र का आरोप तथा उसके अभिनय के अनुरूप मूलपात्र के रस का भी आरोप कर लेत है । रामकथा के नाटक मे व नट के अभिनय और अनु भावो से प्रभावित होकर उसे राम ही मान लेते हैं, तथा अनुभावो के अनुरूप उसमे रस की उपस्थिति की भी कल्पना कर लेते है । इस कल्पना को ही भट्ट लोल्लट ने आरोपण कहा है । आरोप एक प्रकार का भ्रम है, जो सत्य का आभास उपस्थित करता है । यह आरोप पूर्ण होने पर वास्तविक यथार्थ के समान प्रभावशाली होता है । अधेरे म रस्सी को साप समझ लेने पर हम भय से उछल पड़ते है । नाटक म देश काल और नट क अस्तित्व की भिन्नता के कारण यह आरोप पूर्ण नही होता । फिर भी इस आरोप की आंशिक यथार्थता के बिना नाटक के यथार्थ जीवन के समान प्रभाव की व्याख्या नही की जा सकती। भट्ट लोल्लट के परवर्ती आचार्यों ने आरोपवाद को उचित आदर नहीं दिया है वरन् उसका खण्डन ही किया है । कि तु आरोपवाद नाटक की व्याख्या का इतना निमू ल सिद्धा त नही है । साक्षात जीवन के समान नाटक के प्रभाव की व्याख्या आरोप के बिना नही की जा सकती । दूसरी ओर नटो की रूप सज्जा और यथार्थ के साथ अभिनय की अनुरूपता म आरोप का पर्याप्त आधार मिलता है । व्यक्तित्व के आरोप के बाद भाव और रस का आरोप स्वाभाविक हो जाता है । यथार्थ जीवन मे वास्तविक पात्रो के द्वारा अनुभूत रस भी हमारे लिए एक प्रकार का अनुमान ही है । हम उसे साक्षात रूप म नही जानत जिस प्रकार कि हम पात्रो अथवा नटो के अनुभावो को जानते हैं । यदि हमारे इस अनुमान म व्याप्ति का अभाव है तो उसे भाट्ट मीमांसा के अनुसार अनुमान न कह कर हम अर्थापत्ति कह सकत हैं । रस की कल्पना के बिना अनुभावो की व्याख्या नही हो सकती । नट म रस की यह कल्पना साक्षात रूप म असम्वेद्य की कल्पना है । साक्षात अनुभव म सम्वेद्य होने पर भी परगत भाव हमारे लिए अनिश्चित रहता है । अनुभावो से प्रसूत हमारे अनुभव मे उसके प्रभाव के द्वारा ही हम उसकी प्रकल्पना करते हैं ।

साक्षात जीवन मे बहुत कुछ सीमा तक प्रकल्पित होने के कारण नट मे मूलपात्रो के रस की उपस्थिति पूर्णत असगत नही है। अनुभावो की यथार्थता नट म रस की कल्पना को प्रेरित करती है और रस की कल्पना आरोप को अधिक पूर्ण बनाती है। नटो मे वास्तविक रूप मे रस होता है अथवा नही इसको तो नट ही प्रामाणित कर सकते हैं। सम्भवत वे अनुभावो के समान रस का भी अभिनय करते हैं। केवल पात्रो के समान रूप सज्जा से अभिनय सफल नही हो सकता। उसके लिए मूलपात्रो के समान भावो का उद्भावन भी अपेक्षित है। पात्रो के व्यक्तित्व के साथ नटो के व्यक्तित्व के तादात्म्य की अधिकतम पूर्णता अभिनय की सफलता का गहनतम रहस्य है। दर्शको की दृष्टि से रूप के साथ साथ रस का आरोपण अभिनय के रसास्वादन के लिए आवश्यक है। यह स्पष्ट है कि नाटक म आरोपण कभी पूर्ण नही होता किन्तु जितना अधिक पूर्ण होता है, उतना अधिक प्रभावशाली होता है। साधारण दर्शक आरोपण के द्वारा ही उसम प्रभावित होते है और उसके रस का आस्वादन करते हैं। नाटक की प्रभावशीलता के कुछ अन्य कारण भी हैं जिनका विवेचन यहा प्रसगगत नहीं है। सामान्य दृष्टि से नाटक के सम्बन्ध म इतना सत्य है कि यथार्थ जीवन के अनुरूप ही उसका प्रभाव होना है और नाटक को यथार्थ जीवन की यह अनुरूपता आरोपण के द्वारा ही प्राप्त होती है। काव्यशास्त्र की रस मीमासा का दृष्टिकोण भी सामान्य दर्शको की भाति यथार्थ जीवन के अनुरूप है। एक बात और है कि नाटक मे होने वाले इस आरोपण को आलोचक की दृष्टि से ही आरोपण कहना उचित है। दर्शक की दृष्टि से यह आरोपण नही है। दर्शक की दृष्टि आरोपण को यथार्थ के रूप मे ही प्रस्तुत करती है इसीलिए आरोप अथवा भ्रम का प्रभाव यथार्थ जीवन के समान होता है।

इस प्रकार भट्ट लोल्लट द्वारा प्रस्तुत नट मे रस की उपस्थिति की धारणा बहुत कुछ मान्य है। भट्ट लोल्लट के आलोचक भी शकुक ने नट म रस की उपस्थिति की व्याख्या आरोप के स्थान पर अनुभाव के द्वारा की है। दोनो का साध्य एक है यद्यपि उनके द्वारा अपनाये गये साधन और प्रणाली मे भेद हैं। पिछले अध्याय मे हमने श्री शकुक के अनुमानवाद का खण्डन किया है और भट्ट लोल्लट के आरोपवाद को नाटक की स्थिति की अधिक सगत व्याख्या बताया है। हमने यह खण्डन दर्शन मे स्वीकृत अनुमान के सिद्धान्तो के आधार पर किया है।

अनुमान सदा अप्रस्तुत विषय के सम्बन्ध मे किया जाता है किन्तु नाटक म नट के रूप मे मूलपात्रो की उपस्थिति दर्शको को आरम्भ से ही मान्य होती है।

इस अनुमान मे व्याप्ति का अवकाश भी दिखाई नही देता। वस्तुत जीवन मे भी किसी प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध म सदिग्ध भाव की उपस्थिति का निर्णय अनुमान की अपेक्षा अर्थापत्ति के द्वारा अधिक सगत रूप मे किया जा सकता है। अर्थापत्ति मे भी अनुमान की भांति पूर्व अनुभव का आधार होता है किन्तु व्याप्ति स्पष्ट नही होती। मूल पात्रो का अभिनय करने वाले नट के अनुभावो म यदि हम व्याप्ति का आधार मानें तो लोक मे अनुभूत अनुभावो के आधार पर नट म रस का अनुमान किया जा सकता है। स्वार्थानुमान के सभी चरण स्पष्ट नहीं होते। किन्तु इस अनुमान का अवलम्ब भी नट म मूलपात्र का आरोप ही होगा। अत श्री शकुक का अनुमितिवाद भट्ट लोल्लट के आरोपवाद का खण्डन नही करता। नट मे रस की उपस्थिति के सम्बन्ध मे दर्शक की दृष्टि से तो नट म रस की उपस्थिति भी नट के रूप के समान ही साक्षात् होती है। यदि बहुत सूक्ष्म विवेचन किया जाय तो रूप म आरोपण की प्रधानता और रस म अनुमिति का अन्त भाव माना जा सकता है। किन्तु आलोचक की दृष्टि से रूप और रस दोनो समान रूप से आरोपण हैं क्योंकि दोनो यथार्थ नही होते। दर्शक की दृष्टि से दोनो यथार्थ कल्प हैं क्योंकि वह तद्रूप मे ही उनसे प्रभावित होता है।

अस्तु भट्ट लोल्लट और श्री शकुक दोनो ही दर्शक की दृष्टि म नट म मूल पात्रो के अनुरूप रस की उपस्थिति मानते हैं। उन दोनो म केवल इतना अन्तर है कि भट्ट लोल्लट नट मे रस की उपस्थिति की व्याख्या आरोप के द्वारा करते हैं और शकुक उसकी व्याख्या अनुमान के द्वारा करते हैं। यहा तक नाटक की स्थिति का सम्बन्ध मूलपात्रो और नटो से है। इन सब विवादो का लक्ष्य केवल यही निर्णय करना है कि नट किस रूप म दर्शक के सम्मुख उपस्थित होते है और उसे प्रभावित करते हैं। इस सम्बन्ध म यही मानना होगा कि किसी प्रकार सापेक्ष पूर्णता के साथ अभिनय की स्थिति दर्शकों को जीवन की साक्षात् स्थिति के समान प्रभावित करती है। अत नाटकीय स्थिति मे आरोप का अंश अवश्य स्वीकार करना होगा। यदि मूलपात्रो के साथ नट के तादात्म्य मे कही अनुमान की प्रक्रिया काम म आती है तो अन्तत वह आरोप मे ही फलित होती है। इतना विवेक करना आवश्यक है कि आरोप की

दर्शक की दृष्टि से आरोप नही कहा जा सकता किन्तु अनुमान को दर्शक और आलोचक दोनो की दृष्टियो से अनुमान कहा जा सकता है। आलोचक के लिए जो आरोप प्रतीत होता है वह दर्शक की दृष्टि से प्रत्यक्ष के समान है। रूप के साथ साथ नट मे रस की उपस्थिति भी उसके लिए साक्षात् जीवन के अनुरूप है अत अप्रस्तुत के समान इनम अनुमान की यथेष्ट सगति नही हो सकती। नट मे रस की उपस्थिति की समस्या इसलिए इतनी महत्वपूर्ण है कि रूप से भी अधिक अभिनय की सफलता रस और भाव पर निर्भर करती है। वास्तविक दृष्टि से भी रूप की अपेक्षा रस ही अधिक महत्वपूर्ण है। मूलपात्र और नट का व्यक्तित्व अलग अलग होता है।

इसे दर्शक और नट दोनो ही जानते हैं अत दोनो की दृष्टि मे रूप म आरोपण अधिक स्पष्ट होता है। वास्तव मे रूप की अपेक्षा भाव मे अधिक यथार्थता होती है। भाव की यथार्थता ही रूप को सार्थक तथा अभिनय को यथार्थ और प्रभावशाली बनाती है। हम किसी सीमा तक दूसरो के भावो का अनुभाव भी कर सकते हैं। मूल पात्रो के साथ समात्मभाव के द्वारा नट उनके भावो का यथाशक्ति अनुभव करता है। उसका यह अनुभव भ्रम नही किन्तु सत्य है। यह आरोप नही यथार्थ है। दर्शक रूप की समानता के आधार पर इसका आरोप नहीं करते वरन् अनुभावो के आधार पर साक्षात रूप मे उसकी कल्पना करते हैं। दर्शक इस साक्षात् भाव से ही प्रभावित होते हैं। नाटक म रूप की अपेक्षा भाव का प्रभाव अधिक होता है। साधारण दर्शको के विषय मे यह अधिक सत्य है। किन्तु मूलपात्रो और नटो के सम्बन्ध के बाद नाटक मे दर्शक के रसास्वादन का प्रश्न उपस्थित होता है। प्रश्न यह है कि दर्शक नाटक म प्रस्तुत पात्रो के जीवन वृत का रसास्वादन किस प्रकार करते है।

भट्ट लोल्लट और श्री शकुक दोनो ने दर्शक के दृष्टिकोण से ही नाटक के रस की मीमासा की है। दर्शक के रसास्वादन का सिद्ध करने के लिए ही भट्ट लोल्लट ने आरोप का प्रस्ताव किया है। श्री शकुक ने भी अनुमान के द्वारा यही सिद्ध किया है कि दर्शक नट म रस की स्थापना किस प्रकार करता है। किन्तु दोनो ही आचार्य एक ही दिशा मे चलते हैं। दोनो ही दर्शक की दृष्टि से नट मे रस की उपस्थिति का विचार करते हैं। दोनो ही इस को स्वीकार करते

है कि दर्शक नट में रस की कल्पना करता है। दर्शक किस प्रणाली के द्वारा नट में रस की स्थापित करता है इस सम्बन्ध में दोनों आचार्यों में भेद है। भट्ट लोल्लट इसे आरोप और श्री शंकुक इसे अनुमान कहते हैं। आरोप प्रत्यक्ष के अनुरूप होता है, नाटक में भी दर्शक की नट के भाव विषयक धारणा प्रत्यक्ष के अनुरूप होती है। यदि जीवन में भी दूसरों के रस सम्बन्धी हमारी धारणा में अनुमान रहता है तो यहां भी अनुमान के लिए अवकाश हो सकता है। प्रणाली के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी दोनों आचार्य इस बात को मानते हैं कि दर्शक नट में मूलपात्रों के रस की स्थापना करता है। दर्शक के द्वारा नाटक के रसास्वादन के लिए यह आवश्यक है। नट के वास्तविक रसास्वादन के सम्बन्ध में आचार्यों ने विचार नहीं किया है, उनकी दृष्टि दर्शक पर ही अधिक रही है। दोनों ही आचार्य कदाचित् यह मानते है कि दर्शक मूलपात्रों के जीवन वृत्त का रसास्वादन करता है। किन्तु उनकी रस मीमांसा का पर्यवसान नट में रस की स्थापना में ही हो जाता है। बात की व्याख्या नहीं करते कि नटों में स्थापित मूलपात्रों के रस का आस्वादन दर्शक किस प्रकार करता है। हम सामान्य और साक्षात् जीवन में भी दूसरों के रसका आस्वादन करते हैं। इन आचार्यों के मत में कदाचित इसी प्रकार हम नाटक में प्रस्तुत पात्रों के जीवन वृत्त का रसास्वादन करते हैं। किन्तु इसका सूक्ष्म विचार अपेक्षित है कि हम जीवन में अथवा नाटक में दूसरों के रस का आस्वादन किस प्रकार करते हैं।

भट्ट लोल्लट और श्री शंकुक दोनों आचार्यों की दृष्टि नट पर अधिक नहीं रही किन्तु मूलपात्र और दर्शकों पर समान रूप से रही। अतः समुचित व्याख्या न करने पर भी वे यह मानते रहे कि दर्शक नटों द्वारा प्रस्तुत मूलपात्रों के जीवन वृत्त का रसास्वादन करते हैं। किन्तु भट्टनायक के भुक्तिवाद और साधारणीकरण से रस मीमांसा की दृष्टि मूलपात्रों के मौलिक स्वरूप और सम्बन्ध की उपेक्षा कर के दर्शक की ओर अधिक झुक गई। इस झुकाव का कारण काव्यशास्त्र की यह मौलिक मान्यता है कि साक्षात जीवन में व्यक्ति ही अपनी इकाई में रस का अधिष्ठान है और स्वयं अपने अनुभूत रस का आस्वादन करता है। साधारणीकरण के द्वारा प्रतिष्ठित तथा प्राचीन और अर्वाचीन आचार्यों द्वारा बहुमान्य अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद भट्टनायक के समय से काव्यशास्त्र की मौलिक व्यक्तिवादी मान्यता के अनुरूप दर्शक की ओर झुकती हुई दृष्टि का ही परिणाम है।

भट्ट नायक ने रस के प्रश्न पर दर्शक की स्थिति को विशेष रूप से ध्यान मे रख कर विचार किया है। भट्ट लोल्लट और श्री शकुक ने नट की स्थिति को ध्यान म रख कर आरोप अथवा अनुमान के द्वारा केवल इस बात का समाधान किया कि दशक के रसास्वादन का आधार क्या है। इस सम्ब ध म उ होने यही स्थिति निधारित की है कि दशक नटो का मूलपात्रो क रूप मे ग्रहण करके उनके भाव से प्रभावित होकर रस का आस्वादन करता है। अनुभावो के आधार पर मूलपात्रो अथवा नटो मे दशक रस की स्थापना करते हैं और उससे प्रेरित होकर स्वय रस का आस्वादन करता है। भट्ट लोल्लट और श्री शकुक का मतभेद केवल उस प्रणाली के विषय में है, जिसके द्वारा दशक नट को मूलपात्र के समान 'रस प्रवण' मानता है। किन्तु वे दोनो यह समान रूप से स्वीकार करते हैं कि रस प्रवण पात्र के दशन से दशक रस का आस्वादन करत हैं। भट्ट लाल्लट और श्री शकुक ने उन समस्याओ पर विचार नही किया, जो दशक के रसास्वादन मे उत्पन्न होती है। इन समस्याओ को उपस्थित करने का श्रेय भट्टनायक को है। काव्यशास्त्र मे आरम्भ से ही रस मीमासा इस धारणा पर आश्रित रही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इकाई म रस का आस्वादन करता है। इस धारणा के अनुसार दशक के रसास्वादन के प्रसग म यह प्रश्न उठता है कि वह नाटक के रस का आस्वादन किस प्रकार करता है। यदि दशक के रसास्वादन को नाटक के प्रसग में ही देखा जाय तो उसे नाटक की स्थिति से अलग नही किया जा सकता। नाटक के दशक के रूप मे नाटक का रसास्वादन करता है। दशक का रसास्वादन नाटक के रस का ही आस्वादन माना जायगा।

नाटक के रस के दो रूप हैं। एक तो उसकी कलात्मक रचना और कलात्मक सौंदय का रस है। काव्यशास्त्र की दृष्टि इस रस की ओर नही गई। साधारणजन भी कला के सौंदय से विशेष परिचित न होने के कारण सौंदय के रस से अधिक प्रभावित नही होते काव्य अथवा नाटक म रस का दूसरा रूप भावमय अथवा अनुभावात्मक हैं। रस के इस रूप से जीवन म सभी परिचित हैं क्योकि आत्मा के रूप म यह रस सबसे अधिक विद्यमान है। आत्मा के अतिरिक्त यह रस प्रकृति रूप मे भी है। प्रकृति रूप रस का आस्वादन व्यक्ति की इकाई मे भी सम्भव है, अत इसका आस्वादन मनुष्य के लिए सभी

अवस्थाओ मे सम्भव। नाटक के दशक साधारणजन होते हैं इसीलिए काव्य शास्त्र की रस मीमासा मे प्राकृतिक रस की ही प्रधानता रही है। अत व्यक्ति के प्राकृतिक रसास्वादन की स्थिति के अनुरूप ही पात्रो और दशको के रस का विवेचन किया गया है। पात्रो के द्वारा अपने रस की अनुभूति के सम्बन्ध म तो प्राकृतिक दृष्टि से कोई विवेचनीय समस्या नही है। सास्कृतिक दृष्टि से जो विवेचनीय है, उसका विवेचन काव्यशास्त्र मे नही हुआ। किन्तु नाटक की विशेष स्थिति मे दशको के रसास्वादन के सम्बन्ध म विवेचनीय समस्यायें उपस्थित होती है। इनमे एक समस्या का सम्बन्ध नट से है और दूसरी का सम्बन्ध दशको से हैं। नाटकीय स्थिति मे नट पात्रा के स्थानापन्न रूप ग्रहण करता है। इसका विवेचन भट्ट लोल्लट और श्री शकुक ने किया है। नटो को पात्रो का स्थानापन्न मानकर तथा आरोप अथवा अनुमिति के द्वारा उन मे रस की स्थापना करके दशक किस प्रकार रसास्वादन करता है। इसका विवेचन इन आचार्यो ने नही किया।

दशक के रसास्वादन के प्रश्न को भट्टनायक ने उठाया है। भट्टनायक ने दशक के रसास्वादन को दशक की दृष्टि से देखा है। उस प्राकृतिक दृष्टिकोण के व्यक्तिवाद के अनुकूल है जिससे हमारा काव्यशास्त्र आरम्भ से ही प्रभावित है। कि तु दूसरी ओर यह नाटक की कलात्मक स्थित के अनुरूप नही हैं। प्राकृतिक दृष्टिकोण के व्यक्तिवाद से प्रभावित होकर भट्टनायक ने दशक के रसास्वादन को नाटक की स्थिति से समवेत न रखकर उसके सीमित व्यक्तित्व में उसका प्रत्याहार कर दिया है। उनका प्रसिद्ध साधारणीकरण सिद्धान्त इसी प्रत्याहार की प्रणाली है। भट्टनायक की व्याख्या में मूलपात्रो का जीवन वृत्त, उनका रसानुभव, कवि के द्वारा नाटक का प्रणयन और नटो के द्वारा उसका अभिनय आदि सब दशक के रसास्वादन के निमित्त बन जाते हैं। उनका अपना कोई महत्व नही रखता। भट्टनायक ने साधारणीकरण को ही लक्ष्य बनाकर सत्व के उत्कष की अध्यात्म कल्प स्थिति मे दशक के इस रसास्वादन का समाहार किया है किन्तु अभिनव गुप्त ने उस साधारणीकरण को केवल दशक के स्थायी भाव के उदभावन का साधन मानकर भट्टनायक के रसवाद की अध्यात्म कल्प स्थिति को खण्डित करके रस मीमासा को उसी प्राकृतिक व्यक्तिवाद म पयवसित किया है जो आरम्भ से ही उसे प्रभावित करता रहा है। अभिनव गुप्त का

यह अभिव्यक्तिवाद पात्रो के जीवन वृत्त के गौरव और कला के सौदय की महिमा दोनो का अपहरण कर लेता है। दोनो दशक के प्राकृतिक और व्यक्तिगत रसास्वादन के निमित्त बन जाते हैं और उनका अपने आप मे कोई महत्व नही रहता। पात्रो के जीवन वृत्त के गौरव और कला के सौदय की महिमा का अपहरण करने वाला अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद समस्त परवर्ती आचार्यो के द्वारा अभिनदित हुआ, यह काव्यशास्त्र की एक अद्भुत विडम्बना है।

दशक के व्यक्तिगत रसास्वादन की दृष्टि से रस मीमासा की समस्या मे एक असमजस उपस्थित हो जा जाता है। इस असमजस का कारण दशक की दशक के रूप म उपस्थिति है। अपने व्यक्तिगत जीवन म दशक अपने जीवन की स्थिति के अनुरूप (कम से कम प्राकृतिक दृष्टिकोण स) व्यक्तिगत रसास्वादन का अधिकारी है, कि तु नाटक के दर्शक के रूप म उसका रसास्वादन पात्रा की जीवन वृत्ति उनकी रसानुभूति, कवि की रचना, नटो के अभिनय आदि से विशेष रूप से सम्बद्ध रहता है। वस्तुत काव्य अथवा नाटक के सांस्कृतिक रस का आस्वादन दर्शक इन सबके साथ समात्मभाव से करता है। कि तु ऐसा सास्कृतिक दृष्टिकोण सभी दर्शको का नही होता। अधिकाश दर्शको का दृष्टिकोण प्राकृतिक और व्यक्तिवादी होता है। काव्यशास्त्र भी इसी दृष्टिकोण से प्रभावित है। कि तु नाटक की विशेष परिस्थिति म इस दृष्टिकोण को घटित करना कठिन है। मूलपात्रो के जीवन वृत्त, कवि की रचना और नटा के अभिनय के गौरव को सुरक्षित रखते हुए यह कठिन है। भट्ट लोल्लट और श्री शकुक न इस समस्या का अधूरा समाधान अवश्य किया है। कि तु उ होने इन सबके गौरव की पूरी रक्षा की है। एक प्रकार से नट की स्थापना आरोप होत हुए भी उनके ध्यान म रही है।

साधारणीकरण के स्थान पर भट्ट लोल्लट और श्री शकुक की स्थिति म समात्मभाव क द्वारा नाटक के रसास्वादन की व्याख्या सफलतापूवक हो सकती है। कि तु रसास्वादन का यह रूप प्राकृतिक और व्यक्तिवादी न होकर सांस्कृतिक होगा। काव्यशास्त्र मे व्यक्तिवाद के आग्रह के कारण श्री शकुक के बाद रस मीमासा का विकास समात्मभाव की ओर न होकर साधारणीकरण और अभिव्यक्तिवाद की ओर हुआ। भट्टनायक के साधारणीकरण मे मूलपात्रो और

दर्शकों दोनों के व्यक्तित्व की विशेषताओं का परिहार करके रस को सत्व के उत्तप की निर्वैयक्तिक स्थिति में स्थापित किया। यह स्थिति अध्यात्म के अत्यंत निकट है। पण्डितराज जगन्नाथ की भग्नावरणाचित के साथ इसकी बहुत समानता है। किन्तु दोनों ही स्थितियों में काव्यशास्त्र म स्वीकृति रति आदि स्थायीभावों के अवच्छेद की संगति स्थापित करना कठिन है। इस कठिनाई का कारण यह है कि ये स्थितियां निर्वैयक्तिक हैं तथा रति आदि स्थायी व्यक्तिगत हैं। सांस्कृतिक समात्मभाव के द्वारा किस प्रकार इनकी संगति हो सकती है यह एक पृथक प्रसग है। भट्टनायक का साधारणीकरण पात्रों के विशेष रूप का परिहार करता है किन्तु वह दर्शक के व्यक्तिवाद की स्थापना का दोषी नहीं है। अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद म रस मीमांसा का पर्यवसान दर्शन के "व्यक्तिवाद" की भावना म हुआ।

इस व्यक्तिवाद का अनुरोध काव्यशास्त्र में आरम्भ से ही रहा है। व्यक्तिवाद की दृष्टि से दर्शक के रसास्वादन को देखने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि दर्शक पात्रों द्वारा अनुभूत रस का आस्वादन किस प्रकार करता है। नाटक में प्रस्तुत रस का रूप पात्रों के अनिवार्यत सम्बद्ध है। अत इसी रूप के सम्बद्ध से दर्शक भी नाटक के रस का आस्वादन कर सकता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार नटो के रूप म पात्रों के आरोप के द्वारा उनम रस की स्थापना की गई तो इसी प्रकार दर्शकों में पात्रों के रूप के आरोप के द्वारा दर्शकों म रसानुभव की कल्पना की जा सकती है। आचार्यों के मत मे दोनों आरोपण दर्शकों के द्वारा सम्पन्न होते है। भट्ट लोल्लट और श्री शंकुक ने एक ही आरोपण पर अपनी रस मीमांसा को समाप्त कर दिया है। दूसरे आरोपण की समस्याओं को भट्टनायक ने उठाया है। दूसरा आरोपण अधिक स्पष्ट रूप से काव्यशास्त्र के व्यक्तिवादी अनुरोध का परिणाम है। इस व्यक्तिवाद की अपेक्षा यह है कि पात्रों के रूप और रस को दर्शकों म घटित करने पर ही वे नाटक का रसास्वादन कर सकते है। कुछ आचार्यों ने इसे तादात्म्य कहा है और इसमें अध्यात्म की उदारता देखने का प्रयत्न किया है। किन्तु वस्तुत यह प्राकृतिक व्यक्तिवाद के संकोच का परिणाम है। अध्यात्म की उदारता तादात्म्य में नहीं वरन् समात्मभाव के उस सामंजस्य मे चरितार्थ होती है जिसमे व्यक्तित्वों की विशेषताओं के परिहार की अपेक्षा नहीं होती।

व्यक्तिवाद के अनुरोध से अनुरूप नाटक की विशेष स्थिति मे दर्शक के रसास्वादन के लिए पात्रो के साथ दर्शको का जो तादात्म्य अपेक्षित होता है वह एक प्रकार स दर्शको के रूप पर पात्रो के रूप का आरोपण प्रतीत होता है। किन्तु वस्तुत वह दर्शको के व्यक्तिगत भाव के आग्रह का ही परिणाम है। समात्मभाव क म होने पर ही व्यक्तिवाद का ऐसा आग्रह होता है। नाटक की स्थिति म ऐसे आग्रह स सामाजिक और धार्मिक औचित्य की कठिन समस्यायें उपस्थित होती हैं, जिनका समाधान करने के लिए भट्टनायक ने साधारणीकरण का प्रस्ताव किया है। य समस्यायें व्यक्तिवाद क अनुरूप पात्रो के साथ दर्शको का तादात्म्य मान लेने पर उपस्थित होती हैं अत यह स्पष्ट है कि भट्टनायक आदि इस तादात्म्य को स्वीकार करते हैं। उदाहरण के लिए राम कथा के किसी अभिनीत प्रसग मे यदि दर्शक का राम के साथ तादात्म्य मानते हैं, तो इस तादात्म्य क द्वारा सीता के प्रति पात्र की रति का प्रसग आने पर अगम्या गमन का दोष उपस्थित होता है। इस दोष से मुक्त होने के लिए भट्टनायक न साधारणीकरण का प्रस्ताव किया है। शब्द की भावना शक्ति के द्वारा नाटक के राम सीता अपने विशेष रूप के स्थान पर पति पत्नी के सामान्य रूप म दर्शक के तादात्म्य के अवलम्ब बनते हैं। इस तादात्म्य क द्वारा दर्शक नाटक का निर्दोष रसास्वादन करता है। यह रसास्वादन शब्द के भोग व्यापार द्वारा होता है। इस व्यापार म सत्व का उद्रेक होता है और अ य सम्बद्ध विषय के सम्पर्क से शू य प्रकाश रूप आन द उदित होता है।

भट्टनायक का अभिमत यह नाटक का रसास्वादन आध्यात्मिक रस के अत्यन्त निकट है। दोनो मे रति आदि के अवच्छेदको का ही भेद मुख्य है। यह सम्भव है कि कुछ सत्व प्रधान व्यक्ति इस अध्यात्मक आनन्द के रूप मे नाटक अथवा काव्य का रसास्वादन करते हैं। किन्तु सभी सामाजिको के विषय मे यह नही कहा जा सकता। सामान्यत सामा य का भाव हमारे सभी विशेष प्रत्ययो मे रहता हैं किन्तु विशेष भाव स रहित साधारणीकरण निश्चय ही एक असाधारण अवस्था है, जो कि अपवाद रूप से ही सम्भव हो सकती है। शब्द मे ऐसे साधारणीकरण की कोई सामा य शक्ति नही है। सत्व का उद्रेक साधारणीकरण का फल नही वरन् कारण है। नि सदेह साधारणीकरण दर्शको को दोष से बचा लेता है कि तु न वह दर्शक के रसास्वादन की सही व्याख्या है और न वह

नाटक के विशेप रूप और रस के महत्व की रक्षा करता है। साधारणीकरण मे नाटक और नाटक के पात्रो का विशेप रूप विलीन हो जाता है। नाटक का सारा सौन्दय और वैभव इसी विशेप रूप मे रहता है।

वस्तुत ऐसा साधारणीकरण अधिकाश दशको मे नही होता और वे नाटक के विशेप रूप का ही रसास्वादन करते हैं। उनके लिए यही विशेप रूप नाटक का प्रयोजन और आकपण है और तादात्म्य मे दोप उपस्थित होने के कारण साधारणीकरण का आविष्कार हुआ, वह तादात्म्य भी नाटकीय स्थिति का सत्य नही है। कुछ पात्रों की स्थिति दशको के अभीप्सित आदश के निकट होने के कारण दर्शक उनके साथ तादात्म्य की आकाक्षा कर सकते हैं। किंतु वस्तुत यह तादात्म्य कभी पूण नहीं होता। जीवन तथा काव्य दोनो मे रस का रहस्य तादात्म्य म नही वरन् समात्मभाव म हैं। रसास्वादन के लिए तादात्म्य का आग्रह व्यक्तिवाद के उपग्रह पर अवलम्बित है। समात्मभाव म न व्यक्तिवाद का आग्रह है और न व्यक्तित्व का पूण निराकरण है [वरन् व्यक्तित्वा का सामजस्य है। हमारे मत मे दशक के रूप मे ही पात्रो क साथ समात्मभाव क द्वारा नाटक का रसास्वादन करता है अगम्य गमन के दोप का परिहार साधारणीकरण क दुलभ धम के द्वारा नही किया जा सकता। अगम्या-गमन की प्रवृत्ति भावना अनेक दशको मे हा सकती है।

धार्मिक और सामाजिक औचित्य इसे अनुचित मान सकता है। किंतु यह मनुष्य की प्रवृत्ति का प्राकृतिक सत्य है। काव्य मे परकीया रति के प्रसग म भी यह दोप उपस्थित होता है। यहा काव्यशास्त्र म रस दोप के परिहार का प्रश्न नही उठाया गया है। साधारणीकरण के अपेक्षित सत्व का उत्कप सभी से लिए सुलभ नही ह। अत सामा य दशको की दोपपूण रूचि का परिमाजन इसके द्वारा नही हो सकता। अगम्या गमन के दोप का प्रसग दशको के प्राकृतिक दृष्टिकोण के कारण ही हो सकता है। यदि यह दृष्टिकोण व्यापक है, तो हम मानना होगा कि अधिकाश दशक काव्य अथवा नाटक का कला के रूप म रसा स्वादन नही करत वरन् उसे अपने प्राकृतिक रसास्वादन के आधार मात्र के रूप मे देखते हैं। इस दृष्टिकोण मे कला का सम्पूण महत्व नष्ट हो जाता है। अत इस दृष्टिकोण से उसके रसास्वादन का विवेचन कला के सास्कृतिक रस का

रहस्योद्‌घाटन नही कर सकता। सास्कृतिक दृष्टि से कला के रस का ग्रास्वादन समात्मभाव के द्वारा होता है जिसके लिए न तादात्म्य की अपेक्षा है और न साधारणीकरण को।

एक बात और है। सास्कृतिक दृष्टिकोण स काव्य अथवा नाटक के रसास्वादन के लिए यहा अपेक्षित है कि उसम जीवन का चित्रण भी सास्कृतिक भाव के अनुकूल हो। सास्कृतिक भाव मे व्यक्तित्व का आग्रह और प्रवृत्ति का अमर्यादित अनुरोध नही रहता। सास्कृतिक दृष्टिकोण मे समात्मभाव के अनुकूल व्यक्तित्व और प्रकृति दोनो का सामजस्य होता है। यह आवश्यक नही है कि काव्य अथवा नाटक मे जीवन का चित्रण सास्कृतिक दृष्टिकोण से होने पर सभी दशक उसका रसास्वादन भी तद्‌रूप मे करें। दशको का रसास्वादन उनकी अपनी प्रवृत्ति पर निभर है। उनकी प्रवृत्ति प्राकृतिक, आध्यात्मिक और सास्कृतिक तीन प्रकार की हो सकती है। मनुष्य की प्रवृत्ति का अधोगमन सरल है कि तु उन्नयन कठिन है। काव्य अथवा नाटक मे अध्यात्मिक अथवा सास्कृतिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत प्रसगो का प्रभाव प्राकृतिक हो सकता है यदि सामाजिक का दृष्टिकोण प्राकृतिक हो। कि तु प्रस्तुत प्रसगो के प्राकृतिक होने पर सास्कृतिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टिकोण के लिए कठिन है। अधिकाश नाटको अथवा काव्यो मे वर्णित प्रसग प्रत्यक्ष रूप मे प्राकृतिक होते है। अत उनके प्रति सामाजिका के दृष्टिकोण के प्राकृतिक होने के कारण अगम्यागमन आदि के दोष उपस्थित होत है। ये दोष स्वाभाविक प्राकृतिक और सत्य हैं। साधारणीकरण के द्वारा इनका परिहार नही हो सकता। प्राकृतिक दृष्टिकोण नाटक अथवा काव्य को प्राकृतिक जीवन स अभि न बना देता है तथा उसके समस्त कलात्मक गौरव का अपहरण कर लेता है। वस्तुत प्राकृतिक दृष्टिकोण से नाटक का रसास्वादन करने वाला दशक कला का रसिक नही वरन् प्राकृतिक जीवन का अनुरागी है। जहा नाटक अथवा काव्य का कलात्मक महत्व सुरक्षित नही रहता वहा विशेष रूप से उसके रसास्वादन की चर्चा व्यर्थ है। जीवन का चित्रण सास्कृतिक दृष्टिकोण से होने पर भी उसके तद्‌रूप रसास्वादन के लिए दशको मे सास्कृतिक दृष्टिकोण अपेक्षित है।

अस्तु, नाटक अथवा का्य मे चित्रित जीवन के दृष्टिकोण और सामाजिको क दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर ही इनके रसास्वादन का यथोचित विवेचन हो

सकता है। दोनों में ही इस दृष्टिकोण के तीन रूप होते है। अन विषय वस्तु के रसास्वादन के प्रसग मे एक दृष्टिकोण का आग्रह अनुचित है। प्राकृतिक दृष्टिकोण मे कला के सौ दय और महत्व की रक्षा नही होती। बाह्य प्रकृति मे स्वाथ और उपयोगिता की भावना न होने पर हमे सौ दय दिखाई देता है, कि तु मनुष्य की प्रवृत्तिया मे जो प्रवृत्ति प्रकट होती है उसम स्वाथ रहने क कारण सौन्दय नही होता। इन प्रवृत्तियो का रस भी प्राकृतिक होता है। समात्मभाव म स्वाथ का विस्तार होने पर ही प्रकृति मे कलात्मक सौ दय समाहित होता है और सास्कृतिक रस उदित होता है। यही का य और नाटक के विषय म भी सत्य है। काव्य और नाटक की रचना तथा उसका रसास्वादन मूलत समात्मभाव पर ही आश्रित है। अत इन दोनो कर्मो मे मूल सास्कृतिक भाव अवश्य रहता है कि तु मनुष्य के स्वभाव म प्रवृत्ति की प्रधानता प्रकृति का भी अनुरोध उपस्थित करती है। प्रकृति के इसी अनुरोध से जीवन क प्राकृतिक रूप काव्य और नाटक से अछूत नही होते। नाटक और काव्य म जीवन का यह प्राकृतिक रूप सामाजिको की प्राकृतिक प्रवृत्ति को प्रेषित करता है। इस प्रकार कवियो और सामाजिको के सृजन और आस्वादन मे सास्कृतिक और प्राकृतिक भाव का सम्मिश्रण रहता है। जिस कवि और दशक अथवा पाठक की वृत्ति मे जितना सास्कृतिक अथवा प्राकृतिक भाव रहता है वह तद्रूप मे ही उसकी रचना अथवा आस्वादन करता है। इस सम्ब ध मे कोइ एक सामा य सिद्धा त बनाना वास्तविक स्थिति के विपरीत है। सामा य सत्य केवल इतना ही है कि कला के सृजन और आस्वादन दोनो मे कुछ सास्कृतिक भाव अवश्य रहता है। कि तु सास्कृतिक अथवा प्राकृतिक भाव की गौणता और प्रधानता के सम्ब ध मे काई सामा य नियम नही बनाया जा सकता। इसी गौणता और प्रधानता के अनुरूप सास्कृतिक और प्राकृतिक रस की स्थिति भी होती है।

अस्तु नाटक अथवा का य के रसास्वादन के सम्ब ध म कोई एक दृष्टिकोण अपनाना उचित नही है। अनेक दशक अथवा पाठक अनेक रूपा म तथा प्राकृतिक और सास्कृतिक भाव के भिन्न भिन्न अनुपातो मे इनका रसास्वादन करते हैं। इसके अतिरिक्त सामाजिको और मूलपात्रो मे विभिन्न प्रकार के व्यक्ति होते हैं। इन अनेक दशको का सभी पात्रो के साथ समान रूप म समात्मभाव नही होता। बालक वृद्ध और युवक दशको का पात्रो के प्रति समान भाव नहीं

होता, वे अपने अनुरूप दृष्टिकोण से प्राकृतिक भाव के द्वारा तथा सास्कृतिक समात्मभाव के द्वारा नाटक का रसास्वादन करते हैं। केवल प्राकृतिक दृष्टिकोण के सम्बन्ध म यह कहा जा सकता है कि उनके अनुकूल रस का आस्वादन व्यक्ति की इकाई म सम्भव हो सकता है कि तु सास्कृतिक भाव के प्रसग मे व्यक्ति की इकाई अपनी प्राकृतिक सीमा म नही रहती किन्तु वह अन्य व्यक्तियो के साथ समात्मभाव की स्थिति मे उदारता की ओर अभिमुख होकर सास्कृतिक भाव से कला का रसास्वादन करती है। वह समात्मभाव अनेक रूपो, सम्बन्धो और स्थितिया मे होता है। इनकी विविधता के अनुरूप सास्कृतिक भाव और रस भी अनेक रूप ग्रहण करता है।

अतएव प्राकृतिक और सास्कृतिक दोनो ही रसो के सम्ब ध म एकरूपता के आग्रह के कारण ही काव्यशास्त्र की रस मीमासा मे अनेक कठिनाइया और असगतिया उपस्थित हुई। काव्यशास्त्र म एक ओर तो रस के प्राकृतिक और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की प्रधानता रही, दूसरी ओर इस प्राकृतिक दृष्टिकोण म भी एकरूपता रही। अधिकाश कवि और आचाय प्रौढ 'पुरुष थे। अत इनके दृष्टिकोण मे अपने प्राकृतिक भाव की प्रधानता रही। काव्य और काव्यशास्त्र मे शृ गार की प्रधानता इसका प्रमाण है। बालको, किशारो, स्त्रिया वृद्धो आदि के दृष्टिकोण को का यशास्त्र के दष्टिकोण म कोई स्थान नही दिया गया। काव्य म भी इनका स्थान बहुत कम है। कि तु वस्तुत ये सभी अपने अपने भाव से नाटक और काव्य का रसास्वादन करते हैं। इनके प्राकृतिक और सास्कृतिक दोनो ही प्रकार के भाव एक दूसरे से भिन्न होते हैं। सामा य रूप से सब के प्राकृतिक भाव म व्यक्तिगत स्वाथ और अहकार की प्रबलता रहती है तथा सबके सास्कृतिक भाव मे किसी न किसी रूप मे समात्मभाव वतमान रहता है। कविया पात्रा और नटो के सम्बन्ध मे भी यही कहा जा सकता है।

इस प्रकार कला के सजन और आस्वादन की स्थिति अत्य त जटिल है। वह इतनी सरल नही है जितनी कि वह काव्यशास्त्र म समझी गई है। काव्यशास्त्र म इसको सरल समझन का कारण प्राकृतिक और व्यक्तिवादी दष्टिकोण की प्रधानता है। इसी दष्टिकोण की प्रधानता के कारण नाटक के रसास्वादन म तादात्म्य का कल्पना की गई और उसमे उपस्थित होने वाले दोष के लिए

साधारणीकरण का प्रस्ताव रखा गया। साधारणीकरण का जो रूप आचार्यों को अभीष्ट है वह जीवन और कला का सत्य नही है। ऐसा निर्वैयक्तिक साधा रणीकरण सामान्यत जीवन और कला के रसास्वादन म नही होता। साधार णीकरण के द्वारा काव्य के आध्यात्म कल्प रस के आस्वादन के लिए जिस सत्व के उद्रेक की आवश्यकता होती है, वह भी सुलभ नहीं है। साधारणीकरण के सिद्धा त मे अध्यात्म का आभास प्रकट होता है। कि तु अतत वह भी दशक की व्यक्तिगत इकाई को ही रस का आश्रय मानता है। अभिनव गुप्त के अभि व्यक्तिवाद मे व्यक्ति का यह आश्रय भाव स्पष्ट है। अभिनव गुप्त के मत म साधारणीकरण के द्वारा नाटक अथवा काव्य के पात्र सामाजिक के स्थायी भाव के उद्भावन के निमित मात्र रह जाते हैं। रस का प्रमुख आश्रय अथवा पात्र सामाजिक ही रहता है। उस सामाजिक को समस्त काव्यशास्त्र म व्यक्तिगत इकाई के रूप मे ही ग्रहण किया गया है। व्यक्ति की इस इकाई का आग्रह प्रकृतिवादी दृष्टिकोण का ही परिणाम है। इस दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण ही साधारणीकरण मे अध्यात्म के निकट आकर भी अ तत रस मीमासा व्यक्ति के प्राकृतिक स्थायी भावो के रसास्वादन म पयवसित हुई। पण्डितराज जग नाथ के द्वारा भग्नावरणाचित' के रूप मे उपनिषदो के अध्यात्म का स्मरण भी रति आदि के अवच्छेद के कारण प्राकृतिक दृष्टिकोण से प्रभावित रहा।

सत्य यह है कि काव्यशास्त्र की रस मीमासा प्रकृति और अध्यात्म के दो छोरो के बीच झूलती रही। उसका मुख्य अवलम्ब तो प्राकृतिक दृष्टिकोण ही रहा कि तु वह अध्यात्म की ऊची टहनियो का स्पश भी करती रही। प्राकृतिक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण रस मीमासा अध्यात्म का स्पश करके भी उसमे स्थित नही हो सकी। अतएव वह असमजस की स्थिति म बना रही। इस असमजस मे असगतियां भी रही। साधारणीकरण और भग्नावरणाचिद्' की आध्यात्मिक स्थितियो मे रति आदि के प्राकृतिक भावो के अवच्छेद इस असगति के उदाहरण हैं। प्राकृतिक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण काव्य शास्त्र के आचाय प्रकृति और अध्यात्म का सामजस्य रस मीमासा मे प्रस्तुत नहीं कर सके। दोनो के आकषण के कारण वे प्रकृति और अध्यात्म को अपने स्वतत्र और शुद्ध रूप म भी स्थापित नही कर सके। प्रकृति और अध्यात्म जस विरोधी दृष्टिकोणो का काव्यशास्त्र की रस मीमासा मे सयोग एव अनुभुत विड

म्बना है। इन दोनो का सामजस्य समात्मभाव से युक्त सांस्कृतिक भाव म सम्भव होता है। प्रकृति का अनुरोध प्रबल होने के कारण काव्यशास्त्र के प्राचार्य यह सामजस्य और यह सांस्कृतिक दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं कर सके। इस सास्कृतिक दृष्टिकोण मे प्राकृतिक दृष्टिकोण की एकरूपता के विपरीत अनेक रूपता रहती है। प्राकृतिक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण तादात्म्य के अनुरोध से रस का एक रूप दृष्टिकोण ही काव्यशास्त्र में अपनाया गया है। इसी कारण केवल दर्शक को ही नाटक अथवा काव्य मे रस का प्राश्रय माना गया है।

वह दर्शक भी अपनी व्यक्तिगत इकाई में रस का प्राश्रय है। किन्तु वस्तुत दर्शक अथवा पाठक अपनी व्यक्तिगत इकाई में प्राकृतिक भाव का रसास्वादन करने के अतिरिक्त अनेक विध समात्मभाव के द्वारा सास्कृतिक भाव का रसास्वादन भी करत हैं तथा प्राय आध्यात्मिक रस क क्षितिजो का स्पर्श भी करते हैं। सामाजिक के अतिरिक्त कवियों व पात्रों और नटो में भी प्राकृतिक सास्कृतिक और आध्यात्मिक तीनों ही प्रकार के भाव होते हैं और गुण प्रधान भेद से वे इनका रसास्वादन करत हैं। इनके समात्मभाव के रूप भी अनेक होते हैं। अत काव्य के रस और इनके आस्वादन का रूप बड़ा जटिल होता है। विभिन्न अनुपातो में सामाजिक रस जटिल रस का आस्वादन करते हैं। किन्तु काव्य अथवा नाटक में इस रस की सम्भावना पूर्णत रूप में रहती है। रस के इन विभिन्न पात्रो तथा रूपो का सम्यक पर्यालोचन करने पर ही रस मीमासा पूर्ण हो सकती है।

काव्य और जीवन दोनो में रस की स्थिति समान नहीं है। फिर भी दोनो मे रस की स्थिति पूर्णत भिन्न भी नहीं है। रस का सामान्य रूप एक प्रिय और स्पृहणीय अनुभूति है। वह काव्य और जीवन दोनो म समान रूप से सम्भव है। दोनो रसो मे प्रमुख अन्तर यह है कि काव्य का रस स्वरूपगत सौन्दर्य के साथ समात्मभाव के साम्य के द्वारा सम्पन्न होता है। अतएव वह केवल सांस्कृतिक है और प्राकृतिक नहीं होता। काव्य का स्वरूपगत रस निरवच्छिन्न होने के अर्थ म आध्यात्मिक भी नहीं है। यद्यपि समात्मभाव के मार्ग से उसम अध्यात्म का आलोक भी प्रकाशित होता है। अन यद्यपि वह

शुद्ध आध्यात्म नहीं है किन्तु अध्यात्म से अनुप्राणित है। जीवन का प्राकृतिक रस और उसमें उपकरण काव्य में स्वरूपगत सौंदर्य के सांस्कृतिक रस के उपादान बन सकते हैं। किन्तु स्वरूपत काव्य का रस सांस्कृतिक ही होता है प्राकृतिक नहीं। हमने ऊपर संकेत किया है कि काव्यशास्त्र की रस मीमांसा प्रकृति और अध्यात्म में दो छोरों के बीच झूलती रही है। किन्तु काव्य का स्वरूपगत रस उस रस मीमांसा में प्रतिष्ठित नहीं हो सका। स्वरूपत आध्यात्मिक रस प्राकृतिक रस से भिन्न है। चौथे अध्याय में हम इस भेद का विवेचन कर चुके हैं। किन्तु अन्य लक्षणों में भिन्न होते हुए भी प्राय दर्शक और काव्यशास्त्र दोनों में अध्यात्म के प्रति आचार्यों के दृष्टिकोण में प्राकृतिक भाव का एक असंगत प्रभाव दिखाई देता है। यह प्रभाव व्यक्तिवाद के अनुरोध के रूप में है। स्वरूपत अध्यात्म में व्यक्तित्व तथा अन्य अवच्छेदों का अतिक्रमण हो जाता है। किन्तु जिस रूप में दर्शक और काव्यशास्त्र में आचार्यों ने अध्यात्म के तत्व और साधना का प्रतिपादन किया है उसमें एक प्रच्छन्न रूप में प्रकृति के व्यक्तिवाद का अनुरोध दिखाई देता है। अध्यात्म के व्यक्तिगत न होते हुए भी उसे सदा व्यक्ति की सत्ता का परम तत्व और व्यक्ति की साधना का परम लक्ष्य बताया गया है। यह अध्यात्म के वास्तविक सत्य के अनुकूल नहीं है। इसी असंगति की विडम्बना के कारण विपुल शास्त्रों में प्रतिपादित होने पर भी आध्यात्मिक जीवन में प्रतिष्ठित नहीं हो सका। विरले ही व्यक्ति व्यक्तिगत जीवन में भी अध्यात्म की सफल साधना कर सके हैं। इसके विपरीत मातभाव तथा अन्य सामाजिक स्नेह सौहार्दों में अध्यात्म का तत्व अधिक सफल रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। इसका कारण यह है कि इनमें अध्यात्म की प्रतिष्ठा व्यक्तिवाद के आधार पर नहीं वरन् समात्मभाव के आधार पर हुई है।

अध्यात्म की व्यक्तिगत साधना कुछ विडम्बना सी जान पड़ती है। व्यवहार में वेदान्त की निष्फलता का कारण यही विडम्बना है। प्राकृतिक रस और आध्यात्मिक रस के बीच काव्यशास्त्र की रस मीमांसा के भटकने का कारण भी अध्यात्म की यही विडम्बना है। अध्यात्म की इस विडम्बना का परिहार जीवन संस्कृति के सजीव और व्यावहारिक समात्मभाव में होता है। संस्कृति की परम्परा में प्रकृति के व्यक्तिवाद का परिहार नहीं वरन् आत्मभाव में उसका सामंजस्य है। सामंजसित होने के कारण यह व्यक्तिवाद आत्मभाव का खण्ड

नही करता। किन्तु वेदा त की एकान्तिक साधना मे निर्वैयक्तिक अध्यात्म का लक्ष्य व्यक्तिवाद के अतिक्रमण मे प्रच्छन्न व्यक्तिवाद के अनुरोध के द्वारा खण्डित हो गया। वेदान्त दर्शन का बौद्धिक अध्यवसाय अपने आप में चमत्कारी होते हुए भी व्यक्तिवाद की विडम्बना के कारण असफल रहा। वेदा त के निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण की बुद्धि के निर्वैयक्तिक दष्टिकोण से सगति रही। इसी कारण वेदा त मे बुद्धि की कुछ गति रही है। किन्तु बौद्धिक दष्टिकोण की उदासीनता ने प्राकृतिक व्यक्तिवाद के अनुरोध को एक अलक्षित अवसर दिया। इस कारण वेदान्त की आध्यात्मिक और बौद्धिक साधना प्राय निष्फल रही। इसके विपरीत सस्कृति के जीवन सामजस्य मे समात्मभाव की विभूति ने उसे अपेक्षाकृत अधिक सफल बनाया है।

वेदा त की यह विडम्बना रहत हुए भी अध्यात्म का तत्व और रस अपने स्वरूप म पूर्णत सत्य है। अध्यात्म का प्रवाह ही रस की त्रिवेणी की वह उज्जल गगा है, जो प्रकृति की यमुना को अपने अचल म समेटकर सस्कृति की त्रिवेणी के रूप म प्रवाहित होती है। इस प्रकार जीवन में रस के तीन रूप ह, जिन्ह हमने प्राकृतिक अध्यात्मिक और सास्कृतिक रस कहा है। जीवन क ये तीनो ही सर काव्य के उपादान बन सकते हैं। इनम प्राकृतिक रस व्यक्ति की इकाई मे सम्पन्न होता है कि तु सास्कृतिक रस के लिए समात्मभाव का आधार अपेक्षित है। आध्यात्मिक समात्मभाव म व्यक्तित्व के सामजस्य का प्रश्न सगठन है। वह अथवा किसी भी प्रकार की व्यजना के द्वारा व्यक्तित्व के अतिक्रमण-पूवक काव्य मे प्रतिष्ठित होता है। यह स्पष्ट है कि काव्य म अध्यात्म का उपचार ही सम्भव है। उपादान के रूप मे काव्य मे इन तीनो ही रसो का ग्रहण हुआ हैं। भारतीय साहित्य मे तीना प्रकार का काव्य विपुलता से मिलता हैं। कि तु काव्यशास्त्र की रस मीमासा प्राकृतिक दृष्टिकोण की प्रधानता रही। इसीलिए प्रधानता रही। इसीलिए साधारणीकरण, सत्व के उत्कप और 'भग्नाव र्णाचित्' मे अध्यात्मक के क्षितिजो का स्पश करके भी उस रस का स्वरूप व्यक्ति के आश्रय और रति आदि प्राकृतिक स्थायीभावो के असगत अवच्छेद के कारण प्रकृति की परिधि मे सीमित रहा।

रस के आश्रय का समस्त विवेचन इसी व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से प्रभावित है। आरोप और तादात्म्य के प्रसग इसी प्रभाव से उत्पन्न हुए। इसी व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का परिणाम यह है कि अ तत आचार्यों ने सामाजिक को ही काव्य के रस का आश्रय माना है। नाटक के पात्र काव्य मे साक्षात् रूप म उपस्थित नही होते। अत उनके रस की कल्पना अनधिकार है। नट म रस का आरोप तो कुछ आचार्यों ने माना है किन्तु उसम रस की अनुभूति उन्ह स्वीकार नही है। अस्तु अन्तत काव्यशास्त्र की रस मीमासा सामाजिक के व्यक्तिगत अधिष्ठान मे केंद्रित है। वही काव्य के रस का एकमात्र आश्रय है। काव्य के प्रसग की परिधि मे स्थित होने पर भी अ य कोई पात्र रस के आश्रय नही है। कवि और नट रस के आश्रय नहीं हैं, इस सम्ब घ मे एक अद्भुत तक दिया जाता है। वह तक यह है कि काव्य की रचना और नाटक का अभिनय ये दोनो ही कम है। कम रजोगुण के द्वारा प्रेरित होता है। साधारणीकरण की स्थिति मे रस का बहुमा य सिद्धान्त सत्व के उद्रेक पर अवलम्बित है। कवि और नट को रस का आश्रय मानने पर उनम सत्व की प्रधानता माननी होगी। तब उनम क्रिया की आपत्ति न हो सकेगी। साधारणीकरण को रस का सिद्धान्त मानने पर सत्व का यह असाधारण उत्कप भी माननीय होगा।

ऐसा साधारणीकरण काव्य अथवा नाटक के रसास्वादन म होता है, यह सन्दिग्ध है। हमारे मत मे काव्य का सौ दय और रस काव्य मे अकित विशेष रूपो के साथ अभिवाय रूप से सम्बद्ध है। काव्य के सौ दय का रसास्वादन साधारणीकरण के द्वारा नही वरन् समात्मभाव के द्वारा होता है, इसका प्रतिपादन हम आग चलकर दसवें अध्याय मे विस्तारपूवक करेंगे। इस मत के कुछ सकेत हम पिछले विवेचना म भी दत रहे है। सत्व का उत्कप रजोगुण का पूवत परिहार नही करता अत समात्मभाव मे भी सत्व का उत्कप मान पर क्रिया की सम्भावना का पूणत परिहार नही होता। सात्विक रस की निष्क्रियता भी उस विडम्बना का एक अग है जिसने वेदा त की साधना को निष्फल और काव्य की रस मीमासा का भ्रात बनाया। समात्मभाव के पवित्र पीठ पर स्थापित हमारे सास्कृतिक आचार्यों और पर्वों मे यह क्रिया सत्व से सस्कृत रजोगुण की प्रेरणा स सम्भव होती है। इसी सम्भावना के आधार पर हम कवि और नट दोनो म रस की स्थिति मानते हैं। यह अध्यात्म का निष्क्रिय रस नही, वरन् सस्कृति का

क्रियाशील रस है। सामाजिक मे वह रस प्रत्यक्ष व्यवहार के रूप मे नहीं, तो भाव के रूप मे सक्रिय अवश्य होता है। परिणाम मे वह काव्य का रस जीवन की क्रियाओं को भी प्रेरित करता है।

अस्तु हमारे मत म कवि, मूलपात्र, नट और सामाजिक सभी रस के पात्र हैं। मूलपात्रो को हम काव्य के रस का पात्र नहीं कर सकते क्योंकि वे काव्य का आस्वादन नही करते वरन् काव्य के आधार हैं। कि तु मूलपात्रो का रस काव्य के रस का एक प्रमुख आधार है। कवि नट और सामाजिक का तो काव्य से सीधा सम्बन्ध है। अत उन्हे काव्य के रस का आश्रय मानने मे कोई आपत्ति नहीं है। वे तीनों मूलपात्रो के रस से अचित काव्य के सौन्दय के रस का आस्वादन अपने अपने रूप मे करते है। हमारे मत मे काव्य के रस का रूप एक नही है। काव्य के रस के अनेक आश्रय विविध रूप मे उसका आस्वादन करते हैं। यह मानना कि कवि और नट काव्य अथवा नाटक का क्रमश प्रणयन और अभिनय मात्र करते हैं, कि तु वे रस का आस्वादन नही करते। उनके प्रति अन्याय प्रतीत होता है और यह धारणा काव्य के सृजनात्मक सौन्दय के रस के विपरीत है। काव्य अथवा नाटक के बढते हुए प्रसग मे कवि और नट का भाव एक ही नही रहता। अत वे रूप ही रूप मे नहीं वरन् भिन्न भिन्न रूप म रस का आस्वादन करते हैं। इस दृष्टि से सामाजिको का भाव भी सम्पूण काव्य अथवा नाटक मे एक सा नही रहता। सभी सामाजिक एक ही रूप म इनका रसास्वादन नही करत वरन् विविध रूप मे करते हैं। रस मीमासा के इस प्रसग मे सबसे अधिक कठिनाई प्राकृतिक दृष्टिकोण के व्यक्तिवादी आग्रह के कारण हुई है यह दृष्टिकोण कवि, नट सामाजिक आदि सभी को व्यक्तिगत इकाई के रूप मे मानकर रस की समस्या पर विचार करता है।

इस दृष्टिकोण के व्यक्तिवादी आग्रह का कारण यह है कि यह काव्य अथवा नाटक के रसास्वादन म सामाजिक के आश्रय भाव को प्रमुख और महत्वपूण मानता है तथा सामाजिक का दृष्टिकोण पूणत नहीं कि तु प्रधानत प्राकृतिक रहता है। सामा य सामाजिको के सम्ब ध मे तो यह सत्य ही है। प्राकृतिक दृष्टिकोण म ही व्यक्तिवाद का दृष्टिकोण समीचीन हो सकता है। जब प्राकृतिक रस काव्य का उपादान बनता है, तब कवि, नट और सामाजिक सभी के सम्बन्ध

मे यह दृष्टिकोण उचित हो सकता है। फिर भी यह पूर्णत मान्य नहीं है, क्योकि प्राकृतिक रस का उपादान बनने पर भी काव्य के सौन्दर्य का रस सांस्कृतिक ही रहता हैं। कवि और नट का इस सौन्दर्य से अनिवार्य सम्बन्ध है। अनेक सामाजिकों का भी इससे सम्बन्ध हो सकता है। इस सम्बन्ध के दृष्टिकोण से इन तीनों का भाव सांस्कृतिक भी रहता है और वे सांस्कृतिक रस का आस्वादन भी करते हैं। जब सांस्कृतिक रस काव्य का उपादान बनता है तब रूप और सौन्दर्य दोनों में सांस्कृतिक भाव के संगम से काव्य का रस दुगना सांस्कृतिक बन जाता है।

हमारा यह मत है कि उक्त दोनों रूपों में सांस्कृतिक रस का आस्वादन व्यक्तित्व की इकाई की सीमा मे नही वरन् समात्मभाव के उदार क्षितिजों पर होता है। इस समात्मभाव के द्वारा ही कवि काव्य की रचना में प्रवृत्त होता है और नट अभिनय में उत्साहित होता है। यह समात्मभाव साक्षात् और काल्पनिक दोनों रूपों में होता है। दोनों रूपों मे इसका फल बहुत कुछ समान होता है, यद्यपि दोनों में कुछ अन्तर भी है। मनोलोक में अनुभव और कल्पना में अधिक अन्तर नहीं है। कल्पना का कल्प वृक्ष साक्षात अनुभव के मधुर फल भी प्रस्तुत करता है। अस्तु साक्षात अथवा काल्पनिक रूप में समात्मभाव सांस्कृतिक रसास्वादन का आधार है। समात्मभाव की निगूढ आत्मीयता के बिना कवि पात्रों के जीवन वृत्त का सजीव और मर्मस्पर्शी अंकन नहीं कर सकता। नट भी इसके बिना प्रभावशाली अभिनय प्रस्तुत नहीं कर सकता। कवि का समात्मभाव उसके जीवन में प्राप्त साक्षात् समात्मभाव में कल्पना के योग के द्वारा सम्पन्न बनता है। अभिनय में भाग लेने वाले नटों के पारस्परिक सम्बन्धों में इस समात्मभाव की स्थिति को देखकर प्रमाणित किया जा सकता है। पात्रों के साथ उनका काल्पनिक समात्मभाव इसी के आधार पर सम्भव होता हैं और इस आधार को समृद्ध बनाता है। सामाजिक का कवि पात्र और नट तीनों के साथ समात्मभाव सम्भव हो सकता है।

इस दृष्टि से उसका समात्मभाव सबसे अधिक सम्पन्न और उसका रस सबसे अधिक गहन होगा। किन्तु यह सामाजिक के दृष्टिकोण की सांस्कृतिक क्षमता पर निर्भर है। सांस्कृतिक रस का आस्वादन सामाजिक भी व्यक्तित्व

के एका तमाव म नही करता। प्रात लाग नाटक और सिनमा दखन अकेले कम जाते हैं। इसका कारण यह है कि उसके रसास्वादन क लिए साथियो के साथ समात्मभाव का योग चाहत हैं। इस योग से उनके रस की वृद्धि होती है, यद्यपि अकले होने पर भी व नट, पात्र और कवि के साथ समात्मभाव क द्वारा रस का आस्वादन कर सकते हैं। काव्य क एका त अनुशीलन म पाठक, कवि और पात्रो के साथ समात्मभाव के द्वारा उसका रसास्वादन करता है। काव्य के इस अनुशीलन मे किसी साथी के साक्षात् समात्मभाव का योग मिलने पर यह आन द कितना अधिक बढ जाता है इस अनुभव से सभी जान सकत हैं। यह समात्मभाव व्यक्तित्वो का तादात्म्य नहीं, क्योकि इस तादात्म्य म भी व्यक्तिवाद का अनुरोध रहता है, वरन् यह व्यक्तित्वो का सामजस्य है। यह समात्मभाव पशु पक्षियो और प्रकृति के साथ भी सम्भव हो सकता है। अभिज्ञान शाकु तल मे इस व्यापक समात्मभाव का सजीव और सु दर रूप मिलता है।

अस्तु हमारे मत मे केवल सामाजिक ही नही वरन् कवि और नट भी काव्य के रस के आश्रय हैं। मूलपात्रो द्वारा अनुभूत रस इस रस के बहुत कुछ समान और इसका आधार होता है। ये सभी प्राकृतिक रस का आस्वादन व्यक्तिगत इकाई के अधिष्ठान मे करते हो, कि तु काव्यगत सौ दय के रस तथा काव्य के उपादान भूत सास्कृतिक रस का आस्वादन समात्मभाव की स्थिति मे ही करते हैं। यह समात्मभाव तादात्म्य और साधारणीकरण दोनो से भिन्न है। यह समात्मभाव व्यक्तित्वों का सामजस्य है जो प्राकृति के पीठ मे आत्मा के सस्कार के द्वारा अनुष्ठित होता है। स्थितिया और सम्ब धो की अनेक रूपता इस समात्मभाव और इसके द्वारा निष्पन्न होने वाले रस को सम्प न बनाती है। समात्मभाव का स्वरूप और उसकी सम्पन्नता का य के प्रणयन अभिनय और आस्वादन का निगूढतम रहस्य है। इन अध्याया म हम इसका दिग्दशन ही कर सके हैं। दसवें अध्याय मे हम इसका कुछ अधिक विस्तार करन का प्रयत्न करेंगे।

—oo—

अध्याय-६

रस के भेद

पिछले अध्यायो मे रस के स्वरूप और रस के पात्रो का विवेचन करने के बाद रस के भेदा के सम्ब ध मे भी कुछ विचार करना आवश्यक है। प्रस्तुत अध्याय मे हमे रस के भेदा का विचार करना ही अभीष्ट है। काव्यशास्त्र मे रस के अनेक भेद माने गये हैं। कदाचित् आचार्यों मे रस के भेदो के सम्बध मे जितना मतभेद है उतना काव्य के किसी प्रश्न के सम्ब ध म नही है। का य के स्वरूप और रस के प्रश्न के सम्ब ध मे बहुत कुछ एकमत्य हैं। का य के स्वरूप म रस और अलकार के महत्व को प्राय सभी स्वीकार करत हैं। राति वक्रोक्ति और ध्वनि के तीन प्रमुख सम्प्रदाय काव्य के रूप के सम्ब ध म कुछ भि न मत प्रस्तुत करते है। ये भी रस और अलकार को मानत हैं। काव्य स्वरूप की अपेक्षा रस के सम्ब ध मे आचार्यों का मतभेद और भी कम है। रस सिद्धा त के सम्प्रदाय काव्य के स्वरूप की अपेक्षा कम हैं। भट्ट लोल्लट के आरोपवाद और श्री शकुक के अनुमितिवाद के बाद भट्टनायक का साधारणीकरण भारतीय काव्यशास्त्र मे रस की अ तिम व्याख्या माना गया। अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद मे समाहित होकर वह रस का सवमा य सिद्धा त बन गया। काव्य के स्वरूप म भी रस और अलकार का महत्व सबको मा य रहा हैं। रीति और वक्रोक्ति के सम्प्रदाया को व्यापक मा यता नही मिली। आन दवधन का ध्वनि सिद्धा त ही काव्य के स्वरूप के सम्ब ध मे सबसे अधिक अभिन दित हुआ है। काव्य के स्वरूप और रस के सामा य सिद्धा त के सम्ब ध म आचार्यों की मौलिक देन की परम्परा शीघ्र ही समाप्त हो जाती है तथा दोनो क्षेत्रो में कुछ सिद्धा त स्थिर हो जाते है। अर्वाचीन आचार्यों का विवाद पुराने सिद्धान्तो को लेकर ही चलता है।

किन्तु रस के भेदो का इतिहास इससे कुछ भिन्न है। इनके सम्बन्ध मे भी भरत के काल से कुछ सामान्य आधार चला जाता है। भरत के द्वारा प्रतिपादित आठ या नौ रसो को अधिकाश आचार्य एव कवि मानते हैं। फिर भी अनेक आचार्य और कवि रस के भेदो के सम्बन्ध मे अपने मौलिक मत का योग देते रहे है। भरत के द्वारा प्रतिपादित रसो के अतिरिक्त अनेक नवीन रसो की उद्भावना आचार्यो एव कवियो ने की है। रस के भेदो के सम्बन्ध मे एक विशेष बात यह है कि इसमे कवियो ने भी अपना योग दिया है। काव्य के स्वरूप और रस के सामान्य सिद्धान्त के बारे मे ऐसा नही है। इनके विषय मे कुछ आचार्यो के मौलिक मत ही प्रसिद्ध है। इन्ही मे से कुछ मत अधिक प्रतिष्ठित होकर रूढ बन गये। किन्तु रस के भेदो के सम्बन्ध मे अर्वाचीन कवियो के भी अपने मौलिक मत प्रकट किये है। इस प्रसग मे हिन्दी के रीतिकालीन कवि कोशल विशेष सराहनीय है। हिन्दी के क्षेत्र मे रस के नवीन विभाजन की परम्परा केशव देव आदि से लेकर हरिऔध के 'रस कलश' तक चली जाती हैं। इस प्रकार रस के भेदो का इतिहास काव्य के स्वरूप और रस के सामान्य सिद्धान्त से कुछ भिन्न है। इसका कारण कदाचित् यह कि काव्य के स्वरूप और रस के सामान्य सिद्धान्त का क्षेत्र अधिक सूक्ष्म और सीमित है। यह बुद्धि की प्रधानता का क्षेत्र है। काव्य और रस का स्वरूप बुद्धिगत नहीं है। किन्तु उसका निर्धारण और विवेचन सूक्ष्म बुद्धि की अपेक्षा रखता है। बुद्धि के इन सूक्ष्म व्यापारो म कवियो की रूचि नही होती। इस क्षेत्र म नवीन स्थापनायें करने वाले आचार्य भी विरले ही होते हैं।

अधिकाश मनीषियो की वृत्ति प्राचीन आचार्यों के प्रतिपादित सिद्धान्तो का समर्थन करने की ओर रहती है। भारतीय काव्यशास्त्र का अधिकाश इतिहास इसी पिष्टपेषण से बना है। इस इतिहास के उत्तर काल के सम्बन्ध मे तो यह विशेष रूप से सत्य है। किन्तु रस के भेदो का सम्बन्ध जीवन के सजीव और सामान्य क्षेत्र से हैं। इस क्षेत्र मे सभी की गति है। कवियो की कल्पना का विहार भी इसी क्षेत्र मे होता है। इसी कारण वे भी इस सम्बन्ध मे अपने कुछ मौलिक मत प्रकाशित करने मे समर्थ हुए है। रस के भेद हमे काव्य के क्षेत्र मे ले आते हैं। काव्य के स्वरूप और काव्य के रस का विवेचन काव्य के क्षेत्र के अन्तगत ही होता है। ऐसा होना उचित भी है। काव्य का स्वरूप काव्य मे

ही खोजा जा सकता है। काव्य से जीवन का कुछ सम्बन्ध भले ही हो किन्तु दोनो एक दूसरे के पर्याय नही है। काव्य जीवन का केवल एक व्यापार है, जो अपनी विशेषता मे जीवन के महत्वपूर्ण आधारो से प्राय बिलग भी हो जाता है। काव्य मे कल्पना की प्रधानता के कारण ऐसा होता है। यथार्थ और कल्पना का भेद जीवन और काव्य का सूक्ष्म भेद है। काव्य मे यथार्थ का समाहार होने पर भी काव्य प्रधानत कल्पना का ही व्यापार रखता है। काव्य म रस का प्रसग उसे जीवन के कुछ अधिक निकट ले जाता है। रस कल्पना का नही वरन् अनुभूति का रस है। अनुभूति जीवन का मर्म है। इसी कारण काव्य म रस का विवेचन साक्षात् जीवन मे रस की अनुभूति से प्रेरित है। फिर भी काव्य का रस जीवन के रस स अभिन्न नही है, और उसका विवेचन काव्य क प्रसग म ही हुआ है।

किन्तु जीवन म रस की अनुभूति से प्रभावित रहने के कारण कोई भी आचार्य काव्य के स्वरूपगत रस की स्थापना नही कर सके। काव्यशास्त्र म रस का विवेचन वस्तुत काव्य के स्वरूपगत रस का विवेचन नही है, वरन् इस बात का विवेचन है कि जीवन के जो भाव जीवन म रस के आधार हैं, व जब काव्य क उपादान बनते हैं, जो सामाजिक उनका आस्वादन किस प्रकार करते हैं। यह काव्य के माध्यम से जीवन के रस का ही विवेचन है। रस म जीवन के इस अनिवार्य सूत्र के कारण काव्यशास्त्र म रस का विवरण आरम्भ से ही साक्षात जीवन क भावो क आधार पर हुआ है। रस के भेद भी इन्ही भावो के आधार पर लिए गये है। काव्य मे रसास्वादन का प्रसग एक ओर जीवन स से सन्नद्ध होते हुए भी दूसरी ओर काव्य अथवा नाटक के स्वरूप और उसकी स्थिति म आरूढ रहता है। किन्तु रस के भेदो का प्रसग काव्य क आधार से दूर होकर जीवन के अधिक निकट आजाता है। विभिन्न रसो का स्वरूप जीवन के अनुभव म ही निखरता है। काव्य के साथ रस का सम्बन्ध इन भेदों पर कोई प्रभाव अथवा प्रकाश नही डालता। काव्य मे विभिन्न रसो के आस्वादन के सिद्धान्त भिन्न नही हैं। सभी आचार्यों ने काव्य के रसास्वादन के एक सामान्य सिद्धान्त की ही खोज की है किन्तु जीवन के साक्षात अनुभव म विभिन्न रसो के स्वरूप भिन्न भिन्न हैं। अनुभव के आधार पर इन भेदो का निर्धारण किया जा सकता है। जीवन और उसके अनुभव म सबका अधिकार है। इस

काव्य के स्वरूप और रस के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक आचार्यों ने इस विषय में अपने मत प्रकट किये हैं।

कवियों ने भी इस सम्बन्ध में अपने मौलिक मतों का योग दिया है। रसों के साक्षात् रूप अनुभूति के विषय हैं। जीवन की अनुभूति को कवियों की विशेष विभूति माना जा सकता है। अतः रस के भेदों के सम्बन्ध में कवियों का योग स्वाभाविक और श्लाघनीय है। जीवन के अनुभव का स्वरूप साक्षात् होते हुए भी बौद्धिक प्रत्ययों की अपेक्षा अधिक अनिश्चित होता है। वस्तुतः इस स्वरूप का निश्चय अनुभव का नहीं वरन् बुद्धि का कार्य है। बुद्धि इस अनुभव को कहाँ तक ग्रहण और निर्धारण करने में समर्थ है यह एक अलग प्रश्न है। किन्तु बुद्धि के द्वारा अनुभव के स्वरूपों का निर्धारण जल तरंगों की सीमाओं के निर्धारण के समान संदेहपूर्ण है। इसी कारण रस के भेदों के सम्बन्ध में आचार्यों और कवियों के इन मत भेदों का विवरण हमारे प्रस्तुत अध्याय का विषय है। ऊपर के विवरण में काव्य और जीवन के प्रसंग में रस के भेदों की विशेष स्थिति का निरूपण करने के बाद आगे इस अध्याय में हम विभिन्न आचार्यों और कवियों द्वारा प्रस्तावित रस के भेदों का तुलनात्मक विवरण करेंगे। रस के भेदों के ऐतिहासिक विवरण के बाद अध्याय के अन्त में हम रस के भेदों के सम्बन्ध में अपना मौलिक मत भी स्थापित करेंगे। कवि होने के नाते यह मत स्थापना हमारा भी विशेष अधिकार है और यह कम से कम हिन्दी मध्यकालीन परम्परा के अनुरूप है। रस के भेदों के विवरण और विवेचन के पूर्व ही यह संकेत कर देना उचित होगा कि रस के भेदों के सम्बन्ध में हमारा मत उतना ही मौलिक और क्रान्तिकारी है, जितना कि काव्य और रस के स्वरूप के सम्बन्ध में हमारा मत है। वस्तुतः इसे अधिक मौलिक और क्रान्तिकारी कहना उचित होगा। हमारी यह मौलिकता भी काव्यशास्त्र की परम्परा के अनुरूप है। काव्यशास्त्र के इतिहास में काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में सबसे कम मतभेद हैं। इससे अधिक मतभेद रसानुभूति की स्थिति और प्रणाली के विषय हैं। सबसे मतभेद रसों के भेदों के सम्बन्ध में है। इसी परम्परा के अनुरूप हमारा सबसे अधिक मतभेद रस के वास्तविक भेदों के सम्बन्ध में है। काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि आदि के सिद्धान्त पूर्णतः असमीचीन नहीं हैं। उनमें बहुत कुछ सत्य का अंश निहित है।

हमने रूप के प्रतिशय और समात्मभाव की धारणाओं के अनुसार काव्य के स्वरूप की मौलिक परिभाषा दी है तथा इस परिभाषा की परिधि मे उक्त सिद्धा तो को उचित स्थान देने का प्रयत्न किया है। कि तु काव्यशास्त्र म प्रतिपादित रसास्वादन की प्रणाली के सम्ब ध म हमारा मतभेद अधिक है। काव्यशास्त्र का बहुमा य साधारणीकरण और अभिव्यक्तिवाद हमे पूर्णत अमा य है। हमने समात्मभाव को रसानुभूति का आधार बताया है, जो साधारणीकरण के बिल्कुल विपरीत है। साधारणीकरण और समात्मभाव का तुलनात्मक विवेचन हम अगले अध्याय म करेंगे। अभिव्यक्तिवाद के मूल स्वरूप स हमारा इसका मतभेद नहीं है कि तु वह साधारणीकरण के द्वारा होता है तथा काव्यशास्त्र मे मा य स्थायीभाव के आधार पर होता है। यह हमे पूर्णत अमा य है। रसानुभूति मे भावों की अभिव्यक्ति अवश्य होती है, कि तु वह साधारणीकरण के द्वारा नहीं होती और न प्रसिद्ध स्थायी भावों के आधार पर होती है। हमारा मतभेद अभिव्यक्ति के स्वरूप से इतना नहीं है, जितना कि साधारणीकरण और प्रसिद्ध स्थायीभावों के आधार म है। स्थायीभावों के आधार से मतभेद होने के कारण ही रस के भेदों के सम्ब ध मे हमारा मतभेद अधिक प्रबल तथा हमारा मत सर्वाधिक मौलिक और क्रान्तिकारी है। हमारे मत मे काव्यशास्त्र के स्थायीभाव सांस्कृतिक रस के आधार हैं। शृ गार, हास्य आदि इसके उदाहरण हैं। रौद्र बीभत्स, भयानक आदि रसों के स्थायीभाव प्राकृतिक रस के आधार भी नहीं है। इन भावों म रस का अनुभव नहीं होता। इसी कारण वे काव्य मे भी केवल उदाहरण के रूप मे ही मिलते हैं।

शृ गार वीर, करुण शा त, वात्सल्य आदि के भाव प्राकृतिक होते हुए भी सांस्कृतिक रस के आधार बन सकते हैं। कि तु काव्यशास्त्र मे इनका विवेचन इस क्रम मे नहीं हुआ है।

का य मे भी इनके प्राकृतिक रूप ही अधिक प्रतिष्ठित हैं परिणाम यह है कि सांस्कृतिक रस की प्रतिष्ठा काव्य मे बहुत कम और काव्यशास्त्र ने उससे भी कम हुई है। आध्यात्मिक रस तथा सामा य रस के आध्यात्मिक रूप मे भी प्राकृतिक व्यक्तिवाद का अनुरोध रहा है। हमने पिछले अध्यायों काव्य मे और जीवन म सांस्कृतिक रस के स्वरूप और महत्व को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। रस के भेदों का विवेचन भी हम अपनी इसी सांस्कृतिक धारणा के अनुसार

करेंगे। इस विवेचन के अन्त मे विदित होता कि हमे रसो के परम्परागत भेद प्राकृतिक होने के कारण पूर्णत अमान्य है। हमारी सास्कृतिक धारणा के अनुरूप रसो के अन्य भेद कौनसे होगे, इनका सक्षिप्त विवरण हम इस अध्याय के अन्त मे देने का प्रयत्न करेंगे।

काव्यशास्त्र के इतिहास मे रस मीमासा का प्रारम्भ भरत के नाट्यशास्त्र से होता है। रस के स्वरूप और उसके आस्वादन का जो लक्षण भरत ने अपने आदि सूत्र मे स्थापित किया है, उसी का व्याख्यान और विवधन विविध प्रकार से काव्यशास्त्र के इतिहास मे होता रहा। इसी प्रकार रस के भेदो के सम्बन्ध मे भी भरत का आदि शासन अधिकाश आचार्यों को मान्य रहा है। भरत के द्वारा स्थापित आठ या नो रसा का खण्डन कदाचित् ही किसी आचार्य ने किया हो। भरत का रस विभाजन भी सामान्यत उनके रस सूत्र के समान ही मान्य रहा है। भरत के रस सूत्र की व्याख्या के अन्तगत ही विभिन्न आचार्य रसास्वादन की विभिन्न प्रणालियों की स्थापना करते रहे। रस के भेदा के सम्बन्ध म आचार्यों ने कुछ अधिक स्वतन्त्रता ली है। कुछ नये रसो की कल्पना करके आचार्य कवि भरत की मौलिक स्थापना करते रहे। आश्चर्य की बात है कि भरत तथा अन्य आचार्यों के मत मे रस के भेदो के अन्तगत विरोधी भावो का समावेश होते हुए भी किसी आचार्य ने रस विभाजन के मौलिक आधार का खण्डन करने की कल्पना नही की।

जिस प्रकार काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध म काव्य की रचना की स्थिति (जो हमारे मतानुसार समात्मभाव की स्थिति है) का विचार किसी आचार्य ने नही किया तथा जिस प्रकार रसास्वादन के सम्बन्ध मे काव्य के स्वरूपगत रस की ओर किसी आचार्य का ध्यान नही गया और साथ ही जिस प्रकार काव्य के रसास्वादन के सास्कृतिक रूप और आधार (जो हमारे मतानुसार कवि नट, सामाजिक आदि का विविध रूप समात्मभाव है) की ओर किसी आचार्य न ध्यान नही दिया उसी प्रकार रसो के विभाजन के सास्कृतिक आधार को जीवन और काव्य म प्रतिष्ठित करने की कल्पना भी किसी आचार्य ने नही की। काव्य शास्त्र इन सब विडम्बनाओ का कारण प्रकृति और व्यक्तिवाद का अनुरोध है। काव्यशास्त्र की रस मीमासा इस अनुरोध से कितनी प्रभावित है, इसका निदशन

हमने पिछले अध्यायों में किया है। इस अनुरोध का आदिसूत्र भरत के उस रससूत्र में है जो भारतीय काव्य मीमांसा का उद्गम है। जिस प्रकार इस रस सूत्र में प्रतिष्ठित रस का स्वरूप प्रकृति और व्यक्तिवाद से प्रभावित है उसी प्रकार भरत का रस विभाजन भी प्राकृतिक और व्यक्तिवादी धारणा पर अवलम्बित है। भरत के द्वारा प्रतिष्ठित रस के भेदों के विवरण और विवेचन से यह अधिक स्पष्ट होगा।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में प्रकट रूप से आठ रसों की स्थापना की है। ये आठ रस काव्यशास्त्र में प्रसिद्ध शृंगार, रौद्र वीर, बीभत्स, हास्य करुण, अद्भुत और भयानक हैं। इनके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के प्रारम्भ में आठ रसों की स्थापना करके आगे चलकर उन्होंने शान्त रस की महत्वपूर्ण स्थापना की है। एक प्रकार से वे शान्त रस को ही प्रधान और अन्य रसों का मूल मानते हैं। शृंगार में शान्तरस के उपयोगी न होने के कारण उन्होंने नाट्यशास्त्र के प्रारम्भ में शेष आठ रसों का ही प्रथम प्रस्ताव किया है। इन आठ रसों में भी भरत मुनि चार रसों को ही मौलिक मानते हैं। ये मौलिक रस शृंगार, वीर रौद्र और बीभत्स हैं। शेष चार रसों का प्रादुर्भाव इन्हीं से होता है। शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक रस का उद्भव होता है। इस प्रकार चार मौलिक रस आठ रसों के रूप में प्रकट होते हैं। अन्त में भरत ने उस शान्त रस को ही प्रधानता दी है, जो उनकी दृष्टि में नाटक में उपादेय नहीं है। उनके अनुसार शान्त ही मौलिक रस है। अन्य सभी भावों की उत्पत्ति शान्त रस से ही होती है, और शान्त में ही अन्तत उनका लय होता है।

> स्वस्व निमित्तमासाद्य शान्ताद्भाव प्रवर्तते।
> पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥
> —नाट्यशास्त्र ६।१०८

एक तत्व से अनेक रूपों का उद्भव एक प्रकार का दार्शनिक दृष्टिकोण है जो भारतीय चिन्तन में बहुत प्रभावशाली रहा है। यह बहुत कुछ वेदान्त के ब्रह्म कारणवाद के अनुरूप है। ब्रह्म भी शान्त और आनन्दमय है। वेदान्त में सृष्टि के समस्त भावों का उद्भव इसी आनन्दमय ब्रह्म से होता है। अन्तत इसी ब्रह्म में उनका विलय होता है। ब्रह्म सूत्रों का आरम्भिक सूत्र (जन्माद्यस्य-

यत) वेदान्त के इसी सिद्धान्त का सकेत करता है । उपनिषदो के यतो वा इमनि भूतानि जायन्ते येन जातानि, जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभि सविशान्ति तम्दिजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति । तैत्तिरीय उपनिषद ३।१ आदि मत्र इस सिद्धान्त के आधार हैं । उपनिषदो मे ब्रह्म के शान्त और आन दमय स्वरूप का भी निर्देश है (तज्जलनितिशान्त उपासीत छान्दोग्य उपनिषद ३।१४।१, आन दो ब्रह्मेति व्याजानात, आन दान् ह्येव इमानि भूतानि जायन्ते आदि) । इस शान्त और आनन्दमय ब्रह्म से विश्व के समस्त भावो का उदय होता है और इसी मे उनका निलय होता है । यह वेदान्त के तत्व ज्ञान का एक परिचित सिद्धान्त है । अभिनव गुप्त ने भरत के नाट्यशास्त्र की अभिनव भारती नामक टीका म इस तत्व ज्ञान के आधार का सकेत किया है *तत्वज्ञानतु सकलभावान्तर भिति स्थानीयँ सर्वस्थायिम्म स्थापितम् ।*

किन्तु शान्त रस को समस्त भावो का मूल और निलय मानते हुए भी व्यवहार मे भरत ने अन्य आठ रसो को ही नाटक का आधार माना है । इन रसो और इनके आधार भूत भावो के रूप आध्यात्मिक नही वरन् मनोवैज्ञानिक हैं । इन आठ रसो के *स्थायीभाव* मनुष्य के मन के परिचित विकार हैं । इन भावों को अध्यात्म से कोई सगति नही है । इनमे अहकार, स्वार्थ, आवेग आदि के अवच्छेद रहते हैं जिनका शान्त रस तथा ब्रह्म मे कोई स्थान नही है । इन सभी मनोविकारो का उपराम होता है, क्योकि ये चिरस्थायी नही होते । किन्तु इस उपराम से यह सिद्ध नही किया जा सकता कि शान्त म इनका निलय होता है और शान्त से ही इनकी उत्पत्ति होती है । सामान्यत शान्त स्थिति मे ये विकार उत्पन्न होते है और कालान्तर मे उपरत हो जाते हैं किन्तु शान्त की निर्द्वंपूर्ण स्थिति से इन विकारो की विक्षुब्ध स्थिति की कोई सगति नही है । वेदान्त के ब्रह्मवाद मे भी विश्व के विकारो के प्रसग मे ऐसी असगति का प्रश्न उठता है । वेदान्त का विवेचन हमारा अभीष्ट नहीं है । काव्यशास्त्र के प्रसग मे रसो के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन हम आगे करेंगे ।

अग्निपुराण मे भी रसो का विवरण कुछ दार्शनिक और आध्यात्मिक ढग से मिलता है । जिस प्रकार भरत ने शान्त रस को प्रधान और अन्य रसो का मूल माना है उसी प्रकार अग्निपुराण मे श्रृगार रस को प्रधान और अन्य रसो का मूल माना गया है । श्रृगार रस के मूल से अन्य रसो की उत्पत्ति का विवरण अग्नि-

पुराण मे इस प्रकार दिया गया है, वेदान्तों म जिसे ब्रह्म कहा गया है वह मात्र अक्षर आदि होने के साथ साथ स्वप्रकाश चैतन्य है तथा स्वत सिद्ध आनन्द उसका स्वरूप है। उस आनन्द की अभिव्यक्ति चैतन्य का चमत्कार अथवा रस है। उस आनन्द का प्रथम विकार अहकार है। अहकार से अभिमान उत्पन्न होता है। उसी अभिमान से रति उत्पन्न होती है जो व्यभिचारी आदि से पुष्ट होकर श्रगार रस कही जाती है। हास्य आदि उसी रति के भेद हैं। सत्व आदि गुणो के विस्तार से रति चार रूपों मे परिलिक्षत होती है। रति के ये रूप राग से श्र गार, तीक्ष्णता से रौद्र, गव से वीर और सकोच से वीभत्स रस की उत्पत्ति होती है। फिर श्रृ गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और वीभत्स से भयानक रस उत्पन्न होता है। रति का अभाव शान्त रस म प्रकट होता है। श्रगार रस की मौलिकता के अतिरिक्त अग्निपुराण का रस विवेचन बहुत कुछ भरत के समान है। दोनो म केवल इतना अन्तर है कि भरत शान्त रस को अन्य रसों का मूल मानते हैं तथा अग्निपुराण श्र गार रस को अन्य रसों का मूल मानता है। दोनो ने क्रमश शान्त और श्र गार से श्रृ गार, रौद्र, वीर और वीभत्स रसा की उत्पत्ति मानी है, तथा इनसे क्रमश हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रस उत्पन्न हुए हैं।

इस प्रकार भरत और अग्निपुराण मे काव्यशास्त्र के आरम्भ म ही उन नव रसो की स्थापना हुई है जो समस्त उत्तरकालीन परम्परा म मान्य रहे। सामान्य रूप से काव्यशास्त्र की परम्परा मे इन नव रसो को अलग अलग माना गया है। इनके स्थायीभाव भिन्न भिन्न हैं। अत ये रस भी एक दूसरे से विलक्षण हैं। इन रसों का स्वरूप एक दूसरे से इतना भिन्न है कि एक ही मौलिक रस से, चाहे वह शान्त हो अथवा श्र गार, इन सबकी उत्पत्ति की सगति पूर्ण व्याख्या नही की जा सकती। वस्तुत रौद्र वीभत्स, भयानक आदि शेष आठ रस श्रृ गार और शा त से स्वरूप मे भिन्न ही नही वरन् पूर्णत विपरीत हैं। रौद्र का क्रोध, वीभत्स की जुगुप्सा, भयानक का भय आदि श्र गार के माधुर्य और शा त के प्रसाद भाव के बिलकुल विपरीत हैं। इसी प्रकार भरत और अग्नि पुराण के मत मे चार प्रधान रसा से अन्य चार रसो की उत्पत्ति भी सगत नही है काव्य के रस की दृष्टि से ये नौ रस माननीय हैं अथवा नहीं यह एक बिल्कुल भिन्न प्रश्न का विवेचन हम आगे करेंगे। किन्तु मनोविकारो अथवा मनोभावों

के रूप मे ये नौ रस एक दूसरे से बिल्कुल विलक्षण हैं। इनमे कुछ रसो की एक दूसरे से समानता अथवा सगति हो सकती है फिर भी उनके स्वरूप का भेद स्पष्ट रहता है। अत इनमे से किसी एक को मौलिक रस तथा शेष रसो की उत्पत्ति का मूल मानना अथवा कुछ प्रधान रसो की उत्पत्ति मानना उचित नही है। इसी पकार आगे चलकर भोज ने अपने 'शृ गार प्रकाश' मे शृ गार को ही एकमात्र रस माना है तथा भवभूति ने उत्तर रामचरित मे करुण को ही एक मात्र रस कहा है और अन्य रसो को निमित भेद से जल के भ्रमर, तरग, बुनबुद आदि भेदो के समान करुण का विवत बताया है वह भी मान्य नही है। रसो के स्थायी भाव एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि उनको अलग अलग मानना ही उचित है। काव्यशास्त्र की परम्परा मे सामान्यत इन नौ रसो को पृथक पृथक माना गया है। यह मनोजगत से भावो की वास्तविक स्थिति के साथ पूणत सगत है।

भरत और अग्निपुराण के बाद भारतीय परम्परा मे आचाय और कवि सामान्यत इन नौ रसो को मानते रहे हैं। किन्तु इसके साथ साथ अनेक आचार्यों और कवियो ने कुछ नये रसो की भी उद्भावना की है। नवीन रसो के प्रस्ताव के रूप मे ही काव्यशास्त्र म रस के प्रसग का विस्तार हुआ है। रस के नवीन रूपो के उद्भावना की परम्परा का आरम्भ हमे भरत म ही मिलता है। भरत ने नाट्यशास्त्र के प्रसग मे पहले आठ रसो का ही प्रकट उल्लेख किया है। इन आठ रसो मे शान्त रस सम्मिलित नही है, क्योकि वह नाटक मे उपादेय नही है। कि तु आचाय की बात है कि नाट्यशास्त्र मे आगे चलकर भरत ने शान्त रस को प्रधान और अन्य रसो का मूल माना है। नाटक म उपादेय न होते हुए भी भरत ने शान्त रस को इतना महत्व दिया है यह अद्भुत है। भरत का मुनि होना और उन पर भारतीय अध्यात्म दशन का प्रभाव होना ही इस की एकमात्र व्याख्या हो सकता है। अस्तु भरत के अनुसार नाटक मे आठ ही रस उपादेय हैं। किन्तु काव्य मे नौ रस माननीय हैं। अग्निपुराण का मत भरत के ही समान है। नाटक म शान्त रस की उपादेयता को प्रथम बार प्रतिपादित करने का श्रेय आचाय उद्भट्ट ने ही प्रथम बार यह मत प्रकट किया है कि शान्त रस के अनुसार भी नाटक की, रचना हो सकती है। सस्कृत का प्रवोध च द्रोदय' नाटक तथा जय शकर प्रसाद का 'एक घूट जैसी रचनायें उद्भट के मत के समथन मे उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत की जा सकती है।

नाटक म क्रिया की प्रधानता होती है। भाव का वैभव भी उसम अभीष्ट है। शान्त रस मे क्रिया और भाव दोनो का अभाव होता है अत वह सामान्यत नाटक के अनुरूप नही है। किन्तु शा त रस के आधार पर भी नाटक की रचना की जा सकती है, यद्यपि क्रिया और भाव के अनुरागी सामान्य पाठको के लिए ऐसा नाटक अधिक रुचिकर न होगा। 'प्रबोध च द्रोदय' विद्वानो और सामान्यजनो म अधिक लोकप्रिय नही। शाकुन्तल आदि की भाँति उसका अभिनय नही होता। किन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से आचाय उद्भट का मत असमीचीन नही है। सिद्धान्त की दृष्टि से शान्त रस भी नाटक का प्रधान रस बन सकता है चाहे वह नाटक अधिक लोक प्रिय न हो। काव्य मे क्रिया इतनी आवश्यक नही है क्योकि काव्य का अभिनय नही, पाठ होता है। अत काव्य म शा त रस का महत्वपूर्ण स्थान है। यह भरत तथा अन्य सभी परवर्ती आचार्यों, को मान्य है। सामान्यत काव्यो म शृगार, वीर और करुण की प्रधानता है। किन्तु शान्त रस के महत्वपूर्ण स्थल भी काव्यो में प्रचुरता से मिल सकते हैं।

सामान्यत सभी आचाय और कवि इन नौ रसो को मानते हैं। किन्तु काव्यशास्त्र की रस परम्परा इन नौ रसो की स्थापना म ही समाप्त नही हो जाती। आगे चलकर आचार्यों और कवियो ने नये नये रसो की उद्भावना करके रसको की सख्या को बढाया है। भरत के द्वारा काव्य म और उद्भट के द्वारा नाटक मे शान्त रस की स्थापना के बाद नव रसो की परम्परा पूण हो जाती है और वह आगे बढती है। उद्भट के बाद रुद्रट ने अपने 'काव्यालकार' मे एक दसवा रस माना है जिनको उन्होने 'प्रेयान्' कहा है। 'प्रेयान् का स्थायी भाव स्नेह है। स्नेह अपत्य प्रेम का वह भाव है जो माता पिता का सतान के प्रति होता है। हम इसे वात्सल्य का भाव कह सकते हैं जो प्रेम का ही एक रूप है। शृ गार रस मे दाम्पत्य प्रेम का आधार होता है और प्रेयान् म अपत्य प्रेम का। किन्तु रुद्रट ने इसे शृ गार रस के अ तगत न मान कर एक स्वतन्त्र रस माना है। आगे चलकर कुछ आचार्यों ने रति के दो रूप मानकर शृगार म प्रेयान् का अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया है। किन्तु प्रेम के दोनो रूपा म बहुत अन्तर है। अत शृ गार और 'प्रेयान्' को अलग अलग मानना ही उचित है। भोज न भी रुद्रट के समान प्रेयान्' रस की पृथक सत्ता स्वीकार की है।

आचार्य विश्वनाथ ने 'प्रेयान्' के स्थान पर उसे 'वात्सल्य' का नाम दिया है, जो अधिक स्पष्ट और समीचीन है। भामह और दण्डी ने भी 'प्रेयस' को दसवां रस माना है। दण्डी के अनुसार प्रेयस रस श्रृंगार के बहुत निकट है। किन्तु दोनों में भिन्नता है। प्रेयस का स्थायीभाव प्रीति है, श्रृंगार का रति। प्रेयस में अपत्य प्रेम है और श्रृंगार में दाम्पत्य। अतः दण्डी ने भी रुद्रट के समान प्रेयस को एक स्वतन्त्र रस माना है। इस प्रकार अपत्य प्रेम अथवा वात्सल्य भाव को स्वतन्त्र मानकर रसों की संख्या दस हो जाती है। रुद्रट, भोज, विश्वनाथ, भामह और दण्डी वात्सल्य को एक स्वतन्त्र रस, अतएव रसों की संख्या को दस, मानते हैं।

वात्सल्य रस के बाद रसों की गणना में एकादश रस के रूप में भक्ति रस का प्रसंग आता है। भक्ति का अर्थ भगवान के प्रति प्रीति है। यदि हम प्रीति को एक सामान्य भाव मानें तो जिस प्रकार वात्सल्य का अन्तर्भाव श्रृंगार में करने का प्रयत्न किया गया है उसी प्रकार भक्ति का अन्तर्भाव भी श्रृंगार के अन्तर्गत हो सकता है। भक्ति में दाम्पत्य भाव की भी प्रधानता मिलती हैं। अतः वात्सल्य की अपेक्षा भक्ति को श्रृंगार के अधिक निकट माना जा सकता है। एक प्रकार से वात्सल्य की अपेक्षा भक्ति श्रृंगार के अधिक निकट है। श्रृंगार की प्रीति में स्वार्थ और अलंकार का सश्लेष रहता है तथा प्राकृतिक विलास का प्रसंग रहता है। कम से कम सामान्य व्यवहार में 'श्रृंगार' पद इन्हीं अर्थों में रूढ़ हो गया है। वात्सल्य और भक्ति की प्रीति में अहंकार स्वार्थ और प्राकृतिक विलास के भाव नहीं रहते। उनमें निस्वार्थ निरहंकार और परार्थ भाव की प्रधानता रहती है। वात्सल्य और भक्ति दोनों में ही ये भाव समान रूप से रहते हैं। अतः उनमें बहुत समानता है तथा प्रसिद्ध श्रृंगार से दोनों भिन्न हैं। वात्सल्य के रूप में कृष्ण की भक्ति बहुत प्रसिद्ध है। यह वात्सल्य की भक्ति भारतीय धर्म परम्परा की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। किन्तु भक्ति के सख्य, दास्य आदि अनेक भाव हैं। वात्सल्य का भाव लौकिक और भक्ति का भाव अलौकिक है। वात्सल्य का एक प्राकृतिक आधार भी है। शिशु की लघुता और असमर्थता का आधार भी उसमें खोजा जा सकता है। सृजन के सौन्दर्य का भी उसमें कुछ योग रहता है। भक्ति के भाव में ये सब प्रसंग नहीं रहते।

भगवान लघु नही महान् हैं, असमथ नही सर्व समथ हैं। अत शिशुरूप मे भी उनकी उपासना वात्सल्य से भिन्न है।

भक्ति मे एक दिव्य पवित्रता का भाव रहता है, जो कदाचित् वात्सल्य म दुलभ है। अत भक्ति को वात्सल्य से भिन्न मानना ही उचित है। ज्ञात नही कि किसी आचाय ने वात्सल्य मे भक्ति का अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया है अथवा नही। किन्तु दण्डी ने यह अभिमत प्रकट किया है कि जब प्रयस भाव भगवान के प्रति होता है तो उसे भक्ति भाव कहते हैं और यह भक्ति भाव जब परिपक्व अवस्था मे पहुँच जाता है तो भक्ति रस की उत्पत्ति होती है। दण्डी का 'प्रेयस' वात्सल्य का ही पर्याय है। भक्ति रस का यह रूप दण्डी के अनसार वात्सल्य के ही अ तगत रहता है। अभिनव गुप्त, विश्वनाथ आदि अनेक आचार्यों ने भक्ति रस को शा तरस के ही अ तगत माना है। किन्तु वस्तुत जिस प्रकार भक्ति रस शृ गार और वात्सल्य से भिन है, उसी प्रकार वह शा त रस से भी विलक्षण है। शा त रस का सम्ब घ मोक्ष से है उसमें वैराग्य की भावना है, कि तु भक्ति रस मे अनुराग की प्रमुखता रहती है। इसके अतिरिक्त शा त रस निर्वेद पर आश्रित है। निर्वेद मे सभी भावो का अभाव हो जाता है। किन्तु भक्ति मे सभी श्रेष्ठ भावो का अवकाश है। निर्वेद भाव शून्य है और भक्ति का अनुराग अनेक भावों से सम्प न है।

अत शा त और भक्ति मे अमावस्या और पूर्णिमा का अ तर है। एक में निलय की निस्तब्धता है दूसरे मे भावो का उल्लास है। अत शा त रस और भक्ति रस की भि न भावना ही उचित है। भक्ति मे भी शा ति का अन्तर्भाव रहता है। कि तु भक्ति की यह शा ति निर्वेद और निलय की शा ति नही वरन् श्रद्धा, समपण, कृताथता और सात्विक अनुराग की परिपूण शा ति है। अत अनेक दृष्टियो से भक्ति को स्वत त्र और पृथक रस मानना ही उचित है। मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति को दसवा रस माना हैं और उसे सवश्रेष्ठ रस कहा है। रूप गोस्वामी ने उज्वल नीलमणि मे उसे उज्वल रस कहा है। उनके अनुसार भक्ति ही प्रधान रस है, और अ य रस उसके अ तगत हैं। भक्त इश्वर को ही सवस्व मानते हैं। अत भक्ति रस की यह महिमा उनकी भावना के अनुरूप है।

भक्ति को सम्मिलित कर रसो की सख्या ग्यारह हो जाती है। रूप गोस्वामी भक्ति रस के बारह रूप मानते हैं। भक्ति के बारह रूपो मे ही समस्त का अ तर्भाव है। बारह भक्ति रसो के रूप इस प्रकार है—शा त, प्रीति, प्रेयस, वात्सल्य, मधुर अथवा उज्वल, हास्य, अदभूत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स। इनम प्रथम पाच भक्ति रस मुख्य हैं। शेष सात रस गौण हैं। इनका समावेश प्रथम पाच रसो के अ तगत सम्भव है।

हरपाल देव ने तेरह रस माने है। मा य नव रसो के अतिरिक्त वे जिन चार अ य रसो को मानते हैं उनके नाम इस प्रकार है—वात्सल्य, सभोग, विप्रलम्भ और ब्रह्म रस। वात्सल्य तो रुद्रट के समय से ही मा य है। कि तु सभोग, विप्रलम्भ और ब्रह्म नवीन रस हैं। सभोग और विप्रलम्भ को सामा यत शृ गार रस के दो भेद माना जाता है। कि तु हरपाल देव ने इ हे एक दूसरे से पृथक माना है। वे शृ गार रस को उज्जवल और पवित्र मानते हैं। उनके अनुसार वह उत्तम प्रकृति के मनुष्यो के लिए है। अधम प्रकृति के मनुष्यो मे और पशु पक्षियों मे जो प्रेम है वह शृ गार रस नही बल्कि सम्भोग है। हम इस प्रकार कह सकते हैं कि प्राकृतिक प्रेम सम्भोग रस है और मनुष्यो का परिष्कृत प्रेम हरपालदेव का अभीष्ट शृ गार है। सयोग, शृ गार और सम्भोग दोनो ही आन ददायक हैं किन्तु कदाचित् हरपाल देव के मत मे दोनो का आन द भि न शृ गार का प्रयोग कदाचित् उ होने सयोग शृ गार के ही अथ मे किया है। सयोग शृ गार आन ददायक है। कि तु विप्रलम्भ आन ददायक नही।

अत हरपालदेव ने विप्रलम्भ को स्वत त्र रस माना है। ब्रह्म रस की कल्पना हरपालदेव की एक मौलिक और महत्वपूण देन है। जिस प्रकार वात्सल्य और भक्ति रस प्रसिद्ध नव रसो से भि न नवीन रस है, उसी प्रकार ब्रह्म रस का भी एक नवीन और बारहवा रस माना जा सकता है। प्राय आचार्यों ने भक्ति का अन्तर्भाव शा त रस मे करने का प्रयत्न किया है। ब्रह्म रस का अ तर्भाव भी शा त रस हो सकता है क्योकि ब्रह्म, शा त तथा समस्त भावो का उपराम है किन्तु हरपाल देव के मत मे दोनो के स्थायीभाव भि न हैं। शा त रस का स्थायीभाव निर्वेद है और ब्रह्म रस का स्थायीभाव आन द है। अत ब्रह्म शा त रस से भि न है। ब्रह्म रस मे शा ति है। किन्तु उसके साथ

आनन्द भी है। शान्त रस में आनन्द नहीं है। भक्ति रस से ब्रह्म रस का भेद करने का प्रयत्न हरिपाल देव ने नहीं किया, किन्तु भारतीय दर्शन की परम्परा में यह भेद स्पष्ट है। भक्ति समर्पण और सम्बन्ध का भाव है। भक्ति का स्थायीभाव प्रीति है जो भक्त और भगवान् का पवित्र सम्बन्ध है। ब्रह्म समस्त सम्बन्धों से परे हैं। अत उसमें प्रीति का अवकाश नहीं है। भक्ति और प्रीति में द्वैत भाव है। ब्रह्म में अद्वैत भाव है। 'ब्रह्मरस' प्रीति का आनन्द नहीं वरन् अद्वैत और तादात्म्य का आनन्द है। अत उसको भक्ति से पृथक स्वतन्त्र रस मानना ही उचित है।

ब्रह्म रस को स्वीकार कर रसों की संख्या बारह हो जाती हैं। ब्रह्म के साथ अचानक माया का स्मरण हो जाता है। वह ब्रह्म की शक्ति और संगिनी है। ब्रह्म रस की स्थापना करते समय हरिपालदेव ने माया का स्मरण नहीं किया। भानुदत्त ने अपनी 'रस तरंगिनी' में माया रस की स्थापना करके इस अभाव की पूर्ति की है। ज्ञात नहीं कि भानुदत्त को यह आशंका क्यों हुई कि माया रस का शान्त रस में अन्तर्भाव किया जा सकता है। अत उन्होंने शान्त रस से माया रस का भेद करने का प्रयत्न किया है। माया रस प्रवृत्ति मूलक है और शान्त रस निवृत्ति मूलक है। दोनों की दिशा भिन्न है। माया से पलायन करके ही मनुष्य शान्त रस की ओर अग्रसर होता है। शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद और आधार तत्वज्ञान है। भानुदत्त ने माया रस का स्थायी भाव मिथ्या ज्ञान माना है। किन्तु मिथ्या ज्ञान कोई भाव नहीं है। ज्ञान स्वरूपउदासीन होता है। वह प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकता।

अत मिथ्या ज्ञान से जनित मोह के भाव को माया रस का स्थायीभाव मानना अधिक उचित होगा। वस्तुत माया रस सम्बन्ध शान्त रस से नहीं वरन् अन्य आठ रसों से अधिक हैं। वे सभी रस प्रवृत्ति रूप हैं तथा उनमें मिथ्या ज्ञान तथा मोह का आधार भी खोजा जा सकता है। भानुदत्त ने यह प्रश्न नहीं किया किन्तु शान्त के अतिरिक्त अन्य आठ रसों की माया रस के प्रपंच के रूप में व्याख्या की जा सकती है। रस और ब्रह्म को आनन्दमय मानते हैं। आनन्द मय होने के कारण रस ब्रह्म स्वरूप हैं। माया और ब्रह्म एक दूसरे के विपरीत हैं। अत माया रस को मानने में अनेक आचार्यों को आपत्ति है, किन्तु

यह आपत्ति सगत नही है। यदि रस ब्रह्म स्वरूप है तो उसके अनक भेद नही हो सकते। अनेक रस मानने पर उन्हे ब्रह्म का प्रपच ही मानना होगा। यह प्रपच ही माया है। अतएव भरत के आठ रस माया रस के ही विभिन्न रूप बन जाते हैं। माया रस की कल्पना रस मे प्रवृत्ति और मोह क स्थान की ओर ध्यान दिलाती है। माया रस के सूत्र को ग्रहण कर रस के वास्तविक स्वरूप और उनके मान्य भेदो का निरूपण काव्यशास्त्र की प्रचलित परम्परा की अपेक्षा अधिक सगति पूवक किया जा सकता है। अग्निपुराण और उसके अनुसार भोज ने अहकार से समस्त रसो की उत्पत्ति मानी है। अहकार माया की मूल ग्रथि है। अहकार के सूत्र से प्रसिद्ध आठ रसो म माया रस का प्रपच खोजा जा सकता है। आगे चलकर इसी अध्याय मे अपने मौलिक रस विवेचन के प्रसग म हम इस विषय की चर्चा फिर करेंगे।

इस प्रकार काव्यशास्त्र की परम्परा म रसो की सख्या उत्तरोत्तर बढती रही। प्रसिद्ध नव रसो के अतिरिक्त वात्सल्य, भक्ति, ब्रह्म रस और माया रस की स्वतन्त्र स्थापना स मुख्य रसो की सख्या तेरह हो जाता है इनके अतिरिक्त अनेक आचार्यों न कुछ अन्य भावो की रस के रूप मे स्थापना करन का प्रयत्न किया है। किन्तु उनके प्रतिपादित य प्रकीण रस किसी मुख्य रस के उपभेद है। अतएव मुख्य रस म ही उनका अन्तर्भाव हो जाता है। अस्तु इन प्रकीण रसो की स्थापना काव्यशास्त्र की परम्परा मे प्रतिष्ठा प्राप्त न कर सकी। इन तेरह रसा मे भी सभी रसो को सभी आचाय मुख्य और स्वतन्त्र नही मानते। भिन्न भिन्न आचार्यों ने कुछ मुख्य रसा अथवा किसी एक मुख्य रस को प्रधान तथा शेष रसो को गौण माना है। इन गौण रसो को मुख्य रसो अथवा मुख्य रस से उद्भुत सिद्ध करने का प्रयत्न भी उन्होने किया है। इस प्रकार की धारणा हम काव्य शास्त्र के प्रारम्भ से ही मिलती है। काव्यशास्त्र के आदि आचाय भरत ने शान्त रस को समस्त रसो का मूल माना है। शान्त रस से जिन चार मुख्य रसों की उत्पत्ति होती हैं वे शृगार, रौद्र, वीर और वीभत्स है। इनसे क्रमश हास्य करुण अद्भुत और भयान इन चार गौण रसो की उत्पत्ति होती है। अग्निपुराण मे शृगार को मूल रस माना गया है तथा भरत के अनुरूप चार मुख्य और उनके चार गौण रसो की उत्पत्ति मानी गई है। भोज भी अग्निपुराण के अनुसार शृगार को ही प्रधान रस तथा अन्य रसो को उससे

उत्पन्न मानते हैं। नागार्जुन ने श्रृंगार, हास्य और भय को मुख्य माना है। करुण के प्रति भवभूति की निष्ठा संस्कृत के इतिहास में प्रसिद्ध है। वे करुण को ही एक मात्र रस मानते हैं तथा उनके मत में अन्य रस करुण के ही विवर्त हैं जिस प्रकार भ्रमर, बुद्बुद, तरंग आदि जल के विवर्त हैं। काव्य के रसों में किसी एक को मूल रस तथा कुछ रसों को प्रधान और शेष रसों को गौण मानने की यह परम्परा हिन्दी के इतिहास में भी चलती रही। कविदेव ने अपने 'भवानी विलास' में श्रृंगार, वीर और शान्त रसों को ही मूल रस माना है। उनके मत में अन्य रस इन तीन मूल रसों के अंग हैं। डाक्टर बलदेव प्रसाद मिश्र ने प्रेम, रस करुण और शान्त ये तीन मुख्य रस माने हैं। बाबू श्यामसुन्दर दास रस को भेद रहित और एक मानते हैं। किन्तु उन्होंने उस एक रस का स्वरूप स्पष्ट नहीं किया तथा परम्परा में मान्य अनेक रसों का निराकरण अथवा समन्वय नहीं किया। काव्यशास्त्र के अन्य प्रमुख आचार्य विभिन्न रसों को स्वरूपतः पृथक मानते हैं। इसी स्वरूप भेद के आधार पर आचार्यों ने नये नये रसों की स्थापना की है और रसों की संख्या आगे बढ़ती रही है।

इस सम्बन्ध में रसों को अनेक और पृथक पृथक मानने वाले आचार्यों का मत ही अधिक समीचीन है। काव्यशास्त्र में रस के भेदों की कल्पना मनोभाव अथवा मनोवेगों पर अवलम्बित है ये मनोभाव एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि इन पर आश्रित रसों को स्वरूपतः अलग अलग मानना ही उचित है। इनमें भिन्नता ही नहीं कुछ मनोभाव तो श्रृंगार और वीभत्स हास्य तथा भयानक का भांति एक दूसरे के विपरीत हैं। ऐसे विपरीत मनोभावों का उद्गम एक सामान्य भाव से कैसे सम्भव हो सकता है? श्रृंगार, करुण अथवा शान्त से अन्य भाव इतने भिन्न हैं कि एक ही रस से इनकी व्युत्पत्ति समीचीन नहीं जान पड़ती। उपनिषदों से जिस एक आध्यात्मिक रस का स्मरण कुछ आचार्यों ने किया है उससे भी परस्पर विरोधी मनोविकारों की उत्पत्ति संगत नहीं दिखाई देती। इस संगति में केवल एक संदिग्ध सूत्र है कि सभी रसों को आनन्दमय माना जाता है। आनन्द सभी रसों का सामान्य लक्षण है। काव्य के सम्बन्ध में इस धारणा का आधार ब्रह्म का आनन्दमय स्वरूप है। इसीलिए काव्य के आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर की संज्ञा दी है। ब्रह्मानन्द और काव्यानन्द में केवल इतना अन्तर माना जाता है कि ब्रह्मानन्द पूर्णतः निरवच्छिन्न है तथा

काव्यानन्द मे रति ग्रादि के अवच्छेद रहते हैं। म यथा ग्रानन्द रूप स दोनो म समानता है।

किन्तु प्रिय ग्रौर ग्रप्रिय दोना प्रकार के मनोभावो के साथ इस ग्रानन्द की सगति कैसे हो सकती है इसका समाधान ग्राचार्यों न नही किया। रौद्र वीभत्स, भयानक ग्रादि रसो म कसा ग्रानन्द है इस उपपत्ति पूवक नही बताया गया है। यदि इन रसो म ग्रानन्द है तो य शृगार ग्रौर करुण की भाति काव्य मे विपुलता से क्यो नही मिलते ? यह कहा जाता है कि काव्य म वे रस भी ग्रानन्दमय बन जात हैं जो जीवन म ग्रानन्दमय नही हैं। किन्तु व किस प्रकार ग्रानन्दमय बन जात हैं इसकी व्याख्या नही की गई है। ग्राश्चय की बात है कि एक ग्रोर तो काव्य की रसानुभूति का प्राकृतिक व्यक्तिवाद क ग्रनुरूप साक्षात् जीवन के ग्रनुकूल माग से समझाने का प्रयत्न किया गया है ग्रौर दूसरी ग्रोर रौद्र वीभत्स ग्रादि रसो का जीवन क विपरीत ग्रानन्दमय माना गया है। सभी रसो को ग्रानन्दमय बनाने के लिए भावना क साधारणीकरण ग्रौर भोग के सत्वोद्रेक की कल्पना की गई है। साधारणीकरण काव्यशास्त्र का बहुमान्य सिद्धान्त बन गया है। किन्तु मुख्यत शृगार के ग्राधार पर ही उसकी व्याख्या हुई है।

रौद्र, वीभत्स भयानक ग्रादि के ग्राधार पर उसकी व्याख्या करने पर उसकी ग्रसगतिया ग्रनावृत्त हो सकेंगी। इन रसो म ग्राश्रय ग्रालम्बन, स्थायीभाव ग्रादि किसी के साथ हमारा साधारणीकरण नही होता। यदि होता भी है तो वह जीवन म प्राप्त इन रसो के प्रभाव के समान ही ग्रानन्दमय नही वरन् उसके विपरीत होता है। सत्व का उद्रेक होता है यह बहुत सदिग्ध है। करुण म उसका कारण साधारणीकरण नही वरन् समात्मभाव है। करुण की करुणा मे इस समात्मभाव को जाग्रत करने की ग्रद्भुत शक्ति है। शृगार ग्रौर वीर क सात्विक रूप मे इसकी सद्भावना हो सकती है। किन्तु काव्य म इनका चित्रण सात्विक रूप म नही हुग्रा है। फिर सात्विक रूप म इनके चित्रण से सत्व का उद्रेक काव्य का चमत्कार नही, जीवन का सहज प्रभाव है। रौद्र, वीभत्स भयानक ग्रादि रस स्वरूप स ही सात्विक नहीं है, ग्रौर न सात्विक रूप म इनका चित्रण किया जा सकता है। ग्रत ये सत्वोद्रेक के प्रेरक बन कर ब्रह्मानन्द से सगत नही हो सकते।

सत्य यह है कि काव्य में प्रसिद्ध रसों में प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार के मनोभाव समान रूप से आनन्दमय नहीं हैं। काव्य में अप्रिय मनोभाव किस प्रकार आनन्दमय बन जाते हैं यह सिद्ध करना कठिन है। हमने पिछले अध्यायों के विवरण में संकेत दिया है कि काव्य का स्वरूपगत आनन्द उसके रूप अथवा सौंदर्य का आनन्द है। सभी प्रकार के भाव इस आनन्द के उपकरण बन सकते हैं क्योंकि यह आनन्द काव्य के उपादान रूप भाव पर नहीं वरन् अपने रूपगत सौंदर्य पर निर्भर करता है किन्तु काव्यानन्द के इस स्वरूप की स्थापना किसी आचार्य ने नहीं की है। साधारणीकरण और अभिव्यक्तिवाद का बहुमान्य सिद्धान्त काव्य के स्वरूपगत आनन्द की धारणा पर निर्भर नहीं वरन् जीवन के अनुरूप रसानुभूति की धारणा पर निर्भर है। रौद्र वीभत्स आदि को रस मानना इस धारणा के विपरीत है, क्योंकि ये जीवन में रसमय अथवा आनन्दमय नहीं होते। रस आनन्दमय होता है, यह सामान्य धारणा तो उपनिषदों के अध्यात्मवाद से ही आई है किन्तु काव्य में रसों का विभाजन इस धारणा के अनुरूप नहीं हुआ है। काव्य में रसों का अवतार नाटक के मंच से हुआ है। नाटक में प्रस्तुत होने पर शृंगार वीर रौद्र, करुण, अद्भुत, भयानक आदि सभी भाव दर्शकों का अनुरंजित करते हैं।

इसका कारण यह नहीं है कि दर्शकों का इनके साथ साधारणीकरण तथा तादात्म्य होता है। अप्रिय भावों के सामान्य में इसका कारण विपरीत है। वह कारण यह है कि नाटक में प्रदर्शित होने पर ये भाव उन्हें व्यक्तिगत रूप से प्रभावित करते हैं, अतएव प्रिय नहीं लगते। नाटक के रंगमंच से प्रस्तावित रस विभाजन मनुष्य के मनोविकारों के अनुरूप हैं। उस विभाजन का आधार आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक न होकर प्राकृतिक है। इसीलिए काव्य के रसास्वादन और आध्यात्मिक रस के साथ इन रसों की संगति स्थापित करना कठिन रहा है—जहाँ भी आचार्यों ने इसका प्रयत्न किया है वहाँ इस संगति की स्थापना में अनेक असंगतियाँ उत्पन्न हुई हैं। संगति की स्थापना में ही संलग्न रहने के कारण इन असंगतियों की ओर आचार्यों तथा आलोचकों का ध्यान नहीं गया। हिन्दी साहित्य में भी अभी तक सभी आचार्य साधारणीकरण का ही समाधान और पिष्टपेषण करते रहे हैं। हमने पिछले अध्यायों के विवरणों में काव्यशास्त्र की उन असंगतियों को अनावृत्त करने का प्रयत्न किया है।

वस्तुत, काव्यशास्त्र का रस विभाजन न आध्यात्मिक रस से प्रसूत है और न काव्य के सौंदर्य के स्वरूपगत रस पर आश्रित है। यथार्थ में वह जीवन के मनोभावों पर अवलम्बित है। ये मनोभाव प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार के होते हैं। प्रिय मनोभावों के अनुभव सुखमय और स्पृहणीय होते हैं यद्यपि उनका सुख केवल अहंकार मूलक प्राकृतिक आनन्द है। अप्रिय मनोभाव से बचकर हम प्रसन्न होते हैं। इसी कारण दूसरों के दुख में हमारी रुचि होती है। मनुष्य का अहंकार मूलक प्राकृतिक दृष्टिकोण यही है। सहानुभूति का दृष्टिकोण यही है। सहानुभूति का दृष्टिकोण प्राकृतिक से अधिक सांस्कृतिक है। किन्तु सामान्यतः मनुष्य प्रकृति के शासन में रहता है। पिछले अध्याय में हमने नाटक के दशकों में प्रकृति की प्रधानता प्रदर्शित की है। बहुत नाटक के प्रसिद्ध आठ रस मनुष्य के प्राकृतिक मनोभाव हैं। सामान्यतः अहंकार के दो रूपों पर अधिकांश रसों की कल्पना अवलम्बित है। पद्म पुराण में प्रतिपादित अहंकार से रसों की उत्पत्ति इस प्राकृतिक दृष्टिकोण से संगत हो सकती है। जीवन में इन भावों का आश्रय अहंकार की इकाई में सीमित व्यक्ति होता है। वह भावात्मक और निषेधात्मक रूप में इन रसों से प्रभावित होता है। इनमें प्रिय भाव सुखमय और स्पृहणीय होते हैं। किन्तु अप्रियभाव नहीं होते। इसीलिए इन्हें काव्य का रस भी नहीं बताया जा सकता। काव्य में ये भाव इतने अल्प परिणाम में मिलते हैं कि इनकी अल्पता का तथ्य स्वयं इस बात का समर्थन करता है कि वे काव्य में रस के अवलम्ब नहीं बन सकते।

प्रसिद्ध नव रसों में एक शान्त रस ही ऐसा है जिसमें प्राकृतिक प्रभाव नहीं है। शान्त रस का सम्बन्ध किसी भी मनोभाव से नहीं है। वह समस्त मनोभावों का अभाव है। उसमें कोई उद्दीपन और आवेग नहीं होता। इस दृष्टि से शान्त रस अन्य रसों के भिन्न ही नहीं विपरीत है। अन्य रसों की दृष्टि से तो उसे रस का अभाव मानना चाहिए। नव रसों के अतिरिक्त जो रस कुछ आचार्यों ने माने हैं उनमें वात्सल्य और भक्तिरस में भी प्रकृति का प्रभाव कम दिखाई देता है। इन रसों में दूसरे के प्रति भाव की प्रबलता होती है। संतान और भगवान के प्रति वात्सल्य और भक्ति के भाव में अहंकार बहुत मन्द हो जाता है। नाटक के आठ रसों में जहां स्वार्थ का भाव प्रबल रहता है, वहां वात्सल्य और भक्ति में परार्थ भाव अधिक होता है। ब्रह्म रस में तो

सत्य यह है कि काव्य मे प्रसिद्ध रसो मे प्रिय और अप्रिय दोनो प्रकार के मनोभाव समान रूप से आन दमय नही है। काव्य मे अप्रिय मनोभाव किस प्रकार आन दमय बन जाते हैं यह सिद्ध करना कठिन है। हमने पिछले अध्याया के विवरण म सकेत दिया है कि काव्य का स्वरूपगत आन द उसके रूप अथवा सौ दय का आन द है। सभी प्रकार के भाव इस आनन्द के उपकरण बन सकते हैं, क्योंकि यह आन द काव्य के उपादान रूप भाव पर नही वरन् भवन रूपगत सौ दय पर निर्भर करता है कि तु काव्यान द के इस स्वरूप की स्थापना किसी आचाय ने नही की है। साधारणीकरण और अभिव्यक्तिवाद का बहुमान्य सिद्धा त काव्य के स्वरूपगत आन द की धारणा पर निभर नही वरन् जीवन के अनुरूप रसानुभूति की धारणा पर निभर है। रौद्र बीभत्स आदि को रस मानना इस धारणा के विपरीत है, क्याकि ये जीवन म रसमय अथवा आन दमय नही होते। रस आन दमय होता है, यह सामान्य धारणा तो उपनिषदा के अध्यात्मवाद से ही आई है कि तु का य म रसो का विभाजन इस धारणा के अनुरूप नही हुआ हैं। काव्य म रसो का अवतार नाटक के मच स हुआ है। नाटक म प्रस्तुत होने पर शृगार, वीर रौद्र, करुण, अद्भुत, भयानक आदि सभी भाव दशको का अनुरजित करते हैं।

इसका कारण यह नही है कि दशका का इनके साथ साधारणीकरण तथा तादात्म्य होता है। अप्रिय भावा के सामान्य म इसका कारण विपरीत है। वह कारण यह है कि नाटक म प्रदर्शित होने पर ये भाव उन्हे व्यक्तिगत रूप से प्रभावित करते हैं अतएव प्रिय नही लगते। नाटक के रगमच स प्रभावित रस विभाजन मनुष्य के मनोविकारा के अनुरूप हैं। उस विभाजन का आधार आध्यात्मिक तथा सास्कृतिक न होकर प्राकृतिक है। इसीलिए काव्य के रस स्वाभाविक और आध्यात्मिक रस के साथ इन रसा की सगति स्थापित करना कठिन रहा है—जहा भी आचार्यों ने इसका प्रयत्न किया है वहाँ इस सगति की स्थापना म अनक असगतियाँ उत्पन्न हुई हैं। सगति की स्थापना म ही व्यस्त रहने के कारण इन असगतिया की ओर आचार्यों तथा आलोचका का ध्यान नहीं गया। हिन्दी साहित्य म भी अभी तक सभी आचाय साधारणीकरण का ही समाधान और पिष्टपेषण करत रहे हैं। हमने पिछले अध्याया के विवरणो के काव्यशास्त्र की उन असगतियों को अनावृत करने का प्रयत्न किया है।

वस्तुत, काव्यशास्त्र का रस विभाजन न आध्यात्मिक रस से प्रसूत है और न काव्य के सौंदय व स्वरूपगत रस पर आश्रित है। यथाथ मे वह जीवन के मनोभावो पर अवलम्बित है। ये मनोभाव प्रिय और अप्रिय दोनो प्रकार के होते है। प्रिय मनोभावो के अनुभव सुखमय और स्पृहणीय होते हैं यद्यपि उनका मूल केवल अहकार मूलक प्राकृतिक आनन्द है। अप्रिय मनोभाव स बचकर हम प्रसन्न होते हैं। इसी कारण दूसरो के दुख म हमारी रुचि होती है। मनुष्य का अहकार मूलक प्राकृतिक दृष्टिकोण यही है। सहानुभूति का दृष्टिकोण यही है। सहानुभूति का दृष्टिकोण प्राकृतिक स अधिक सास्कृतिक है। किन्तु सामा यत मनुष्य प्रकृति के शासन म रहता है। पिछले अध्याय म हमने नाटक के दशको म प्रकृति की प्रधानता प्रदर्शित की है। बहुत नाटक के प्रसिद्ध आठ रस मनुष्य के प्राकृतिक मनोभाव है। सामा यत अहकार के दा रूपो पर अधिकाश रसा की कल्पना अवलम्बित है। पदम पुराण म प्रतिपादित अहकार से रसा की उत्पत्ति इस प्राकृतिक दृष्टिकोण से सगत हो सकती ह। जीवन म इन भावो का आश्रय अहकार की इकाई म सीमित व्यक्ति होता ह। वह भावात्मक और निशधात्मक रूप म इन रसा स प्रभावित होता है। इनम प्रिय भाव सुखमय और स्पृहणीय होत हैं। कि तु अप्रियभाव नही होते इसीलिए इन्हे काव्य का रस भी नही बताया जा सकता। काव्य म य भाव इतने अल्प परिणाम म मिलते हैं कि इनकी अल्पता का तथ्य स्वय इस बात का समथन करता है कि व काव्य म रस क अवलम्ब नही बन सकत।

प्रसिद्ध नव रसो में एक शा त रस ही ऐसा है जिसम प्राकृतिक प्रभाव नही है। शान्त रस का सम्बन्ध किसी भी मनोभाव स नही ह। वह समस्त मनोभावो का अभाव है। उसम कोई उद्दीपन और आवेग नहीं होता। इस दृष्टि स शान्त रस अन्य रसा के भिन्न ही नही विपरीत है। अन्य रसो की दृष्टि से ता उसे रस का अभाव मानना चाहिए। नव रसा क अतिरिक्त जो रस कुछ आचार्यों ने माने हैं उनमें वात्सल्य और भक्तिरस में भी प्रवृत्ति का प्रभाव कम दिखाई देता ह। इन रसो में दूसरे के प्रति भाव की प्रवलता होती है। सतान और भगवान के प्रति वात्सल्य और भक्ति के भाव में अहकार बहुत दूर ज्ञाता है। नाटक मे आठ रसो में जहा स्वाथ का भाव प्रबल रहता है और भक्ति में पराथ भाव अधिक होता है। ब्रह्म रस में तो

सत्य यह है कि काव्य मे प्रसिद्ध रसो मे प्रिय और अप्रिय दोनो प्रकार के मनोभाव समान रूप से आन दमय नही है। काव्य मे अप्रिय मनोभाव किस प्रकार आन दमय बन जाते है यह सिद्ध करना कठिन है। हमने पिछले अध्यायो के विवरण म सकेत दिया है कि काव्य का स्वरूपगत आन द उसके रूप अथवा सौ दय का आन द है। सभी प्रकार के भाव इस अना द के उपकरण बन सकते हैं, क्योंकि यह आन द काव्य के उपादान रूप भाव पर नही वरन् अपने रूपगत सौ दय पर निभर करता है कि तु काव्यान द के इस स्वरूप की स्थापना किसी आचाय ने नही की है। साधारणीकरण और अभिव्यक्तिवाद का बहुमा य सिद्धा त काव्य के स्वरूपगत आन द की धारणा पर निभर नही वरन् जीवन के अनुरूप रसानुभूति की धारणा पर निभर है। रौद्र वीभत्स आदि को रस मानना इस धारणा के विपरीत है, क्योंकि ये जीवन म रसमय अथवा आन दमय नही होते। रस आन दमय होता है, यह सामा य धारणा तो उपनिषदो के अध्यात्मवाद से ही आई है कि तु का य मे रसो का विभाजन इस धारणा के अनुरूप नही हुआ हैं। काव्य म रसो का अवतार नाटक के मच से हुआ है। नाटक म प्रस्तुत होन पर श्र गार वीर रौद्र, करुण अद्भुत भयानक आदि सभी भाव दशको को अनुरजित करत है।

इसका कारण यह नही है कि दशको का इनके साथ साधारणीकरण तथा तादात्म्य होता है। अप्रिय भावो के सामा य मे इसका कारण विपरीत है। वह कारण यह है कि नाटक म प्रदर्शित होने पर ये भाव उ ह व्यक्तिगत रूप स प्रभावित करते हैं अतएव प्रिय नही लगते। नाटक क रगमच से प्रस्तावित रस विभाजन मनुष्य के मनोविकारो के अनुरूप है। उस विभाजन का आधार आध्यात्मिक तथा सास्कृतिक न होकर प्राकृतिक है। इसीलिए का य के रसास्वादन और आध्यात्मिक रस के साथ इन रसो की सगति स्थापित करना कठिन रहा है—जहा भी आचार्यो ने इसका प्रयत्न किया है वहा इस सगति की स्थापना म अनेक असगतिया उत्प न हुई हैं। सगति की स्थापना मे ही सलग्न रहने के कारण इन असगतियो की ओर आचार्यो तथा आलोचको का ध्यान नही गया। हि दी साहित्य मे भी अभी तक सभी आचाय साधारणीकरण का ही समाधान और पिष्टपषण करत रह हैं। हमने पिछले अध्यायो के विवरणो मे काव्यशास्त्र की उन असगतियो को अनावृत्त करन का प्रयत्न किया है।

वस्तुत, काव्यशास्त्र का रस विभाजन न आध्यात्मिक रस से प्रसूत है और न काव्य के सौन्दर्य के स्वरूपगत रस पर आश्रित है। यथार्थ मे वह जीवन के मनोभावो पर अवलम्बित है। ये मनोभाव प्रिय और अप्रिय दोनो प्रकार के होते है। प्रिय मनोभावो के अनुभव सुखमय और स्पृहणीय होते हैं यद्यपि उनका सुख केवल अहकार मूलक प्राकृतिक आनन्द है। अप्रिय मनोभाव से बचकर हम प्रसन्न होते है। इसी कारण दूसरो के दुख मे हमारी रुचि होती है। मनुष्य का अहकार मूलक प्राकृतिक दृष्टिकोण यही है। सहानुभूति का दृष्टिकोण यही है। सहानुभूति का दृष्टिकोण प्राकृतिक से अधिक सास्कृतिक है। किन्तु सामान्यत मनुष्य प्रकृति के शासन मे रहता है। पिछले अध्याय मे हमने नाटक के दर्शको मे प्रकृति की प्रधानता प्रदर्शित की है। बहुत नाटक में प्रसिद्ध आठ रस मनुष्य के प्राकृतिक मनोभाव है। सामान्यत अहकार के दो रूपो पर अधिकाश रसो की कल्पना अवलम्बित है। पद्म पुराण मे प्रतिपादित अहकार से रसो की उत्पत्ति इस प्राकृतिक दृष्टिकोण से सगत हो सकती है। जीवन मे इन भावो का आश्रय अहकार की इकाई मे सीमित व्यक्ति होता है। वह भावात्मक और निषेधात्मक रूप मे इन रसो से प्रभावित होता है। इनमे प्रिय भाव सुखमय और स्पृहणीय होते है। किन्तु अप्रियभाव नही होते। इसीलिए इन्हे काव्य का रस भी नही बताया जा सकता। काव्य मे ये भाव इतने अल्प परिणाम मे मिलते है कि इनकी अल्पता का तथ्य स्वय इस बात का समर्थन करता है कि वे काव्य मे रस के अवलम्ब नही बन सकते।

प्रसिद्ध नव रसो में एक शान्त रस ही ऐसा है जिसमे प्राकृतिक प्रभाव नही है। शान्त रस का सम्बन्ध किसी भी मनोभाव से नही है। वह समस्त मनोभावो का अभाव है। उसमे कोई उद्दीपन और आवेग नही होता। इस दृष्टि से शान्त रस अन्य रसो के भिन्न ही नही विपरीत है। अन्य रसो की दृष्टि से तो उसे रस का अभाव मानना चाहिए। नव रसो के अतिरिक्त जो रस कुछ आचार्यों ने माने है उनमें वात्सल्य और भक्तिरस में भी प्रकृति का प्रभाव कम दिखाई देता है। इन रसो में दूसरे के प्रति भाव की प्रबलता होती है। सतान और भगवान के प्रति वात्सल्य और भक्ति के भाव में अहकार बहुत मन्द हो जाता है। नाटक मे आठ रसो में जहा स्वार्थ का भाव प्रबल रहता है, वहा वात्सल्य और भक्ति में परार्थ भाव अधिक होता है। ब्रह्म रस में तो

सत्य यह है कि काव्य में प्रसिद्ध रसों में प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार के मनोभाव समान रूप से आनन्दमय नहीं हैं। काव्य में अप्रिय मनोभाव किस प्रकार आनन्दमय बन जाते हैं यह सिद्ध करना कठिन है। हमने पिछले अध्यायों के विवरण में संकेत दिया है कि काव्य का स्वरूपगत आनन्द उसके रूप अथवा सौन्दर्य का आनन्द है। सभी प्रकार के भाव इस आनन्द के उपकरण बन सकते हैं क्योंकि यह आनन्द काव्य के उपादान रूप भाव पर नहीं वरन् अपने रूपगत सौन्दर्य पर निर्भर करता है किन्तु काव्यानन्द के इस स्वरूप की स्थापना किसी आचार्य ने नहीं की है। साधारणीकरण और अभिव्यक्तिवाद का बहुमान्य सिद्धान्त काव्य के स्वरूपगत आनन्द की धारणा पर निर्भर नहीं वरन् जीवन के अनुरूप रसानुभूति की धारणा पर निर्भर है। रौद्र वीभत्स आदि को रस मानना इस धारणा के विपरीत है, क्योंकि ये जीवन में रसमय *अथवा आनन्दमय* नहीं होते। रस आनन्दमय होता है, यह सामान्य धारणा तो उपनिषदों के अध्यात्मवाद से ही आई है किन्तु काव्य में रसों का विभाजन इस धारणा के अनुरूप नहीं हुआ है। काव्य में रसों का अवतार नाटक के मंच से हुआ है। नाटक में प्रस्तुत होने पर शृंगार, वीर रौद्र, करुण, अद्भुत, भयानक आदि सभी भाव दर्शकों का अनुरंजित करते हैं।

इसका कारण यह नहीं है कि दर्शकों का इनके साथ साधारणीकरण तथा *तादात्म्य होता है। अप्रिय भावों के सामान्य में इसका कारण विपरीत है।* वह कारण यह है कि नाटक में प्रदर्शित होने पर ये भाव उन्हें व्यक्तिगत रूप से *प्रभावित करते हैं अतएव प्रिय नहीं लगते। नाटक के रंगमंच से प्रस्तावित* रस विभाजन मनुष्य के मनोविकारों के अनुरूप हैं। उस विभाजन का आधार *आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक न होकर प्राकृतिक है। इसीलिए काव्य के* रसास्वादन और आध्यात्मिक रस के साथ इन रसों की संगति स्थापित करना कठिन रहा है—*जहां भी आचार्यों ने इसका प्रयत्न किया है* वहां इस संगति की स्थापना में अनेक असंगतियां उत्पन्न हुई हैं। संगति की स्थापना में ही संलग्न रहने के कारण इन असंगतियों की ओर आचार्यों तथा आलोचकों का ध्यान नहीं गया। हिन्दी साहित्य में भी अभी तक सभी आचार्य साधारणीकरण का ही समाधान और पिष्टपेषण करते रहे हैं। हमने पिछले अध्यायों के विवरणों में काव्यशास्त्र की उन असंगतियों को अनावृत्त करने का प्रयत्न किया है।

वस्तुत, काव्यशास्त्र का रस विभाजन न आध्यात्मिक रस से प्रसूत है और न काव्य के सौन्दर्य के स्वरूपगत रस पर आश्रित है। यथार्थ मे वह जीवन के मनोभावो पर अवलम्बित है। ये मनोभाव प्रिय और अप्रिय दोनो प्रकार के होते है। प्रिय मनोभावो के अनुभव सुखमय और स्पृहणीय होते हैं यद्यपि उनका सुख केवल अहकार मूलक प्राकृतिक आनन्द है। अप्रिय मनोभाव से बचकर हम प्रसन्न होते है। इसी कारण दूसरो के दुख म हमारी रूचि होती है। मनुष्य का अहकार मूलक प्राकृतिक दृष्टिकोण यही है। सहानुभूति का दृष्टिकोण यही है। सहानुभूति का दृष्टिकोण प्राकृतिक से अधिक सास्कृतिक है। किन्तु सामान्यत मनुष्य प्रकृति के शासन म रहता है। पिछले अध्याय मे हमने नाटक के दशको मे प्रकृति की प्रधानता प्रदर्शित की है। बहुत नाटक के प्रसिद्ध आठ रस मनुष्य के प्राकृतिक मनोभाव है। सामान्यत अहकार के दो रूपो पर अधिकाश रसो की कल्पना अवलम्बित है। पदम पुराण म प्रतिपादित अहकार से रसो की उत्पत्ति इस प्राकृतिक दृष्टिकोण से सगत हो सकती हैं। जीवन मे इन भावो का आश्रय अहकार की इकाई म सीमित व्यक्ति होता ह। वह भावात्मक और निशधात्मक रूप म इन रसो से प्रभावित होता है। इनम प्रिय भाव सुखमय और स्पृहणीय होते हैं। किन्तु अप्रियभाव नही होते। इसीलिए इन्हे काव्य का रस भी नही बताया जा सकता। काव्य म ये भाव इतने अल्प परिणाम मे मिलते हैं कि इनकी अल्पता का तथ्य स्वय इस बात का समर्थन करता है कि वे काव्य मे रस के अवलम्ब नही बन सकते।

प्रसिद्ध नव रसो में एक शान्त रस ही ऐसा है जिसमे प्राकृतिक प्रभाव नही है। शान्त रस का सम्बन्ध किसी भी मनोभाव से नही है। वह समस्त मनोभावो का अभाव है। उसम काई उद्दीपन और आवेग नही होता। इस दृष्टि से शान्त रस अन्य रसो के भिन्न ही नही विपरीत है। अन्य रसो की दृष्टि से तो उसे रस का अभाव मानना चाहिए। नव रसो के अतिरिक्त जो रस कुछ आचार्यों न मान है उनमें वात्सल्य और भक्तिरस में भी प्रकृत्ति का प्रभाव कम दिखाई देता है। इन रसो में दूसरे के प्रति भाव की प्रबलता होती है। सतान और भगवान के प्रति वात्सल्य और भक्ति के भाव में अहकार बहुत मन्द हो जाता है। नाटक म आठ रसो में जहा स्वार्थ का भाव प्रबल रहता है, वहा वात्सल्य और भक्ति में परार्थ भाव अधिक होता है। ब्रह्म रस में तो

प्रकृति और अहकार का पूर्ण निलय हो जाता है श्रृगार हास्य वीर और करुण में भी अहकार के साम्य और सास्कृतिक सौन्दर्य की सम्भावनायें हैं। किन्तु काव्य के इतिहास में ये सम्भावनायें बहुत कम सफल हुई हैं। प्राय इन रसो के वर्णन में प्राकृतिक भाव और अहकार की प्रधानता रही है कि उसे अध्यात्म के धरातल तक पहुचाया जा सकता है। किन्तु अधिकाश काव्य में वह प्राकृतिक विलास की सीमा तक ही रह गया है। तुलसीदास मे श्रृगार का वह सस्कृत रूप विशेष रूप से मिलता है। कालिदास के श्रृगार में प्राय प्राकृतिक भाव प्रखर हो उठता है।

हास्य और वीर रसो मे भी सास्कृतिक सम्भावना बहुत है। किन्तु वह अहकार के आधार पर नही हो सकती। अहकारो के उदार सामजस्य म ही सस्कृति का सौन्दर्य उचित होता है। किन्तु अधिकाश काव्य म वीरो के एकागी दर्प के रूप मे ही वीर रस का चित्रण मिलता है। वह सामान्य जनो के दुर्बल अहकार से अभिनन्दित होता है किन्तु उसे प्रेरित नही करता। श्री कृष्ण के समान निस्वार्थ भाव म वीरत्व का प्रदर्शन करने वाले वीरो का चित्रण भी काव्य मे कम हुआ है। हास्य म अहकारो के साम्य की सम्भावना सबसे सरल और अधिक है। किन्तु भेद की बात है कि अधिकाश काव्य म हास्य किसी का उपहास बनकर आया है। नारद और शिव का उपहास इसके परिचित उदाहरण है। उपहास मे एक व्यक्ति का अहकार अत्यन्त हीन हो जाता है। अहकारो के साम्य से युक्त सस्कृत और सम्पन्न हास्य के उदाहरण काव्य म दुर्लभ हैं। करुण की कथा अद्भुत है। वेदनापूर्ण होते हुए भी काव्य म इसकी विपुलता है। वेदना के प्रति मनुष्य के इतने अनुराग का रहस्य क्या है इसका विवेचन हम ग्यारहवें अध्याय म करेंगे। यहा उस रहस्य का सकेत भेद कर देते है कि करुणा मे समात्मभाव की सम्भावना सबसे अधिक गहन और तीव्र होती है तथा समात्म भाव मनुष्य की चेतना की गहनतम आकाक्षा है। यही करुणा के प्रति अपार आकर्षण का मूल रहस्य है। किन्तु अधिकाश काव्य मे करुणा का चित्रण भी इस रूप म नही हुआ है। वह व्यक्तिगत शोक के रूप मे ही अधिक है। काव्य मे शोक ही उसका स्थायीभाव माना गया है। व्यक्तिगत शोक के रूप म ही करुण का चित्रण काव्य मे अधिक मिलता है। उसका प्राकृतिक प्रभाव समात्म-

भाव के रूप मे नहीं वरन् दुःख से बचत के रूप म होता है। काव्य म चित्रित करुण दूसरो का शोक है। उससे हम प्रभावित नही होत।

वह हमारे सौभाग्य को सुरक्षित बनाता है। इसीलिए काव्य म करुण हमे इतना ही प्रिय लगता है जितना कि अपने जीवन मे दुःख और शोक अप्रिय लगता है। वात्सल्य और भक्ति के चित्रण म भी प्राकृतिक प्रभाव बहुत आगया है। अधिकाश वात्सल्य मे शिशुओ का लालन अधिक है। भारतीय जीवन मे भी वही अधिक मिलता है, क्योकि उसम बडो का अहकार एक प्रच्छन्न रूप म तुष्ट होता है। भक्ति के स्वरूप म प्रकृति का अवकाश बिल्कुल नही है। भक्ति समपण का भाव है। अत उसमे अहकार और प्रकृति पूणत विनत अथवा विलय हो जाते है। किन्तु अधिकाश काव्य मे भक्ति के साथ श्रृगार का ऐसा अद्भुत योग हुआ है कि श्रृगार की वासना ने भक्ति के उदात्त भाव को कलुषित कर दिया है। हिन्दी के सूर न इस श्रृगार से सयुक्त भक्ति की पवित्रता की भी बहुत रक्षा की है।

तुलसी ने इस भक्ति को श्रृगार से बचाकर दास्य की विनय म प्रतिष्ठित किया है। ब्रह्म रस का वणन काव्य म दुलभ है। कुछ आध्यात्मिक ग्रथो मे ही वह मिल सकता है। ब्रह्म मे प्रकृति के समस्त भावो का विलय हो जाता है। अत ब्रह्म रस के चित्रण के लिए उपकरण मिलना कठिन है। रहस्यवादी काव्य मे ब्रह्म रस की कुछ सफलव्यजना मिलती है। किन्तु यदि ब्रह्म के भाव को एकान्त अध्यात्म भाव के स्थान पर सजीव समात्मभाव के रूप म समझा जाय तो ब्रह्म भाव सस्कृति का व्यापक भाव बन जाता है और काव्य म विपुलता से उसकी प्रतिष्ठा हो सकती है। समात्मभाव के रूप मे ब्रह्म भाव श्रृगार वीर, हास्य करुण, शान्त वात्सल्य, भक्ति आदि के सास्कृतिक भावो मे साकार हो सकता है। समात्मभाव ब्रह्मभाव का सजीव और सास्कृतिक रूप है। समात्मभाव क सूत्र से अध्यात्म के ब्रह्मानन्द को काव्य और सस्कृति के रसो के साथ सगति हो सकती है। समात्मभाव के द्वारा सम्भवत जीवन के अप्रिय और दुःखान्त भाव भी सास्कृतिक सौन्दय से युक्त हो कर काव्य के उपादान बन सकते हैं।

अस्तु काव्यशास्त्र की परम्परा मे ब्रह्म रस तक जो बारह रस माने गये हैं वे सभी रस एक ही प्रकार के नही हैं। नाटक के आठ रसो मे तो प्राकृतिक

भाव ही प्रधान हैं। उनमें कुछ शृंगार और हास्य के समान प्रिय भाव हैं तथा कुछ वीभत्स और भयानक की भांति अप्रिय भाव ही स्पृहणीय होते हैं, अप्रियभाव स्पृहणीय नहीं। समात्मभाव के द्वारा अप्रिय भाव भी काव्य के उपकरण बन सकते है। किन्तु यह रस के सांस्कृतिक दृष्टिकोण में ही सम्भव हैं। काव्य और काव्यशास्त्र में प्रधानत काव्य का प्राकृतिक दृष्टिकोण ही प्रधान रहा है। अत काव्य में प्रिय भावों का ही ग्रहण अधिक हुआ है। करुण रस की विपुलता के कारण का संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। शांत रस की प्रियता उदासीन है। उसमें अप्रियता का अभाव रहता है। अत निषेधात्मक रूप में वह प्रिय ही बन जाता है। इसीलिए वह काव्य में पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

नीति और वैराग्य के काव्य इसी कोटि के अन्तर्गत है। वैराग्य प्राकृतिक प्रियता के विपरीत है। अत वह सामान्यत अधिक रुचिकर नहीं है, किन्तु नीतिकाव्य में ऐसी बात नहीं है। अत उसमें लोगों की रुचि बहुत रही है। संस्कृत और हिन्दी दोनों में नीतिकाव्य विपुलता से मिलता है। वात्सल्य और भक्ति में सांस्कृतिक सम्भावनायें बहुत हैं यद्यपि उनके चित्रण में भी दुर्वार प्रकृति का प्रभाव बहुत मिलता है। प्राकृतिक प्रभाव से युक्त होने पर भी वात्सल्य और भक्ति सामान्यत प्रिय रहते है इसीलिए शृंगार आदि प्रिय रसों की भांति काव्य में इनकी भी प्रचुरता है।

जिस प्राकृतिक दृष्टिकोण की प्रधानता से काव्य का रसवाद प्रभावित है, उसके अनुसार रौद्र, वीभत्स भयानक आदि अप्रिय रसों के लिए काव्य में स्थान नहीं रहता। इसीलिए काव्य में इनका चित्रण बहुत कम मिलता है। भरत के नाट्य शास्त्र के अनुसार आरम्भ से ही रस का दृष्टिकोण प्राकृतिक रहा। अत उसमें शांत वात्सल्य और भक्ति को स्थान नहीं मिल सका। रुद्रट के द्वारा सिद्धान्तत प्रतिष्ठित होने पर भी शांत को नाटक में आदर नहीं मिला। नाटक के प्राकृतिक दृष्टिकोण के कारण ही वात्सल्य और भक्ति जैसे सजीव और सक्रिय भावों को भी आदर नहीं मिला। अप्रियभावों का चित्रण नाटक में अधिक नहीं है। किन्तु नाट्यशास्त्र की रसगणना में उनको स्थान मिला है क्योंकि सिद्धान्तत नाटक में इनका प्रदर्शन होने पर इनकी अप्रियता दर्शकों को

स्पर्श नहीं करती। प्राकृतिक दृष्टिकोण से वे करुण की कोटि मे आजाते हैं। फिर भी परिमाण मे इनका चित्रण नाटक और काव्य दोनो मे ही कम है।

इस समस्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि करुण के अतिरिक्त अन्य जिन रसो का काव्य अथवा नाटक म विपुलता के साथ सन्निवेश हुआ है वे प्राकृतिक प्रियता के भाव पर ही आश्रित है। वात्सल्य और भक्ति के सांस्कृतिक रसो मे भी इस प्राकृतिक प्रियता का भाव अधिक है। प्रिय और अप्रिय सभी भावों को सांस्कृतिक दृष्टिकोण से काव्य का उपकरण बनाया जा सकता है। किन्तु ऐसा बहुत कम हुआ है। अधिकांश काव्य मे प्रिय भावों का चित्रण प्राकृतिक दृष्टिकोण की प्रधानता के साथ ही हुआ है। इसी प्रभाव के कारण शृगार को रसराज का पद मिला। शृगार जीवन का सबसे अधिक प्रिय भाव है। अन्य प्रिय भावो मे केवल अहकार का परितोष होता है किन्तु शृगार म काम और अहकार की दोनो प्रबल प्राकृतिक वृत्तिया एकत्र कृतार्थ होती हैं। इस प्राकृतिक दृष्टिकोण म रौद्र, वीभत्स, भयानक आदि अप्रिय भावो का समावेश सगत नही है। प्राकृतिक जीवन के अनुभव मे ये अप्रिय भाव हैं। अत रस के प्राकृतिक दृष्टिकोण मे इनके लिए स्थान नही है। प्राकृतिक दृष्टिकोण स प्रभावित होने के कारण इनकी रसो म गणना करके भी काव्य और काव्यशास्त्र दोनो ही इनके साथ न्याय नही कर सके और इन्हें आदर का स्थान नही दे सके। शान्त, वात्सल्य और भक्ति के भावो मे कुछ सांस्कृतिक दृष्टिकोण का प्रभाव भी आ सका है। किन्तु यह ध्यान रखने योग्य है कि इन तीनो को काव्यशास्त्र म नाटक का प्रभाव कम होने के बाद ही स्थान मिला है। हम ऊपर सकेत कर चुके हैं कि शान्त सर्वथा प्रकृति के प्रतिकूल नही है। उसम प्रकृति की अनुकूलता भी सम्भव है। वात्सल्य और भक्ति के चित्रण मे प्रकृति का पर्याप्त प्रभाव है।

अस्तु काव्यशास्त्र और काव्य के रस सम्बन्धी दृष्टिकोण मे प्रकृति की प्रधानता परिलक्षित होती है। किन्तु प्रकृति ही जीवन का सर्वस्व नही है। प्रकृति जीवन का अनिवार्य आधार है, अत उसका परिहार नही किया जा सकता। प्रकृति का भी अपना सौन्दर्य और रस है। वह जीवन मे सर्वथा ग्राह्य है। अहकार और प्रकृति की उपेक्षा करके जीवन मे विकृतिया और भ्रान्तिया उत्पन्न हो सकती हैं। अत जीवन मे इनका समाधान अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु

प्रकृति की अतिरंजना प्राकृतिक सुख के लिए ही घातक है। पशुओं में प्रकृति की एक सहज मर्यादा में ही प्रकृति का सुख सुरक्षित रहता है। मनुष्य जीवन में प्रकृति की मर्यादा स्वाभाविक नहीं है। अतः मनुष्य को अपने स्वतंत्र संकल्प के द्वारा इस मर्यादा का संनिधान जीवन में करना होगा। संकल्प से प्रतिष्ठित मर्यादा संस्कृति कहलाती है। इस मर्यादा की भूमि में ही प्राकृतिक जीवन में रूप और भाव का वह अतिशय अनुष्ठित होता है जो कला के सौंदर्य और संस्कृति के आनन्द का स्रोत है। प्रकृति की मर्यादा की भूमिका में कला और संस्कृति का सौंदर्य एवं आनंद जीवन में ओत प्रोत होता है। प्रकृति के आधार और रस को इस मर्यादा में सुरक्षित रखते हुए कला और संस्कृति के सौंदर्य की साधना करना मानव जीवन की एक महती सफलता है। संस्कृति के इस सौंदर्य एवं आनंद का रहस्य उस आत्मा में है, जो मनुष्यों के जीवन में ओत प्रोत है। आत्मा की उदारता के प्रभाव से ही प्रकृति की मर्यादा सम्भव होती है।

अपने शुद्ध आध्यात्मिक रूप में आत्मा निर्विकार और निरवच्छिन्न है। इस आत्मा के रस को हम ब्रह्म रस कह सकते हैं, जो उपनिषदों के अनुसार अनंत और आनंदमय है। भारतीय काव्यशास्त्र में इस ब्रह्मानन्द के साथ काव्यानंद की समुचित संगति नहीं हो सकी है। इसका कारण काव्यशास्त्र में प्राकृतिक दृष्टिकोण की प्रधानता है। साक्षात् जीवन में यह आत्मभाव समात्मभाव के रूप में चरितार्थ होता है। आत्मा की उदारता अहंकारों का सामंजस्य स्थापित कर प्रकृति की मर्यादाओं में सौंदर्य और संस्कृति के संस्कार अनुष्ठित करती है। आध्यात्मिक विभूति से अनुप्राणित संस्कृति का यह सौंदर्य मनुष्य जीवन का अनुपम वरदान है। कला और काव्य इसी संस्कृति के अंग हैं यद्यपि संस्कृति इनसे अधिक व्यापक है। साक्षात जीवन में साकार होने पर रूप और भाव के अतिशय का सौंदर्य एवं आनन्द जीवन में संस्कृति के पर्व रचता है। किंतु कला और काव्य की साधना भी संस्कृति का अनुष्ठान है। एक ओर जीवन के अंग होकर भी ये समस्त जीवन को उपकरण अथवा विषय के रूप में समाहित कर सकते हैं।

अतः उपादान के रूप में प्राकृतिक जीवन का भी कला और काव्य में समुचित स्थान है। प्रकृति में प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार के भाव हैं। किन्तु

प्राकृतिक रूप मे प्रिय भाव ही ग्राह्य और स्पृहणीय हैं। रस और काव्य के प्राकृतिक दृष्टिकोण मे इन्ही भावो को अधिक आदर मिला है। किन्तु इन्ही भावो को संस्कृति के उदार दृष्टिकोण से भी कला और काव्य का उपादान बनाया जा सकता है। दूसरी ओर जीवन के अप्रिय भाव भी सांस्कृतिक दृष्टिकोण से कला और काव्य के उपकरण बन सकते हैं। हमने ऊपर अनेक स्थानो पर संकेत किया है कि समात्मभाव इस सांस्कृतिक दृष्टिकोण का आधार है। कला और काव्य की सांस्कृतिक साधना व्यक्तित्व की प्राकृतिक इकाई मे सम्पन्न नही होती वरन् इसी समात्मभाव से प्रेरित होती है। साक्षात् और काल्पनिक दोनो ही रूपो मे यह समात्मभाव संस्कृति, कला और काव्य की प्रेरणा बनता है। इसी समात्मभाव के मार्ग से अध्यात्म का अलौकिक जीवन और संस्कृति को अनुप्राणित करता है। अध्यात्म अपने स्वरूप मे अनवच्छिन्न और अनिर्वचनीय है अतः कला और काव्य मे उसको प्रतिष्ठित करना कठिन है फिर भी समात्मभाव के मार्ग से अध्यात्म का आलोक भी जीवन की भूमि पर उतर सकता है और उसे रसाप्लुत बना सकता है। भारतीय काव्य और संस्कृति मे अध्यात्म की प्रतिष्ठा भी विपुल परिमाण मे हुई है।

जीवन के इसी त्रिविध दृष्टिकोण के आधार पर हमने चौथे अध्याय मे रसो का विभाजन तीन रूपों में किया है, जो हमारे मत मे प्राकृतिक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक रस की त्रिवेणी का निर्माण करते हैं। रस के इन तीनो रूपो का तुलनात्मक विवेचन सामान्य रूप से चौथे अध्याय मे किया है। वहां इन रसो के उपभेदो का प्रसंग नहीं आया है। इस अध्याय के अन्त मे काव्यशास्त्र की परम्परा मे स्वीकृत रस के भेदो का विवरण करने के बाद हम अपने उक्त दृष्टि-कोण से रसों का नवीन विभाजन करना अभीष्ट है। रसों का यह नवीन विभाजन हम जीवन और काव्य दोनो के अधिक व्यापक दृष्टिकोण से करेंगे। अतः हमारा विश्वास है कि इस क्रम विभाजन मे हम जीवन और काव्य के कुछ नवीन रसो का सन्निधान कर सकेंगे, जो काव्य की रसमीमांसा मे प्रायः उपेक्षित रहे हैं। काव्यशास्त्र की परम्परा मे स्वीकृत रसो के भी कुछ नवीन पक्षो को हम प्रकाशित कर सकेंगे। बीभत्स, भयानक आदि रसो की काव्य मे संभावित स्थिति का संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। शृंगार, वीर, हास्य आदि जीवन के प्रिय रसो के सांस्कृतिक रूप का उद्घाटन हमारे रस विभाजन की एक प्रमुख

विशेषता होगी। काव्य के रस के साथ आध्यात्मिक रस की संगति कदाचित् प्रथमबार हमारी रसमीमांसा मे प्रकाशित होगी। काव्य के रूपगत सौन्दर्य के रस का निर्देश हमारी रसमीमांसा की एक अपूर्व मौलिकता है। आकृति का रस भी इसी मे सम्मिलित है। सौन्दर्य और आकृति के रस के आधार पर ही शास्त्र रस की रसवत्ता तथा अधिकांश अर्वाचीन काव्य के सौन्दर्य और रस की व्याख्या सम्भव हो सकती है। परम्परागत रस शास्त्र की सीमाओं के अन्तर्गत यह व्याख्या सम्भव नही है।

अस्तु, हमारे व्यापक दृष्टिकोण के अनुसार मौलिक रूप मे रस तीन प्रकार के है। उन्हे हम प्राकृतिक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक रस कह सकते हैं। प्राकृतिक रस वे हैं जिनका अनुभव और आस्वादन मनुष्य अपने व्यक्तित्व की इकाई में कर सकता है और करता है। इन्द्रियों से उपभोग्य रस इसी कोटि के अन्तर्गत है। मनोलोक में यह व्यक्तित्व की इकाई अहंकार का रूप ग्रहण करती है। ऐन्द्रिक रसो मे भी इस मानसिक अहंकार का योग अन्तर्निहित रहता है। इसी प्रकार अहंकार के रूप मे आस्वाद्यमान मानसिक रसो मे विषयो के उपादान के रूप में इन्द्रियां भी योग देती हैं। किन्तु इन्द्रियां मानसिक रस की माध्यम मात्र हैं विशेष रूप से उसका अनुभव अहंकार की इकाई मे ही होता है। ऐन्द्रिक और मानसिक दोनो प्रकार के प्राकृतिक रसो के अनेक भेद है। ऐन्द्रिक रसो के भेद इन्द्रियो और विषयो की अनेकता पर निर्भर है। खाद्य दशा में मान्य पदार्थों के षड्रस और काम का रस ऐन्द्रिक रस के मुख्य भेद हैं। मानसिक रस के भेद विषय और सम्बन्ध के भेद पर निर्भर है। अहंकार इन सब का सामान्य अधिष्ठान है। काम का रस इस दृष्टि से विचित्र है कि उसमे ऐन्द्रिक और मानसिक दोनो तत्वो का संगम होता है। आधुनिक मनोविज्ञान काम और अहंकार को मन की दो प्रबल और प्रधान वृत्तियां मानता है। जिन मनोवेगो को काव्यशास्त्र की परम्परा मे रस का नाम दिया गया है वे काम और अहंकार से प्रेरित होने के कारण प्रधान रूप से प्राकृतिक हैं।

जीवन मे उनका अनुभव और आस्वादन अहंकार की इकाई मे ही होता है। काव्यशास्त्र की रस मीमांसा मे रस के आश्रय के निरूपण के प्रसंग मे भी इस प्राकृतिक इकाई का आग्रह रहा है। इसी आग्रह से उत्पन्न समस्याओं के

समाधान के लिए साधारणीकरण अभिव्यक्तिवाद आदि के सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये है। कहां तक ये मनोभाव काव्य में सास्कृतिक रस के अवलम्ब बन सकते हैं, इसका विवेचन हमने पीछे अनेक स्थानों पर किया है। किन्तु जीवन मे ये मनोभाव प्राकृतिक रस के ही अवलम्ब होते है क्योंकि ये अहकार से अवच्छिन्न व्यक्तित्व की इकाई के अधिष्ठान मे फलित होते हैं। अहकार इन सब का सामान्य रूप भी माना जा सकता है, तथा रस की एकरूपता घटित हो सकती है। सामान्यत प्राकृतिक रस एक ही है, जिसम व्यक्ति के प्राकृतिक अहकार का अनुरजन होता हैं। विषय और सम्बन्ध के भेद से इसके उनके उपभेद हो सकते हैं। परम्परा मे प्रसिद्ध नवरस प्राकृतिक रस के इन्ही उपभेदो के अन्तगत है। नव रसा मे रौद्र, वीभत्स, भयानक आदि प्राकृतिक दृष्टि से भी रसमय नही हैं। किन्तु श्रृगार, वीर, हास्य आदि प्राकृतिक रसो के अन्तगत हैं। जिस रूप मे काव्यशास्त्र मे इनका विवेचन और काव्य मे इनका अकन हुआ है उसमे वे अधिष्ठान के अनुरजक के रूप मे ही प्रकट हाते हैं।

प्राकृतिक दृष्टि से श्रृगार, हास्य आदि प्रिय भावो को ही रस कहा जा सकता है, रौद्र, वीभत्स, भयानक आदि अप्रिय भावो को नही। मुख्यत इन प्रिय प्राकृतिक भावो के श्रृगार हास्य और वीर तीन ही रूप हो सकत हैं। श्रृगार को सामान्य प्रेम का पर्याय मानकर वात्सल्य का भी उसमे अन्तर्भाव हो सकता है। अन्यथा अहकार मूलक वात्सल्य को प्राकृतिक रस का चौथा रूप माना जा सकता है। भक्ति मूलत सास्कृतिक भाव है। किन्तु उसमे श्रृगार और स्वार्थ का भ्रम भी हो सकता है। काव्य और धर्म दोनो मे इस भ्रम के उदाहरण मिल सकते हैं। वैराग्य के रूप मे शान्तरस प्राकृतिक दृष्टि से प्रिय नही है वरन् उसका विपरीत है। किन्तु अप्रियता के अभाव के रूप मे निषेधात्मक रूप मे उसे प्रिय भी कहा जा सकता है तथा प्राकृतिक रस की कोटि मे भी उसे लाया जा सकता है। शारीरिक विश्राम और विराम तथा मानसिक सघर्षों और आवेगो का उपराम प्राकृतिक शान्तरस के उदाहरण हो सकत हैं। इस प्रकार श्रृगार, हास्य और वीर मे मिलकर वात्सल्य भक्ति और शान्त रस मानसिक क्षेत्र के षटरस बन जाते हैं।

आध्यात्मिक रस अपने स्वरूप मे आत्मा के निरवच्छिन्न कवल्य का रस हैं। आत्मा एक और आनन्दमय है। अत आध्यात्मिक रस के भेद नही हो

सकते। जीवन के अन्तंतम अनुभव मे उसका साक्षात्कार किया जा सकता है, किन्तु शब्द के भेद पूर्ण माध्यम के द्वारा उसका निर्वचन नही हो सकता। अत आध्यात्मिक रस काव्य का विषय नही बन सकता। किन्तु शब्द की व्यंजना शक्ति के द्वारा काव्य मे उस रस के साक्षात्कार का दिग्दर्शन किया जा सकता है। इसी व्यंजना के आधार पर अध्यात्म काव्य का विषय बना है। भारतीय साहित्य मे यह आध्यात्मिक काव्य प्रचुर परिमाण मे मिलता है। मूलत इसका एक ही स्वरूप है जिसे अलौकिक आनन्द कह सकते हैं। किन्तु उपचार और सिद्धान्त भेद से इसके दो भेद किये जा सकते हैं। इन भेदो को हम भक्ति रस और ब्रह्म रस कह सकते हैं। भक्ति भगवान के प्रति श्रद्धा का भाव है। अत भक्त म द्वैत का भाव रहता है। ब्रह्म अद्वैत है। अत ब्रह्म रस कैवल्य के समान है। भक्ति समर्पण का भाव है। ब्रह्म रस का स्वरूप साक्षात्कार का आनन्द है। भारतीय काव्य मे आध्यात्मिक रस इन दोनो ही रूपो मे मिलता है। भक्ति के रूप मे उसका अधिक मिलना स्वाभाविक है। काव्य का निर्माण केवल भाव से नही होता। उपकरणो और सम्बन्धो मे ये भाव साकार होते हैं। भक्ति के प्रसंग म ये उपकरण और सम्बन्ध जितनी विपुलता से मिल सकते है ब्रह्म रस के सम्बन्ध म ये उतने ही दुर्लभ है। एक प्रकार से भक्ति भूमि के लौकिक जीवन को वैकुण्ठ के दिव्य जीवन से मिलाने वाला दिव्य सेतु है।

जिस प्रकार आध्यात्मिक रस काव्य का आलम्बन बन सकता है उसी प्रकार प्राकृतिक रस भी काव्य के उपादान बन सकते हैं। किन्तु प्राकृतिक रसो के प्रिय रूप म काव्य के उपादान बनने पर व केवल प्राकृतिक रस नही रह जाते। काव्य के सौन्दर्य के स्वरूपगत रस से मिलकर उनका रस द्विगुणित हो जाता है। इसीलिए प्राकृतिक रसो के उपादान से युक्त काव्य अधिक लोकप्रिय रहा है। ऐसे काव्य का प्रभाव तीन प्रकार का होता है। एक मे उपादान रूप मे ग्रहीत प्राकृतिक भाव का प्रभाव अधिक होता है दूसरे मे काव्य के सौन्दर्य का प्रभाव अधिक होता है, तीसरे मे दोनो का सामंजस्य रहता है। पहले म प्राकृतिक भाव की प्रधानता होती है और दूसरे मे सांस्कृतिक भाव की तथा तीसरे म दोनो का सन्तुलन रहता है।

किंतु सांस्कृतिक भाव केवल काव्य मे ही सीमित नही है। काव्य जीवन का केवल एक अंग है। किन्तु संस्कृति समस्त जीवन का साक्षात् रूप बन सकती है। रूप और भाव का अतिशय संस्कृति का मम है। साक्षात् जीवन के व्यापारो मे तथा सामाजिक जीवन की परम्परा म रूप और भाव के अतिशय का सन्निधान करने पर संस्कृति सौंदय एव आनन्द साक्षात् जीवन मे साकार होता है। संस्कृति का आधार न व्यक्तित्व की इकाई म अधिष्ठित अहंकार है और न पूर्णत निरवच्छिन्न आत्मा है, वरन् संस्कृति का आधार समात्मभाव है जिसमे अहकारो का सामजस्य होता है तथा प्राकृतिक उपकरणो का आत्मा के साथ समन्वय होता है। इस प्रकार 'संस्कृति' प्रकृति और आत्मा का सगम है। काव्य के रूपगत सौंदय की रचना भी इसी समात्मभाव के आधार पर होती है। अत काव्य भी अन्य कलाओ की भाति एक सांस्कृतिक अध्यवसाय है। किन्तु वह केवल एक कला है। वह सांस्कृतिक जीवन का साक्षात् रूप नही है। जिस प्रकार काव्य की यह कला प्राकृतिक और आध्यात्मिक भावो को अपने सौंदय का उपादान बना सकती है उसी प्रकार वह साक्षात् जीवन के सांस्कृतिक भावो को भी अपना उपादान बना सकती है।

जब सांस्कृतिक भाव काव्य के उपादान बनत हैं तब काव्य मे पूण रूप से सांस्कृतिक रस की सृष्टि होती है। ऐसे ही काव्य को सही अथ मे सांस्कृतिक काव्य कहा जा सकता है। आध्यात्मिक काव्य मे प्रकृति का प्रभाव प्रमुख न होने पर वह सांस्कृतिक काव्य के अधिक निकट आ जाता है। प्राकृतिक काव्य के तीन रूप उत्तरोत्तर सांस्कृतिक काव्य के निकट अथवा क्रमश अधिक दूर रहत हैं। जिसम काव्य का रूपगत सौंदय प्रधान रहता है वह सांस्कृतिक काव्य के सबसे अधिक निकट रहता है। जिसम प्राकृतिक भाव की प्रधानता रहती है वह सबसे अधिक दूर रहता है। तीसरा मध्य म है और उसमे प्राकृतिक एव सांस्कृतिक भावो का सकर होता है।

संस्कृति के सम्बध म हमारा निश्चित मत यह है कि वह प्रकृति और अध्यात्म का सामजस्य है उसमे प्रकृति का परिहार नही वरन् आत्मभाव से प्रकृति की मर्यादा होती है। इस मर्यादित रूप में प्रकृति संस्कृति का उपादान बनती है। अतएव जिन्हे हमने सांस्कृतिक रस कहा है वे जीवन के प्राकृतिक रसो से पूर्णत

भि न नही है। आत्मा की मर्यादा का सस्कार पाकर और समात्मभाव की विभूति से अन्वित होकर प्राकृतिक भाव और रस भी सास्कृतिक बन जाते हैं। कि तु तब उनका रूप अहकार मूलक प्राकृतिक भावो से भि न होता है। उनम अहकार की प्रधानता न रहकर अहकारो का सामजस्य अनुष्ठित होता है। प्रकृति की सस्कृति के साथ सगति है। अत प्रकृति के रूप और भाव काव्य के सास्कृतिक सौ दय के उपादान भी बन सकते है। केवल प्रकृति के प्रिय भाव ही नही वरन् अप्रिय भाव भी काव्य के सौ दय मे अन्वित हो सकते हैं। रौद्र वीभत्स, भयानक आदि रसो का काव्य के सौन्दय के साथ समन्वय इसी प्रकार हो सकता है। स्पष्ट रूप मे प्रिय और अप्रिय भावा के अतिरिक्त अन्य भाव भी काव्य के सौ दय के उपकरण बन सकते हैं। इस प्रकार उपादानो के भेद से काव्य म समाहित रस अनेक रूप बन जाता है। यहा यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शब्द के साथक माध्यम के कारण जीवन के प्राकृतिक, आध्यात्मिक और सास्कृतिक तीनो प्रकार के भाव उसके उपकरण बनते है। जीवन मे इन भावो के त्रिविध रस अपने अपने स्वरूप मे भिन्न हैं।

इन भेदो का विवरण हमने चौथे अध्याय म तथा इनका सकेत इसी अध्याय मे ऊपर किया है। काव्य के रस निरूपण के प्रसग मे हमने पिछले अध्यायो मे काव्य के स्वरूपगत रस और उसके उपादानगत रस मे विवेक करने का प्रयत्न किया है। काव्य का स्वरूपगत रस काव्य के सौन्दय का रस है। काव्य का यह सौ दय 'रूप का अतिशय है। काव्य का उपादान स्वय रसमय न होने पर भी काव्य मे स्वरूपगत सौ दय का रस सम्भव होता है। आचार्यों ने काव्य के इस स्वरूपगत रस की कल्पना नही की है। अत वे प्राकृतिक और आध्यात्मिक रसो के जीवन्त रूपा के काव्यगत उपादानो मे ही रस की खोज करते है। कि तु वस्तुत काव्य का स्वरूपगत रस उनके रूपगत सौन्दय मे निहित रहता है तथा उसके उपादानगत रस से भिन्न है। उपादान गत रस काव्य के रूपगत रस को अधिक सम्पन्न बनाता है। काव्य का स्वरूपगत रस समात्मभाव के सास्कृतिक भाव पर आश्रित होता है। अत जीवन के सास्कृतिक भावो के साथ ही काव्यगत सौन्दय के रस का समवाय सम्पन्न होता है। जहा जीवन के प्राकृतिक भाव काव्य के उपादान बनते हैं वहा यह समवाय सफल नही होता, तथा काव्य मे सास्कृतिक रस की सफल निष्पत्ति नही होती। वस्तुत ऐसे काव्य

मे प्रकृति और सस्कृति का समवाय न होकर सकर ही अधिक होता है। वैसे काव्य मे रस भी सास्कृतिक न होकर सकरित ही होता है। इस सकर के तीन प्रकार के प्रभाव सम्भव हैं जिनका सकेत हमने ऊपर किया है। किन्तु प्राय इन प्रभावों मे प्राकृतिक प्रभाव ही प्रधान रहता है।

हमने ऊपर कहा है कि समात्मभाव से सस्कृत होकर प्रकृति के भाव और रस भी सास्कृतिक बनते हैं। किन्तु समात्मभाव का यह सस्कार केवल प्रिय भावो का ही अधिकार नहीं है, जीवन के अप्रिय भावो म भी समात्मभाव के सन्निधान की सम्भावना होती है। इतना ही नहीं दु ख, शोक आदि के अप्रिय भाव समात्मभाव का जितने गम्भीर रूप म समाहित करने म समर्थ है उतने जीवन के प्रिय भाव नही हैं। अप्रिय भावों के इस समाहार को रसमय बनाने की सामर्थ्य काव्य की एक ऐसी अद्भुत विभूति है जो उस सस्कृति की जीवन्त परम्परा स भी श्रेष्ठ बनाती है। सस्कृति की जीव त परम्परा म केवल प्रिय और सु दर भावो का ही सन्निधान है। इस दृष्टि से सस्कृति के भाव प्रकृति के प्रिय भावो के ही समान है। दोनो म केवल इतना अन्तर है कि सस्कृति म व प्राकृतिक भाव समात्मभाव के सस्कारो स सचित होकर उदात्त बन जाते हैं। किन्तु दूसरी ओर जीवन के अप्रिय भाव भी काव्य क उपादान बन कर सौन्दर्य का ऐसी अद्भुत महिमा से मडित करते हैं कि इन अप्रिय भावा स युक्त काव्य को काव्य के इतिहास म विशेष महत्व दिया जाता है। अस्तु काव्य का स्वरूपगत सौन्दय प्रकृति से प्रिय और अप्रिय भावो जीवन के उदासीन भावों साक्षात् जीवन के सास्कृतिक भावा तथा आध्यात्मिक भावो को अपना उपादान बनाकर समृद्ध होता है। इन भावा के योग स काव्य के स्वरूपगत सौ दय का रस भी समृद्ध होता हैं जिनका विवरण हम अभी आगे करेंगे।

काव्य के अनेक विध रसा के निरूपण के प्रसग म सव प्रथम हमे काव्य के स्वरूपगत सौन्दय के रस का प्रतिपादन ही अभीष्ट है। प्राकृतिक मनोभावो को ही रस के रूप मे स्वीकृत करने के कारण आचार्यों का ध्यान काव्य के इस स्वरूप-गत रस की ओर नही गया, किन्तु काव्य के महत्व और मूल्याकन की दृष्टि से सबसे पहले इसका प्रतिपादन अपेक्षित है। काव्य का यह स्वरूपगत रस उसके रूपगत मे निहित रहता है। यह सौ दय रूप का अतिशय है। यह रूप का

भिन्न नही है। आत्मा की मर्यादा का सस्कार पाकर और समात्मभाव की विभूति से अन्वित होकर प्राकृतिक भाव और रस भी सास्कृतिक बन जाते हैं। किन्तु तब उनका रूप अहकार मूलक प्राकृतिक भावो से भिन्न होता है। उनमे अहकार की प्रधानता न रहकर अहकारो का सामजस्य अनुष्ठित होता है। प्रकृति की सस्कृति के साथ सगति है। अत प्रकृति के रूप और भाव काव्य के सास्कृतिक सौन्दय के उपादान भी बन सकते हैं। केवल प्रकृति के प्रिय भाव ही नही वरन् अप्रिय भाव भी काव्य के सौन्दय मे अन्वित हो सकते हैं। रौद्र, वीभत्स, भयानक आदि रसो का काव्य के सौन्दय के साथ समन्वय इसी प्रकार हो सकता है। स्पष्ट रूप मे *प्रिय और अप्रिय भावो के अतिरिक्त अन्य भाव भी काव्य के सौन्दय के* उपकरण बन सकते हैं। इस प्रकार उपादानो के भेद से काव्य मे समाहित रस अनेक रूप बन जाता है। यहा यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शब्द के *साधक माध्यम के कारण जीवन के प्राकृतिक आध्यात्मिक और सास्कृतिक तीनो* प्रकार के भाव उसके उपकरण बनते हैं। जीवन मे इन भावो के त्रिविध रस अपने अपने स्वरूप मे भिन्न है।

इन भेदो का विवरण हमने चौथे अध्याय मे तथा इनका सकेत इसी अध्याय मे ऊपर किया है। काव्य के रस निरूपण के प्रसग मे हमने पिछले अध्यायो मे काव्य के स्वरूपगत रस और उसके उपादानगत रस मे विवेक करने का प्रयत्न किया है। काव्य का स्वरूपगत रस काव्य के सौन्दय का रस है। काव्य का यह सौन्दय रूप का अतिशय है। काव्य का उपादान स्वय रसमय न होने पर भी काव्य मे स्वरूपगत सौन्दय का रस सम्भव होता है। आचार्यों ने काव्य के इस स्वरूपगत रस की कल्पना नही की है। अत वे प्राकृतिक और आध्यात्मिक रसो के जीवन्त रूपो के काव्यगत उपादानो मे ही रस की खोज करते हैं। किन्तु वस्तुत काव्य का स्वरूपगत रस उनके रूपगत सौन्दय मे निहित रहता है *तथा उसके उपादानगत रस से भिन्न है। उपादान गत रस काव्य के रूपगत* रस को अधिक सम्पन्न बनाता है। काव्य का स्वरूपगत रस समात्मभाव के सास्कृतिक भाव पर आश्रित होता है। अत जीवन के सास्कृतिक भावो के साथ ही काव्यगत सौन्दय के रस का समवाय सम्पन्न होता है। जहा जीवन के प्राकृतिक भाव काव्य के उपादान बनते हैं वहा यह समवाय सफल नही होता, तथा काव्य मे सास्कृतिक रस की सफल निष्पत्ति नही होती। वस्तुत ऐसे काव्य

मे प्रकृति और संस्कृति का समवाय न होकर मकर ही अधिक होता है। वैसे काव्य मे रस भी सांस्कृतिक न होकर मकरित ही होता है। इस सकर के तीन प्रकार के प्रभाव सम्भव हैं जिनका संकेत हमने ऊपर किया है। किन्तु प्राय इन प्रभावों म प्राकृतिक प्रभाव ही प्रधान रहता है।

हमने ऊपर कहा है कि समात्मभाव से सम्पृक्त होकर प्रकृति के भाव और रस भी सांस्कृतिक बनते हैं। किन्तु समात्मभाव का यह संस्कार केवल प्रिय भावों का ही अधिकार नहीं है जीवन के अप्रिय भावो मे भी समात्मभाव के सन्निधान की सम्भावना होती है। इतना ही नहीं दुःख, शोक आदि के अप्रिय भाव समात्मभाव का जितने गम्भीर रूप म समाहित करने मे समर्थ है उतने जीवन क प्रिय भाव नहीं हैं। अप्रिय भावों के इस समाहार को रसमय बनाने की सामर्थ्य काव्य की एक ऐसी अद्भुत विभूति है जो उसे संस्कृति की जीवन्त परम्परा स भी श्रेष्ठ बनाती है। संस्कृति की जीवन्त परम्परा म केवल प्रिय और सुन्दर भावो का ही सन्निधान है। इस दृष्टि से संस्कृति के भाव प्रकृति के प्रिय भावों के ही समान है। दोनो म केवल इतना अन्तर है कि संस्कृति म व प्राकृतिक भाव समात्मभाव के सस्कारों से सचित होकर उदात्त बन जाते हैं। किन्तु दूसरी ओर जीवन के अप्रिय भाव भी काव्य के उपादान बन कर सौन्दर्य को ऐसी अद्भुत महिमा स मंडित करते हैं कि इन अप्रिय भावो से युक्त काव्य को काव्य क इतिहास मे विशेष महत्व दिया जाता है। अस्तु काव्य का स्वरूपगत सौन्दर्य प्रकृति स प्रिय और अप्रिय भावो, जीवन के उदासीन भावो, साक्षात् जीवन क सांस्कृतिक भावों तथा आध्यात्मिक भावों को अपना उपादान बनाकर समृद्ध होता है। इन भावो के योग से काव्य के स्वरूपगत सौन्दर्य का रस भी समृद्ध होता हैं जिनका विवरण हम अभी आगे करेंगे।

काव्य के अनेक विध रसों के निरूपण के प्रसग मे सर्व प्रथम हम काव्य के स्वरूपगत सौन्दर्य के रस का प्रतिपादन ही अभीष्ट है। प्राकृतिक मनोभावों को ही रस के रूप मे स्वीकृत करने के कारण आचार्यों का ध्यान का य के इस स्वरूपगत रस की ओर नहीं गया किन्तु काव्य के महत्व और मूल्यांकन की दृष्टि से सबसे पहले इसका प्रतिपादन अपेक्षित है। काव्य का यह स्वरूपगत रस उसके रूपगत म निहित रहता है। यह सौन्दर्य रूप का अतिशय' है। यह रूप का

भिन्न नही है। आत्मा की मर्यादा का संस्कार पाकर और समात्मभाव की विभूति से अन्वित होकर प्राकृतिक भाव और रस भी सांस्कृतिक बन जाते हैं। किन्तु तब उनका रूप अहंकार मूलक प्राकृतिक भावो से भिन्न होता है। उनमे अहंकार की प्रधानता न रहकर अहंकारो का सामंजस्य अनुष्ठित होता है। प्रकृति की संस्कृति के साथ संगति है। अत प्रकृति के रूप और भाव काव्य के सांस्कृतिक सौन्दर्य के उपादान भी बन सकते हैं। केवल प्रकृति के प्रिय भाव ही नही वरन् अप्रिय भाव भी काव्य के सौन्दर्य मे अन्वित हो सकते हैं। रौद्र बीभत्स भयानक आदि रसो का काव्य के सौन्दर्य के साथ समन्वय इसी प्रकार हो सकता है। स्पष्ट रूप म प्रिय और अप्रिय भावो के अतिरिक्त अन्य भाव भी काव्य के सौन्दर्य के उपकरण बन सकते हैं। इस प्रकार उपादानो के भेद से काव्य म समाहित रस अनेक रूप बन जाता है। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शब्द क साथक माध्यम के कारण जीवन के प्राकृतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक तीनो प्रकार के भाव उसके उपकरण बनते हैं। जीवन म इन भावो के त्रिविध रस अपने अपने स्वरूप मे भिन्न हैं।

इन भेदो का विवरण हमने चौथे अध्याय मे तथा इनका संकेत इसी अध्याय मे ऊपर किया है। काव्य के रस निरूपण के प्रसंग मे हमने पिछले अध्यायो मे काव्य के स्वरूपगत रस और उसके उपादानगत रस मे विवेक करने का प्रयत्न किया है। काव्य का स्वरूपगत रस काव्य के सौन्दर्य का रस है। काव्य का यह सौन्दर्य रूप का अतिशय है। काव्य का उपादान स्वयं रसमय न होने पर भी काव्य मे स्वरूपगत सौन्दर्य का रस सम्भव होता है। आचार्यों न काव्य के इस स्वरूपगत रस की कल्पना नही की है। अत वे प्राकृतिक और आध्यात्मिक रसो के जीवन्त रूपो के काव्यगत उपादानो मे ही रस की खोज करते हैं। किन्तु वस्तुत काव्य का स्वरूपगत रस उनके रूपगत सौन्दर्य मे निहित रहता है तथा उसके उपादानगत रस से भिन्न है। उपादान गत रस काव्य के रूपगत रस को अधिक सम्पन्न बनाता है। काव्य का स्वरूपगत रस समात्मभाव के सांस्कृतिक भाव पर आश्रित होता है। अत जीवन के सांस्कृतिक भावो के साथ ही काव्यगत सौन्दर्य के रस का समवाय सम्पन्न होता है। जहां जीवन के प्राकृतिक भाव काव्य के उपादान बनते हैं वहां यह समवाय सफल नही होता, तथा काव्य म सांस्कृतिक रस की सफल निष्पत्ति नही होती। वस्तुत ऐसे काव्य

में प्रवृत्ति और संस्कृति का समवाय न होकर संकर ही अधिक होता है। वैसे काव्य में रस भी नैसर्गिक न होकर संकरित ही होता है। इस संकर के तीन प्रकार के प्रभाव सम्भव हैं जिनका संकेत हमने ऊपर किया है। किन्तु प्राय इन प्रभावों में प्राकृतिक प्रभाव ही प्रधान रहता है।

हमने ऊपर कहा है कि समा ममाव से संस्कृत होकर प्रकृति के भाव और रस भी सांस्कृतिक बनते हैं। किन्तु समात्मभाव का यह संस्कार केवल प्रिय भावों का ही अधिकार नहीं है जीवन के अप्रिय भावों में भी समात्मभाव के सन्निधान की सम्भावना होती है। इतना ही नहीं दुःख, शोक आदि के अप्रिय भाव समात्मभाव का जितने गम्भीर रूप में समाहित करने में समर्थ है उतने जीवन के प्रिय भाव नहीं हैं। अप्रिय भावों के इस समाहार को रसमय बनाने की सामर्थ्य काव्य की एक ऐसी अद्भुत विभूति है जो उसे संस्कृति की जीवन्त परम्परा से भी श्रेष्ठ बनाती है। संस्कृति की जीवन्त परम्परा में केवल प्रिय और सुन्दर भावों का ही सन्निधान है। इस दृष्टि से संस्कृति के भाव प्रकृति के प्रिय भावों के ही समान है। दोनों में केवल इतना अन्तर है कि संस्कृति में वे प्राकृतिक भाव समात्मभाव के संस्कारों से सचित होकर उदात्त बन जाते हैं। किन्तु दूसरी ओर जीवन के अप्रिय भाव भी काव्य के उपादान बन कर सौंदर्य को ऐसी अद्भुत महिमा से मंडित करते हैं कि इन अप्रिय भावों से युक्त काव्य को काव्य के इतिहास में विशेष महत्व दिया जाता है। अस्तु काव्य का स्वरूपगत सौन्दर्य प्रकृति से प्रिय और अप्रिय भावों जीवन के उदासीन भावों, साक्षात् जीवन के सांस्कृतिक भावों तथा आध्यात्मिक भावों को अपना उपादान बनाकर समृद्ध होता है। इन भावों के योग से काव्य के स्वरूपगत सौन्दर्य का रस भी समृद्ध होता है जिनका विवरण हम अभी आगे करेंगे।

काव्य के अनेक विध रसों के निरूपण के प्रसंग में सर्व प्रथम हम काव्य के स्वरूपगत सौन्दर्य के रस का प्रतिपादन ही अभीष्ट है। प्राकृतिक मनोभावों को ही रस के रूप में स्वीकृत करने के कारण आचार्यों का ध्यान काव्य के इस स्वरूपगत रस की ओर नहीं गया, किन्तु काव्य के महत्व और मूल्यांकन की दृष्टि से सबसे पहले इसका प्रतिपादन अपेक्षित है। काव्य का यह स्वरूपगत रस उसके रूपगत में निहित रहता है। यह सौन्दर्य रूप का अतिशय' है। यह रूप का

अतिशय कला के सौन्दर्य का सामान्य लक्षण है, जो काव्य मे भी घटित होता है क्योंकि काव्य भी एक कला है। काव्य में शब्द के साधक माध्यम के कारण संगीत आदि की भांति कला का केवल रूपात्मक रस सम्भव नही है। शब्द मे समाहित अर्थ मे अतिशय नही होता वहा काव्य मे रूप के सौन्दर्य का रस ही प्रधान रहता है। भाव का अतिशय न होते हुए भी समात्मभाव के साथ साम्य के द्वारा रूप का यह अतिशय रस की सृष्टि करता है। पद्य म लिखित शास्त्र ऐसे काव्य और काव्य के प्रधानत रूपगत रस के उदाहरण हैं। काव्य के समस्त सौन्दर्य का रस काव्य के रस का सवप्रथम भेद है। समात्मभाव के आधार मे सम्पन्न और रूप के सृजनात्मक सौन्दय से युक्त होने के कारण काव्य का यह स्वरूपगत रस भी सांस्कृतिक है। समात्मभाव के साथ साथ अतिशय रहित भाव अथवा अर्थ का भी रूप के साथ साम्य रहता है और काव्य के इस स्वरूपगत रस को सम्पन्न बनाता है।

सस्कृत का 'भाव' पद अभिप्राय म कुछ अनिश्चित है। मूल रूप मे वह सत्ता का वाचक है। किन्तु सामान्यत वह अर्थ और भावना का वाचक बन गया है। शब्द का जो कुछ भी अभिप्रेत है वह सब अर्थ कहलाता है। किन्तु इसके अतिरिक्त मनुष्य के प्रति मनुष्य का जो भावात्मक दृष्टिकोण है उसे भी भाव कहते है। इसी धारणा के अनुसार प्रेम करुणा आदि भाव कहलाते हैं। मन के सम्बन्ध होने पर ये भाव मनोभाव बन जाते हैं। किन्तु आत्मा के सस्कार से अचित होकर इनका रूप सास्कृतिक भी बन जाता है। आगे चलकर हम भाव का प्रयोग इसी विशेष अर्थ म करेंगे। शब्द के अभिप्रेत के लिऐ हम अर्थ पद का प्रयोग करेंगे। ऊपर काव्य के स्वरूपगत रस के सम्बन्ध मे हमने भाव पद का प्रयोग अर्थ के ही रूप मे किया है। वहा यह अर्थ अतिशय से रहित है किन्तु प्राय काव्य मे यह अतिशय से युक्त होता है। अर्थ के इस अतिशय को हम आकृति कह सकते हैं। व्यजना अथवा ध्वनि के द्वारा काव्य मे अर्थ के इस अतिशय का सन्निधान होता है। अर्थ का यह अतिशय काव्य मे सौन्दय और रस की एक नवीन विभा बढाता है। अर्थ के इस अतिशय का रस भी काव्य का रूपगत रस ही है, किन्तु इसमे काव्य के सौन्दय भाव (अर्थ) के अतिशय के साथ अधिक घनिष्ट साम्य होता है। अत काव्य के स्वरूपगत रस का यह द्वितीय भेद काव्य के रस का अधिक सम्पन्न रूप है।

काव्य के रस का तीसरा भेद केवल काव्य के रूप पर ही अवलम्बित नहीं वरन् काव्य के भाव रूप उपादान पर भी अवलम्बित है। सांस्कृतिक काव्य में उपादान रूप में गृहीत भाव सांस्कृतिक भाव ही होते हैं। ये सांस्कृतिक भाव दो प्रकार के होते हैं। इनमें एक तो समात्मभाव से संस्कृत प्रेम, हास्य आदि के प्रिय भाव हैं जो जीवन्त संस्कृति में भी साकार होते हैं। दूसरे जीवन के दुःख, शोक, भय आदि अप्रिय भाव हैं जो न प्राकृतिक जीवन में प्रिय होते हैं और न प्रमुखतः संस्कृति की जीवन्त परम्परा में साकार होते हैं। सांस्कृतिक समात्मभाव से युक्त होकर ये भाव काव्य के महत्वपूर्ण उपादान बन जाते हैं। काव्य में इन भावों की महिमा सब को विदित है। काव्य में समाहित होकर जीवन के ये अप्रिय भाव जिस रस की सृष्टि करते हैं उसे हम सामान्य रूप से करुणा कहेंगे। यह करुणा काव्य के प्रसिद्ध करुण का पर्याय नहीं है वरन् एक व्यापक भाव है जिसमें दुःख, शोक भय, जुगुप्सा आदि अनेक संकोचकारी भावों का समाहार है। काव्य के सांस्कृतिक रस में इन भावों का ग्रहण प्राकृतिक रस के रूप में नहीं हो सकता। प्राकृतिक जीवन में ये भाव रस के कारण नहीं वरन् रस के विपरीत हैं। किन्तु काव्य में ये समात्मभाव से युक्त होकर एक अपूर्व रस के कारण बनते हैं। जिसे हमने व्यापक रूप में करुणा कहा है। संस्कृति की परम्परा में भी इस भाव को आश्रय बना कर जीवन के सौन्दर्य और मंगल की साधना हो सकती है किन्तु संस्कृति में यह बहुत कम हुआ है। काव्य में भी इस करुणा का ग्रहण उस व्यापक रूप में नहीं हुआ है जिसका संकेत हमने ऊपर किया है। प्राकृतिक अनुरोध के कारण यह करुणा प्रसिद्ध करुण रस तक ही सीमित रही है।

प्रकृति के प्रियभाव समयात्मभाव के संस्कारों से युक्त होकर जिन सांस्कृतिक भावों की रचना करते हैं उनमें प्रेम हास्य और ओज मुख्य हैं। ये प्रकृति के शृंगार, हास्य और वीर भावों के अनुरूप है। इनके दोनों रूपों में अहंकार और समात्मभाव का भेद है। शृंगार, हास्य वीर आदि के प्राकृतिक भावों में अहंकार की प्रधानता होती है और वे अहंकार की इकाई में ही सम्पन्न होते हैं। किन्तु इनके सांस्कृतिक रूपों में समात्मभाव का योग रहता है, जो इनके प्रकृति भाव को मर्यादित कर आत्मभाव के साथ उसका समन्वय करता है। इन प्रिय सांस्कृतिक भावों में मधुर, ओज, और हास्य ये तीन भाव ही मुख्य हैं, यद्यपि

इनमें शान्त भाव को भी सम्मिलित किया जा सकता है। भक्ति के लौकिक रूप भी इसके अन्तर्गत आ सकते हैं। इनमें स्वामिभक्ति, गुरुभक्ति, पितृभक्ति, मातृभक्ति ज्येष्ठभक्ति आदि के भेद किये जा सकते हैं। भक्ति में मुख्यतः माधुर्य का ही भाव रहता है। किन्तु उसमें ओज और हास्य का सम्पुट भी सम्भव है। प्रिय और अप्रिय दोनों ही क्षेत्र के अन्तर्गत जितने भाव हैं उनका अपने अलग अलग क्षेत्र में सम्मिश्रण भी होता है। प्रिय और अप्रिय भावों का परस्पर सम्मिश्रण भी हो सकता है, किन्तु उनमें एक हास्य का भाव ऐसा है जो अप्रिय क्षेत्र के करुण भावों के प्रसंग में प्रसंगत हो जाता है। मधुर रस प्रेम पर, ओज रस उत्साह पर, हास्य रस नर्म पर, शान्त रस समभाव पर अथवा प्रसन्न भाव पर और भक्ति रस (लौकिक) समर्पण, श्रद्धा आदि के भावों पर निर्भर होता है।

परम्परागत रस मीमांसा के अनुरूप इन भावों को अपने अपने रसों का स्थायी भाव माना जा सकता है। इन स्थायी भावों की अभिव्यक्ति और उसके परिपाक से हम रस की संज्ञा दे सकते हैं। किन्तु रस का यह परिपाक आलम्बन उद्दीपन अनुभाव, सचारी भाव आदि के द्वारा आवश्यक रूप से नहीं होता। काव्य के रस को जीवन के प्रिय और प्राकृतिक भावों के अनुरूप समझने पर ही आलम्बन और अनुभाव आवश्यक हो जाते हैं। उद्दीपन तो भाव के निर्जीव निमित्त भी बन सकते हैं। कदाचित् ओज और हास्य के लिए तथा भक्ति के लिए भी आलम्बन अपेक्षित है। किन्तु मधुर और शान्त भाव प्रकृति के सम्बन्ध मे भी सम्भव हो सकते हैं। ओज और हास्य के लिए भी कदाचित् प्रकृति के सम्बन्ध में अवकाश निकल आय। प्रकृति का विराट रूप भक्ति का उद्भावन भी कर सकता है। अस्तु भरत के रस सूत्र के अनुसार रस निष्पत्ति में विभाव अनुभाव आदि के संयोग का नियम अनिवार्य रूप से पालित नहीं होता। पालित होने पर भी वह रस निष्पत्ति का पूर्ण नियम नहीं है। परम्परागत काव्यशास्त्र में रस और रस निष्पत्ति के मनोगत तत्वों को ही ध्यान मे रखा गया है। इसका कारण यह है कि काव्यशास्त्र में रस का दृष्टिकोण साक्षात् जीवन के अनुरूप है। उसमें काव्यगत रस के लिए अपेक्षित विशद दृष्टिकोण को नहीं अपनाया गया है। हमारे मत मे काव्यगत रस सर्वथा जीवन के अनुरूप नहीं होता। अतः

रस के काव्यगत स्वरूप का निर्धारण रस के जीवन गत तत्वों के साथ साथ काव्य के रूपगत तत्वा का ध्यान रखने पर ही हो सकता है।

हमारे मत म काव्य के मौलिक रस का आधार काव्य के रूपगत सौन्दर्य के साथ समात्मभाव का समन्वय है। जिस काव्य में इनके समन्वय मे प्राकृतिक रसो का प्राकृतिक रूप म ही योग होता है उसम काव्य का स्वरूपगत रस और प्राकृतिक रस का सकर होता है। प्रसिद्ध काव्य के बहुत बडे अंश म यह रस का सकर मिलेगा। काव्य के जिन क्षत्रो म काव्यशास्त्र के आचाय विभिन्न भागों से रस की खोज करते रहे हैं वे प्राय इस सकरित रस से ही युक्त है। रस सकर के कारण ही इन क्षेत्रो मे रस की खाज अनक असगतियो से भ्रान्त रही है। सास्कृतिक काव्य मे उपलब्ध होने वाले समन्वित रस मे रूप के अतिशय और समात्मभाव के सामजस्य के साथ साथ विशेष भावा का भी सामजस्य रहता है। ये विशेष भाव अथ और भाव (भावना) दोनो ही प्रकार के होते हैं। अथ मे यथाथ और आकृति का अतिशय दोनो ही सम्मिलित ह तथा भाव मे प्रिय और अप्रिय भाव दोनो का समाहार है।

अथ के दोनो रूप मिलकर रूप के अतिशय को अधिक सम्पन्न बनाते हैं। विशेष भावो के अतिशय समात्मभाव को सम्पन्न बनाते हैं। हैं। इस प्रकार रूप और समात्मभाव दोनो समृद्ध होकर समन्वित होते हैं और समृद्ध रस की सृष्टि करते हैं। विशेष भावा के साथ सामान्य समात्मभाव का समन्वय रहने के कारण इस रस का रूप भी समन्वित होता है, जो रस के सकरित रूप से भिन्न है।

यदि रस सकर से युक्त प्राकृतिक काव्य और उसके प्राकृतिक रसो को हम थोडी देर के लिए छोड दें तो सास्कृतिक काव्य के अनेक रसा मे सबसे प्रथम काव्य के रूपगत सौन्दय का सामान्य रस है जो सवप्रथम यथाथ भाव मे साकार होता है। ऊपर हमने उसी को सास्कृतिक काव्य का प्रथम रस कहा है। अथ अथवा आकृति के अतिशय से युक्त रूप के सौन्दय का रस काव्य का दूसरा रस है। सास्कृतिक काव्य का तीसरा रस भाव तथा आकृति के अतिशय से सम्पन्न रूप के सौन्दय म समात्मभाव के साथ विशेष भावो के समन्वय से बनता है। ये विशेष भाव प्रिय और अप्रिय दो प्रकार के होते हैं। इनके अनुसार सास्कृतिक

काव्य के तृतीय रूप के दो मुख्य भेद हो सकते हैं। विशेष भाव के अनुरूप इन दोनो के कई उपभेद सम्भव हैं। मधुर, ओज, हास्य, शा त और भक्ति प्रिय भावो म प्रमुख हैं। इ ही के अनुसार रस के तृतीय रूप के प्रिय पक्ष के उपभेदा का नामकरण किया जा सकता है। जिन स्थायीभावों पर ये प्रिय रस आश्रित है उनका सकेत हमने ऊपर किया है। मधुर का सामा य भाव प्रेम है। प्रम का रूप समात्मभाव मे अहकारो का सामजस्य है। अहकार का आग्रह और स्वाथ प्रेम के अनुकूल नही है। प्रेम के सम्ब ध म प्राय भ्रम रहता है। अनेक बार जिस भाव को हम प्रेम समझते हैं वह वस्तुत माह है, क्योकि उसम अहकार और स्वाथ का अनुरोध है। काव्य का अधिकाश श्रृ गार इस मोह से लाछित है। सास्कृतिक मधुर रस का प्रेम अहकार और स्वाथ से युक्त प्राकृतिक प्रेम से भिन्न है।

सम्ब धो के अनुरूप इस प्रेम के कई रूप होते हैं। इनके आधार पर मधुर के उपभेद किये जा सकते हैं। श्र गार, वात्सल्य, ब धुत्व, सख्य, भक्ति आदि मधुर के प्रधान उपभेद हैं। दाम्पत्य का सास्कृतिक प्रेम श्रृ गार की सृष्टि करता है। यह श्रृ गार उस अहकार युक्त श्रृ गार से भि न है जो काव्य मे प्रचुरता से मिलता है। सूर और तुलसी का श्रृ गार इस सास्कृतिक श्र गार का उज्ज्वल उदाहरण है। शिव और पावती का पूण समात्मभाव युक्त दाम्पत्य इस श्रृ गार का आदश है। खेद की बात है कि प्राकृतिक अनुरोध के प्रभाव के कारण शिव पावती का यह पूण और पवित्र श्रृ गार हि दी काव्य मे आदर न पा सका। सस्कृत काव्य मे भी कालिदास के कुमार सम्भव के अतिरिक्त इस पवित्र श्र गार को साकार करने वाला काव्य दुलभ है। कालिदास के कुमार सम्भव म भी शिव पावतो के सास्कृतिक श्रृ गार के आदर की अपेक्षा प्राकृतिक अनुरोध का प्रभाव ही अधिक दिखाई दता है।

अपत्य सम्ब ध म मधुर रस वात्सल्य बन जाता है। वात्सल्य के सास्कृतिक रूप मे भी समात्मभाव का आधार रहता है। समात्मभाव मे अहकार का अनुरोध नही वरन् अहकारो का सामजस्य रहता है। सामा य जीवन में वात्सल्य की छाया मे बडो का अहकार ही अधिक पलता है। जीवन तो यह अहकार शासन और प्रताडन का रूप ले लेता है। काव्य में इस

अहकार या रूप ऐसा प्रखर नही है किन्तु काव्य मे भी उसकी सौम्य छाया वर्तमान है। जीवन और काव्य दोनो मे असमर्थ शिशुओ का लालन इस सौम्य अहकार का ही संकेत है। शिशुओ का अहकार सजग न हो पाने के कारण वह बडो के अहकार को प्रच्छन्न रूप म पालता है। शैशव म वात्सल्य का असदिग्ध रूप माता के द्वारा शिशु की कठिन सेवा मे ही मिल सकता है, क्योंकि इस सेवा मे अहकार का परिहार अधिक स्पष्ट रूप से सम्भव है। लालन मे प्रच्छन्न अहकार का भ्रम रहता है इस भ्रम का निवारण तभी सम्भव है जब कि इसम शिशु की प्रसन्नता मे तनिक भी आच न जाने पाये। इस सम्बन्ध मे इतना भ्रम रहता है कि प्राय हम शिशु के पीडन को लालन समझते रहते हैं। शिशु की सेवा और प्रसन्नता के अतिरिक्त शिशु के विकास में योग वात्सल्य का एक उत्तम रूप है।

बालक के विकास की सृजनात्मक परम्परा में वात्सल्य का उत्तम रूप फलित होता है। जीवन और काव्य दोनों में वात्सल्य का यह रूप दुर्लभ है। इस दुर्लभता का कारण प्रकृति का अनुरोध है। वात्सल्य के इस रूप में बडो के अहकार को अवकाश नही रहता, वरन् अपने अहकार को अत्यधिक विनम्र करके बालक के सास्कृतिक व्यक्तित्व के विकास मे योग देना पडता है। वात्सल्य के इस रूप का प्रमाण बडो के द्वारा किशोरो और युवको के आदर मे मिल सकता है। वृद्धो के अहकार से शासित तथा उन्ही के समान जीर्ण इस समाज म इस उत्कृष्ट वात्सल्य का उदाहरण अत्यन्त दुर्लभ है। कदाचित् अधिकाश पुरुष कवि भी इस विषय में सामान्यजनो की भाति प्राकृतिक अहकार के अनुरोध से पीडित रहे। इसीलिए सम्भवत कोई भी भारतीय कवि कैशोर और यौवन के सास्कृतिक समादर से युक्त वात्सल्य के काव्य की रचना न कर सका। प्रकृति के अनुरोध से पीडित कवि लव कुश शाकुन्तल भरत, कुमार कार्तिकेय आदि के रूप में कैशोर के ऐश्वर्य के साक्षात् उदाहरण उपस्थित रहने पर भी उन्हे काव्य में साकार नही बना सके। महाबली किशोर कृष्ण का चरित्र भी काव्य में आदर न पा सका। वात्सल्य के क्षेत्र में जीवन और काव्य की इस विडम्बना का कारण यह है कि कैशोर और यौवन का गौरव बडों के अहकार पर आघात करता है। इसी कारण जो सतान शैशव मे बडो के हर्ष का कारण होती हैं वही कैशोर और यौवन को प्राप्त करने पर वात्सल्य से वचित होकर बडो के विरोध

की अधिकारणी बन जाती हैं। कैशोर और यौवन के आदर एव गौरव से युक्त वात्सल्य की गरिमा 'पावती' में वर्णित कुमार स्क द और जय त के चरित में अवलोकनीय है।

दाम्पत्य और वात्सल्य के अतिरिक्त माधुय के अ य मुख्य सम्ब ध ब धुत्व, सत्य, और भक्ति है। ब धुत्व लगभग समान वय के कुटुम्बियो का परस्पर प्रेम है। कुटुम्ब के बाहर अ य व्यक्तियो के साथ यही सम्ब ध सख्य बन जाता है। वय की समानता समात्मभाव मे नैसर्गिक योग देती है। कैशोर और यौवन के साथ बढती हुई समात्मभाव की आकाक्षा ब धुत्व और सख्य मे साकार होकर उपेक्षित वात्सल्य की पूर्ति करती है। शकु तला सखियो के निश्छल प्रेम तथा सुग्रीव और विभीषण के साथ राम की मैत्री मे सख्य के सु दर उदाहरण मिलते हैं। गोप कुमारो के साथ कृष्ण के सम्ब ध सख्य के सु दर और मधुर उदाहरण है। 'पावती मे जय त और स्क द का सम्ब ध ओजस्वी सख्य का एक उत्तम उदाहरण है। ब धुभाव के उदाहरण रघुवशी राज कुमारो के सम्ब ध म मिलता है। ब धु द्वेष मे पीडित इस देश के इतिहास और काव्य मे इसके उदाहरण कम ही मिल सकेंगे। प्राकृतिक शृ गार से प्रभावित काव्य मे भी ब धुभाव और सख्यभाव के उदाहरण कम ही मिलते हैं।

भक्ति का रस श्रद्धा पर आश्रित है। यह श्रद्धा लौकिक और अलौकिक दोनो प्रकार की होती है और भक्ति को दो रूपो मे विभाजित करती है। भक्ति के ये दोनो रूप निता त भि न नही हैं फिर भी इनम कुछ विवेक किया जा सकता है। भारतीय भक्ति परम्परा म तो लौकिक सम्ब धो का इतना प्रभाव है कि भगवान् की भक्ति लौकिक भक्ति के अत्य त निकट आजाती है। सख्य वात्सल्य, दास्य तथा दाम्पत्य के मधुर भाव से युक्त भक्ति के रूप धम और काव्य की परम्परा मे परिचित है। फिर भी एक दिव्य और अलौकिक भाव के रूप मे भक्ति का विवेचन लौकिक भक्ति से अलग किया जा सकता है। लौकिक भक्ति म भी श्रद्धा, प्रेम और आदर का भाव रहता है यद्यपि दाम्पत्य, वात्सल्य स य आदि के रूप मे भक्ति की साधना की गई है फिर भी सत्य यह है कि भक्ति मे भगवान के प्रति एक गुरुता अथवा महानता का भाव रहता है। गुरु भाव के बिना श्रद्धा सम्भव नही हो सकती। गोपियो की भक्ति का आश्रय श्रद्धा न होकर प्रीति है।

इस गुरु भाव से कुछ भेद भी रहता है। गोपियो की भक्ति दाम्पत्य के माधुर्य मे विगलित होकर अद्वैत के अत्यन्त निकट पहुच जाती है। मीरा की भक्ति म भी मधुर भाव अधिक है। महादेवी के रहस्यवाद मे मधुर भाव के साथ साथ श्रद्धा सम्पन्न गुरु भाव का भी सश्लेष है। लौकिक भक्ति की श्रद्धा स्पष्ट रूप से गुरु भाव पर आश्रित है।

सम्बन्ध भेद से इसके अनेक भेद दिये जा सकते हैं। मातृभक्ति, पितृ-भक्ति, गुरुभक्ति, भ्रातृभक्ति, स्वामिभक्ति देशभक्ति आदि इसके अनेक रूप हैं। यह स्पष्ट है कि जिस गुरु भाव पर श्रद्धा अवलम्बित है वह भक्ति के आश्रय म विनय के रूप म फलित होता है, किन्तु दूसरी ओर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भक्ति के आश्रय मे इस विनय मे उसका अहकार आहत नही होता, क्योकि यह बडो के अहकार के आग्रह स उत्पन्न नही होती। बडों के अहकार का अनुरोध प्रकट होत ही भक्ति का सास्कृतिक सौ दय नष्ट हो जाता है। भक्त की विनय का प्रसाद बडो की ओर से आदर के रूप मे मिलता है। तभी भक्ति के सास्कृतिक रूप को सुरक्षित रखने वाला समात्मभाव सम्भव होता है। श्री कृष्ण के द्वारा पाण्डवा के दूत और सूत का काय भक्ति के इस समात्मभाव का एक उत्तम उदाहरण है। भरत के प्रति राम का आदर भी इस प्रसग म स्मरणीय है। गीता मे भगवान का यह वचन 'ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्' इसका प्रमाण है। अलौकिक भक्ति के इतिहास म इसके अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।

प्रेम पर आश्रित मधुर रस के बाद उन विशेष सास्कृतिक भावो म जो प्रिय है हास्य, ओज और शान्त की गणना की जा सकती है। हास्य का मधुर से अत्यन्त निकट सम्बन्ध है। अत वह मधुर रस के विविध रूपा के प्रसग मे ही प्राय उदित होता है। फिर भी अपने विशिष्ट गुण के कारण उसे पृथक मानना ही उचित है। हास्य मनुष्य जीवन की एक अनुपम विभूति है। चेतना और बुद्धि के विकास क साथ मनुष्य को हास्य का वरदान भी विशेष रूप मे मिला है। हास्य मनुष्य के माधुर्य का अलकार है। माधुर्य का जो उल्लास मनुष्य के हृदय मे तरगित होता है, वह मानो उद्वेलित होकर हास्य के फेनिल ज्वार मे प्रकट होता है। हास्य मधुर भाव की व्यजना का अद्भुत चमत्कार है। इसीलिए

हास्य म व्यजना का रूप सौन्दय अधिक निखरता है। मधुर रस के विविध रूपों की भांति हास्य के सांस्कृतिक रूप मे भी समात्मभाव का सामजस्य अपेक्षित है। खेद की बात है कि हास्य का यह सस्कृत रूप काव्य मे बहुत कम मिलता है। अधिकांश काव्य म हास्य ऐसे उपहास के रूप मे मिलता है जिसमे हास्य का आस्पद अपमानित और लाछित होता है। रामचरित मानस के प्रारम्भ म शिव और नारद का उपहास काव्य के असस्कृत हास्य के उदाहरण हैं। हास्य का सस्कृत रूप पावती महाकाव्य मे अवलोकनीय है। इस हास्य रस का मम नम के भाव म निहित है। नम का व्यवहार विनोद बन जाता है, जो रूप और भाव के अतिशय स युक्त होकर हास्य रस की सष्टि करता है।

ओज को काव्य परम्परा म शब्द का एक गुण माना है। किन्तु ओज भाव का भी गुण है। उत्साह इस ओज का आधार है। काव्य शास्त्र के अनुसार उत्साह वीर रस का स्थायीभाव है। किन्तु हमारे मत म उत्साह के भाव से सम्पन्न रस को ओज रस कहना अधिक उचित है, क्योंकि वीर रस के साथ अहकार दप आदि के अनुषग रूढ हो गये ह। काव्य म भी वीरो के दप के रूप म ही वीर रस के उदाहरण अधिक मिलत हैं। धीरोदात्त नायक की कल्पना ने निश्चय ही भारतीय काव्य मे वीर रस की महिमा से मंडित किया है। किन्तु आज रस की कल्पना मे हमारा अभीप्सित इससे भी अधिक है। हमारे मत म जहा मधुर और हास्य रस समात्मभाव के आत्म पक्ष की प्रधानता से युत हैं, वहां ओज रस म समात्मभाव के शक्तिपक्ष की प्रखरता है। आत्मा को हम शिव कह सकते हैं जो तन्त्रों की भाषा म प्रकाश रूप है। 'शक्ति' शिव की सृजनात्मक कला है। अत सृजनात्मक सौन्दय म ही ओज का उज्ज्वल रूप चरितार्थ होता है। अनीति का विरोधी, सज्जनों का रक्षक और श्रेय का साधन होने पर वीर दप भी ओज के सत्य क निकट आजाता है। किन्तु वीरगाथा की अपनी सज नात्मक शक्ति का वैभव ओज का अधिक महिमा मय रूप ह। वीर पूजा म सामाजिकों का अहकार हीन भाव म दलित होता है। सजन और मगल स युत होकर वीर दप समात्मभाव क उस साम्य को समाहित करता है जो सांस्कृतिक जीवन और काव्य का मूल मम है। ओज रस के इस रूप की ओर आचार्यों और कवियों की दृष्टि बहुत कम गई है। पावती महाकाव्य म कुमार

स्कन्द और जयन्त के चरित्र मे ओज का यह रूप अवलोकनीय है ।

शान्त को रस मानने मे आचार्यों का आरम्भ से ही आपत्ति रही है । सक्रियता का अभाव होने के कारण शान्त रस नाटक मे उपादेय नही माना गया । काव्य मे स्वीकृत होने पर भी उसकी रसवता प्रमाणित नही की गई । शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद वस्तुत कोई भाव नही है । वह समस्त भावो का अभाव है । निर्वेद का भाव रति, क्रोध, भय आदि की भाति कोई विकार नही है वरन् समस्त विकारो का विलय है । शृगार, वीर, करुण आदि की भाति शान्त रस मे कोई अनुभाव खोजना भी कठिन है । अनुभाव भी उन विकारो के अन्तगत है जिनका शान्त रस मे विलय हो जाता है । शृगार आदि मे प्रकृति के अनुरोध से प्रभावित आचाय और कवि शान्त रस मे किस प्रकार रस मानते रहे है यह आश्चय की बात है । शान्त रस की यह धारणा वैराग्य के प्रभाव पर आश्रित है । आध्यात्मिक रस के स्मरण के कारण काव्य के रस मे जो सत्व का उद्रेक आचाय मानते रहे उसी के सूत्र से काव्य मे शान्त रस की सगति बनी रही है । किन्तु काव्यशास्त्र मे मान्य शान्तरस उसका वैराग्य प्रधान रूप है । इसके अतिरिक्त शान्त रस का एक लौकिक और सास्कृतिक रूप भी है, जिसका आधार सतोष, सिद्धि, स्वास्थ्य, प्रसन्नता आदि है । प्रसन्नता अथवा प्रसाद को हम शान्त रस का स्थायीभाव कह सकते है । शान्त का मूल स्रोत समात्मभाव का साम्य है । इस दृष्टि से शान्त समस्त सास्कृतिक रसो का उपजीव्य है । मधुर, हास्य, ओज, भक्ति और करुण म इसका मौलिक आधार रहता है । किन्तु शान्त रस की यह मौलिकता भरत और भोज के मत की भाति अन्य रसो से असगति पूण नही है , वरन् पूण सगति-युक्त है । भरत और भोज के मूल रस की उससे उत्पन्न रसो के साथ सगति नही है । किन्तु हमारे अभिमत शान्त मे समन्वित समात्मभाव सास्कृतिक रस के अन्य सभी रूपो मे सगत है । कालिदास के आश्रमवणना मे सस्कृत शान्त रस के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं । 'पावती' के अन्तिम सर्गों मे भी इसकी आभा अवलोकनीय है ।

उक्त सास्कृतिक रस समात्मभाव की प्रिय स्थिति पर अवलम्बित है । किन्तु समात्मभाव पर प्रिय भावो का ही एकाधिकार नही है । दुःख शोक आदि के अप्रिय भावो की स्थिति मे प्राय समात्मभाव अधिक तीव्र और गम्भीर रूप मे

उदित होता है। अप्रिय भावो की स्थिति मे इस समात्मभाव को हमने करुणा की सामान्य सज्ञा प्रदान की है। समात्मभाव की यह करुणा काव्य के परिचित करुणा से भिन्न है जो व्यक्तिगत शोक पर अवलम्बित है। व्यक्तिगत शोक के करुणा मे अहकार को अवकाश रहता है जो सहानुभूति प्रकट करने वाला की सुरक्षा म सरक्षित रहता है। अधिकाश काव्य मे चित्रित करुणा व्यक्तिगत शोक पर ही अवलम्बित है। कि तु पाठक के समात्मभाव को जाग्रत करने के कारण वह काव्य के समान आधार भूत समात्मभाव से युक्त होकर करुणामय बन जाता है। काव्य मे वर्णित पात्र प्रस्तुत न होने के कारण हमारे अहकार को आघात नही पहुचाते। इसीलिये वे समात्मभाव को प्रेरित करते हैं। वतमान वीरो की अपेक्षा ऐतिहासिक वीरो की पूजा का भी यही कारण है। साक्षात समात्म भाव से युक्त करुणा का वणन उत्तर रामचरित की भाति विरले काव्यो म ही मिलेगा। करुणा केवल शोक पर अवलम्बित नही है। दुख, हानि, जुगुप्सा, भय आदि के प्रसग भी करुणा के मृदुल और आर्द्रभाव के अवसर बन सकते हैं। ये अवसर मधुर और ओज के प्रसग म भी आ सकते है। केवल हास्य का अवकाश करुणा मे नही है किन्तु कभी कभी हास्य भी काल का क्रूर कटाक्ष बन कर करुणा को तीव्र बनाता है। जुगुप्सा भय आदि से युक्त होकर करुणा का व्यापक रस काव्य के उन अप्रिय भावो को भी रसवत्ता सिद्ध कर सकता है जो काव्यशास्त्र मे स्वीकृत होने पर भी अप्रमाणित और काव्य म अल्पव्यवहृत रहे हैं। जीवन म ये भाव विपुलता से मिलते हैं। समात्मभाव से युक्त होकर ये भाव करुणा के उस महान रस को जन्म दे सकते हैं जो काव्य को महनीय बना सकती है कि तु प्रिय भावो का अनुरोध अधिक होने के कारण करुणा का यह पक्ष उपेक्षित रहा है।

ऊपर हमने सांस्कृतिक भावो के प्रिय और अप्रिय रूपो पर अवलम्बित सास्कृतिक रस के विविध रूपो का निदशन किया है। यह स्पष्ट है कि रसो का यह विभाजन परम्परागत रस विभाजन से बहुत भिन्न है। हमारा विश्वास है कि वह भिन्न होने के साथ साथ अधिक व्यापक और सगत भी है। प्रारम्भिक अध्यायो मे रस के जिन अर्थों और लक्षणों का विवरण हमने किया है उनकी यथेष्ट सगति हमारे अभिमत रस के सामान्य स्वरूप और उसके उपभेदो म हो सकती है। स्थानाभाव के कारण हम उस सगति का विस्तृत निदशन नही कर

सके है। हमारा अनुरोध कि हमारे रस विभाजन के आधार भूत सिद्धा तो पर काव्य के आलोचक और अनुरागी सूक्ष्म और गम्भीर दृष्टि से विचार करें। इन आधार भूत सिद्धान्तो मे ही हमारी आस्था अधिक है। सास्कृतिक रस के उपभेदो के रूप यद्यपि विविक्त हैं फिर भी उनके परस्पर सम्ब धो के विषय मे मतभेद हो सकता है। ऐसे मतभेद के लिए विचार के क्षेत्र मे पर्याप्त अवकाश है, किन्तु सास्कृतिक रस के विशेष रूपो का निरूपण भी हमने नवीन और मौलिक रूप से किया है। हमारा निवदन है कि हमारे रस विभाजन और रस निरूपण पर काव्य के आलोचक और अनुरागी सूक्ष्मता तथा गम्भीरता पूवक विचार करें।

—∞—

अध्याय–१०

साधारणीकरण और समात्मभाव

पिछले अध्यायो मे रस के आश्रय अथवा पात्र के प्रसग मे अनेक बार साधारणीकरण की चर्चा हुई है। साधारणीकरण काव्यशास्त्र का एक बहुमान्य सिद्धा त है। साधारणीकरण के रूप मे काव्यशास्त्र के आचार्यों को एक चिन्तामणि मिल गई जिसने काव्य की रसमीमासा के प्रसग मे उत्पन्न होने वाली कठिन समस्याओ को सुलझाने का सरल मार्ग प्रकाशित किया। रसमीमासा के प्रसग मे उत्पन्न होने वाले सकट मे असाधारण योग देने के कारण ही काव्यशास्त्र की परम्परा मे साधारणीकरण इतना अभिनन्दित हुआ। भट्टनायक के द्वारा उसकी प्रथम स्थापना करने के बाद सभी महान आचार्यों ने उसे स्वीकृत और सम्वर्धित किया। साधारणीकरण ने रसमीमासा का जो मार्ग दिखाया वह अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद मे अपने पूर्ण लक्ष्य पर पहुच गया। प्रत्येक आश्रय के मानस मे स्थित स्थायीभाव की अभिव्यक्ति रस की समस्या का अतिम समाधान सिद्ध हुई। साधारणीकरण इस समाधान का बलवान सूत्र है। साक्षात जीवन म जहा प्रत्येक मनुष्य अपने रस का आस्वादन करता है। केवल अभिव्यक्तिवाद के द्वारा उसके द्वारा का य के रसास्वादन की समुचित व्याख्या हो सकती है।

साक्षात जीवन मे भी हम दूसरो के रस का आस्वादन कर सकते हैं किन्तु काव्य अथवा नाटक की स्थिति मे तो दूसरे के रस का आस्वादन ही हमारा उद्देश्य रहता है। अ यथा काव्य अथवा नाटक के प्रति हमारी रुचि की व्याख्या नही हो सकती। काव्य तथा नाटक म पाठको अथवा दर्शको के जीवन एव रस का चित्रण नही होत वरन् उनमे दूसरो के जीवन एव रस का चित्रण होता है।

फिर पाठक और दर्शक उनम क्यो रुचि लेते हैं और उनका रसास्वादन किस प्रकार करते है? आचार्यों की दृष्टि म यह सामाजिको के द्वारा दूसरो के रस का आस्वादन है। यह क्यो और किस प्रकार होता है? मूलपात्र और

सामाजिक अलग अलग व्यक्ति हैं। वे अपने अपने रस के आश्रय हो सकते हैं, किन्तु सामाजिक मूलपात्रों के रस का आश्रय किस प्रकार बन सकता है और वह दूसरे के रस का आस्वादन किस प्रकार कर सकता है? दोनों व्यक्ति और आश्रय अलग अलग हैं। एक आश्रय के रस का सचार दूसरे आश्रय मे किस प्रकार हो सकता है और यदि यह नही हो सकता तो काव्य का प्रयोजन पूरा नही होता और उसमे सामाजिकों की रुचि का समाधान नही होता।

काव्य के रसास्वादन की इस समस्या का समाधान भट्टनायक ने साधारणीकरण के द्वारा किया। उन्होंने शब्द मे एक भावना शक्ति की कल्पना की और यह बताया कि भावना के व्यापार के द्वारा काव्य अथवा नाटक के पात्र अपने विशेष रूपों का परित्याग करके सामाजिक की चेतना मे केवल सामान्य अथवा साधारण रूप मे उपस्थित होते हैं। उदाहरण के लिए नाटक की सीता अथवा शकुन्तला केवल कामिनी रूप मे उनकी चेतना मे उपस्थिति होती हैं। सीता अथवा शकुन्तला के रूप मे अगम्या गमन आदि बाधाओं के कारण कदाचित् वे सामाजिक की रति का आश्रय न बन सकें, किन्तु भावना के व्यापार द्वारा जब उसके विशेष रूप का परिहार हो जाता है तो सामान्य कामिनी के रूप मे वे सभी सामाजिकों की रति का आलम्बन बन सकती है। भट्टनायक का मत है कि इस प्रकार साधारणीकरण के द्वारा सामाजिक काव्य अथवा नाटक के रस का आस्वादन करते हैं।

अभिनव गुप्त ने भावना के स्थान पर साधारणीकरण को ध्वनि का व्यापार माना किन्तु यह केवल साधारणीकरण की प्रक्रिया का भेद है। सिद्धान्त के रूप मे अभिनव गुप्त ने भी साधारणीकरण को स्वीकार किया और अभिव्यक्तिवाद के द्वारा अभिनव गुप्त ने यह बताया कि साधारणीकरण के द्वारा सामाजिक जिस रस का अनुभव करता है वह वस्तुत उसका अपना ही रस है। साधारणीकृत विभाव आदि के सयोग से उसकी चेतना मे सोया स्थायी भाव जाग्रत हो जाता है और वह अपने ही रस का आस्वादन करता है। सामाजिक का जागृत स्थायीभाव ही रस रूप मे परिणत होता है, यही अभिव्यक्तिवाद का मुख्य अभिप्रेत है। साधारणीकरण को मान लेने पर यह मानना आवश्यक हो जाता है कि वस्तुत सामाजिक काव्य के पात्रों के रस का नही वरन् अपने ही रस

का आस्वादन करता है। साधारणीकरण पात्रो के विशेष रूप का परिहार करता है। तथा सामान्य रूप मे उन्हे सामाजिक के आलम्बन योग्य बना कर प्रस्तुत पात्रो के विशेष रूप और रस का प्रसग शेष नही रह जाता। साधारणीकरण पात्रो के स्थान पर सामाजिक को काव्य के रसास्वादन का केन्द्र बना देता है तथा साधारणीकरण के द्वारा सामाजिक अपने ही रस का आस्वादन करता है। वह रस साधारणीकृत विभाव आदि के द्वारा उसके अपने स्थायीभाव की जाग्रत और परिपक्व अवस्था है।

इस प्रकार अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद भट्टनायक के साधारणीकरण की पूर्ति करता है। अभिव्यक्तिवाद उस अधूरे साधारणीकरण को अपने लक्ष्य तक पहुचा देता है। वस्तुत अभिव्यक्तिवाद ने साधारणीकरण को जो पूर्णता प्रदान की है उसी के कारण काव्यशास्त्र की परम्परा मे साधारणीकरण इतना प्रतिष्ठित और मान्य हुआ। काव्य शास्त्र की परम्परा का सर्वमान्य सिद्धान्त केवल साधारणीकरण नही है वरन् अभिव्यक्तिवाद से परिपुष्ट साधारणीकरण अथवा साधारणीकरण से गर्भित अभिव्यक्तिवाद है। अभिनव गुप्त के बाद अधिकाश आचार्यो ने इसी सयुक्त सिद्धान्त को रस की सबसे अधिक सफल व्याख्या माना है। अभिनव गुप्त के बाद काव्यशास्त्र के दो महान् आचार्य हुए है। उनमे प्रथम मम्मट और दूसरे विश्वनाथ हैं। मम्मट का काव्य प्रकाश काव्यशास्त्र की निकषमणि है। उसमे काव्यशास्त्र की समस्त परम्परा का समाहार अथवा परिणाम सन्निहित है। विश्वनाथ का साहित्य दर्पण भी इस प्रकार का ग्रन्थ है। रस के सम्बन्ध मे इन दोनो ने ही सामान्य रूप से अभिनव गुप्त के मत का समर्थन किया है और साधारणीकरण से सम्वलित अभिव्यक्तिवाद का प्रतिपादन किया है। मम्मट के काव्य प्रकाश और विश्वनाथ के साहित्य दर्पण मे आकर मानो काव्यशास्त्र की परम्परा अपनी चरम परिणति को प्राप्त हुई। इनके बाद काव्यशास्त्र मे नवीन सिद्धान्तो का उद्भावन नही हुआ। काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण मे काव्यशास्त्र की परम्परा का समाहार इतने उत्कृष्ट रूप मे हुआ है कि अन्य प्रवर आचार्यों के लिए पिष्टपेषण का अवकाश भी अधिक नही रहा। जैसा कि हम कह चुके हैं इन दोनो ही ग्रन्थो मे साधारणीकरण से सम्वलित अभिव्यक्तिवाद को ही रस का सर्वोत्तम सिद्धान्त मानकर उसका प्रतिपादन किया गया है। साधारणीकरण से युक्त अभिव्यक्तिवाद मे मानो काव्यशास्त्र की दीर्घकालीन साधना अन्तिम कृतार्थता को प्राप्त हुई।

हिन्दी के आचार्यों ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे किन्ही नवीन सिद्धान्तो का उद्भावन नही किया। रीतिकाल के आचार्य प्राय संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्पराओ का ही अनुवादन करते रहे हैं। उनकी मौलिकता रसो और नायिकाओ के कुछ नवीन रूपो के आविष्कार तक सीमित रही। किन्तु रस के सम्बन्ध मे उन्होने कोई नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत नही किया। साधारणीकरण से सम्वन्धित अभिव्यक्तिवाद मे काव्यशास्त्र के रस सिद्धान्त को इतनी पूर्णता मिली कि उसके बाद रस के सम्बन्ध मे किसी नये सिद्धान्त के उद्भावन की सम्भावना भी शेष नही रही। अभिनव गुप्त के बाद संस्कृत के आचार्यों मे भी किसी ने नवीन सिद्धान्तो का उद्भावन नही किया। मम्मट जैसे महान् आचार्यों ने भी मुख्यत काव्यशास्त्र की परम्परा का ही समाहार किया है। संस्कृत के उत्तर कालीन आचार्यों ने केवल रस व कुछ नये रूपो अथवा भेदो का आविष्कार करके अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। इन्ही का अनुकरण करके हिन्दी के रीति कालीन आचार्य भी रस की गुण प्रधानता के विवेचन तथा कुछ नये भेदो के प्रकाशन म ही अपनी मौलिकता प्रदर्शित करते रहे। रीति कालीन परम्परा का पालन करने वाले हिन्दी के कुछ अर्वाचीन आचार्यों ने संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा के पिष्टपेषण और नायिकाओ के कुछ नये भेदो के निर्माण म ही अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया। किन्तु यह रीतिकालीन परम्परा हिन्दी के आधुनिक युग मे अधिक न चल सकी। आचार्यत्व की विडम्बना करने वाले इन कवियो का स्थान अर्वाचीन हिन्दी के विद्वान और मनीषी आलोचको ने ले लिया।

हिन्दी के इन अर्वाचीन आलोचको ने काव्य अथवा रस के स्वरूप मे कोई पूर्ण रूप से मौलिक और नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत नही किया। हम कह चुके है कि साधारणीकरण से सम्वलित अभिव्यक्तिवाद की स्थापना के बाद इसकी सम्भावना भी शेष नही रह गई थी, किन्तु हिन्दी के अर्वाचीन आलोचको की काव्य मीमासा संस्कृत के उत्तर कालीन तथा हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों की भाति रूपरम्परागत काव्यशास्त्र का पिष्टपेषण मात्र नही है। उन्होने काव्य और रस के स्वरूप के सम्बन्ध मे विशद और गम्भीर विवेचन किया है। नवीन सिद्धान्तो के उदभावन की दृष्टि स उनका यह विवेचन मौलिक न हो किन्तु काव्य और रस के बहुमान्य सिद्धान्त के अनेक पक्षो पर नवीन प्रकाश डालने की दृष्टि से यह निस्सदेह मौलिक है। संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा की भूमिका मे

उ हाने का य और रस के मूल सिद्धा तो और उनकी प्रमुख समस्याओ का एसा विशद और गम्भीर विवचन किया है कि हि दी के इन आधुनिक मनीषियो के उद्योग को का य मीमासा की परम्परा मे मौलिक योग कहा जा सकता है। हि दी के इन अवाचीन आलोचको मे आचाय रामच द्र शुक्ल अग्रणीय और पथ प्रदशक थे। वस्तुत व हि दी आलोचना के पथ निर्माता थे। बाबू श्याम सु दर दास उनके समकालीन और सहयोगी थे। आचाय रामच द्र शुक्ल के द्वारा प्रवर्तित अर्वाचीन हिन्दी की गम्भीर आलोचना प्रणाली को आगे बढान वाल विद्वानो म डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवदी आचाय न ददुलारे वाजपयी और डा० नगे द्र का नाम उल्लेखनीय है। हि दी के इन अवाचीन आलोचको न अपने काव्य सम्ब धी विवचनो म साधारणीकरण को ही सर्वाधिक प्रमुखता दी। इसका कारण यह है कि रस मीमासा म साधारणीकरण ही सबसे अधिक विवादास्पद विषय है। अभिव्यक्ति के सम्ब ध म ऐसा विवाद नही है।

सामाजिक के स्थायी भाव की अभिव्यक्ति के रूप म रस का निणय अभिनव गुप्त के बाद प्राय सभी आचार्यों न स्वीकार कर लिया है। सामा य रूप साधारणीकरण को भी इस अभिव्यक्ति के आधार के रूप म आचार्यों ने मान लिया कि तु साधारणीकरण की प्रक्रिया क सम्ब ध म आचार्यों का एकमत नही रहा। इसका कारण यह है कि साधारणीकरण अभिव्यक्ति की भाति सरल सिद्धा त नही है। का य के रसास्वादन की जटिल परिस्थितियो म उसका आविष्कार हुआ तथा वे जटिल परिस्थितियाँ उसक आविष्कार क बाद भी बनी रही। आश्रय आलम्बन, उद्दीपन सामाजिक स्थायीभाव आदि रस क प्रमुख अग हैं। इनम साधारणीकरण का सम्ब ध किसस है और वह किस प्रकार घटित होता ह ऐसे प्रश्नो का सीधा और सरल उत्तर सम्भव नही हो सकता। इ ही प्रश्नो को लेकर सस्कृत के उत्तर कालीन काव्यशास्त्र म साधारणीकरण की मीमासा होती रही। हिन्दी की अर्वाचीन आलोचना म भी इ ही प्रश्नो को लेकर साधारणीकरण का विवेचन हुआ है। यह विवचन काव्य और रस क प्रसग म साधारणीकरण क महत्व और हि दी के अर्वाचीन आचार्यों की प्रतिभा का एकत्र परिचायक है।

अस्तु भट्टनायक और अभिनव गुप्त के बाद साधारणीकरण भारतीय काव्यशास्त्र का प्रतिष्ठित सिद्धात बन गया तथा सभी परवर्ती आचार्यों म उसे

काव्य के रस की सफल व्याख्या के रूप म स्वीकार किया। अभिनव गुप्त के बाद साधारणीकरण की मा यता तथा अमान्यता का प्रश्न नही रहा। उत्तरकालीन सस्कृत काव्यशास्त्र और अर्वाचीन हि दी आलोचना मे साधारणीकरण का विवेचन प्रमुखता से हुआ है किन्तु उसम साधारणीकरण की मान्यता के सम्बन्ध म कोई आशका उपस्थित नही की गई है।

सामा य रूप से साधारणीकरण के सिद्धान्त को मानकर केवल उसके विशेष रूप उसकी प्रक्रिया तथा उसके प्रयोजन के सम्बन्ध म सूक्ष्म विचार किया गया है। इस प्रकार उत्तरकालीन सस्कृत काव्यशास्त्र और अर्वाचीन हि दी आलोचना म साधारणीकरण के सम्बन्ध म आचार्यों म कुछ मतभेद उत्प न हुए हैं कि तु ये सभी मतभेद साधारणीकरण के सामा य सिद्धा त के अ तगत है। कोई भी परवर्ती आचाय साधारणीकरण के मूल पर आघात नहीं करत। उन का मतभेद केवल उसकी शाखाओ क सम्ब ध म है। आश्रय आलम्बन स्थायी-भाव आदि म किस का साधारणीकरण होता और किसका नहीं होता इसका विवचन ही उत्तरकालीन और अर्वाचीन रस मीमासा का उद्देश्य रहा है। आचार्यों के इन मतभेदो को साधारणीकरण क सिद्धा त क उपभेद कह सकत हैं। इन उपभेदों मे साधारणीकरण का खण्डन नही वरन् केवल उसके विशेष रूप और उसकी प्रक्रिया का निरूपण हुआ है। एक प्रकार से यह मतभेद साधारणी-करण के अभिनव समथन हैं।

इस प्रकार अभिनव गुप्त के बाद भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा मे साधारणीकरण काव्य मे रस की व्याख्या का प्रतिष्ठित और सवमा य सिद्धा त रहा है। चाहे यह हमारे देश की राजनीतिक दासता का परिणाम हो अथवा यह प्राचीन परम्परा का प्रभाव हो कि तु अभिनव गुप्त के बाद किसी भी आचाय न साधारणीकरण के प्रति कोई आशका प्रकट नही की और उसके खण्डन का साहस न किया। साधारणीकरण का खण्डन आवश्यक नही है, कि तु साधारणीकरण रस की असदिग्ध व्याख्या हो यह भी आवश्यक नही है। रस के स्वरूप और काव्य की स्थिति के अनुरूप रसास्वादन की सगति पर ही यह निभर होगा कि साधारणीकरण रस की व्याख्या का समुचित सिद्धान्त है अथवा नहीं। साधारणीकरण की उपयुक्तता के सम्ब ध मे आशकायें सम्भव हो

सकती है । हमने पिछले अध्यायों म रस के स्वरूप, रस के पात्र आदि के विवेचन के प्रसग मे साधारणीकरण के सम्बन्ध म कुछ आशकायें उपस्थित की हैं और उस अवसर पर इसका कुछ विवेचन भी किया है । हमारा मत है कि साधारणीकरण काव्य के रसास्वादन की समुचित व्याख्या नही करता । जिस प्राकृतिक व्यक्तित्व का आश्रय लेकर भारतीय काव्यशास्त्र आरम्भ से ही चला, उस व्यक्तिवाद के अनुरोध के कारण सामाजिक के रसास्वादन के प्रसग मे जो असगतियां उत्पन्न हुई उनका समाधान साधारणीकरण के सिद्धान्त ने बडे चमत्कार के साथ किया । सकट मे सहायक होने के कारण काव्यशास्त्र की परम्परा मे साधारणीकरण का सिद्धान्त बहुमान्य हुआ । काव्यशास्त्र के व्यक्तिवादी आधार के प्रति आशका प्रकट न करने के कारण उस व्यक्तिवाद से उत्पन्न समस्याओं का समाधान करने वाले साधारणीकरण का स्वागत सभी आचार्यों ने किया । कदाचित् काव्यशास्त्र की परम्परा मे साधारणीकरण का विरोध करने का प्रथम दुस्साहस हमने ही किया है । हम आचार्यों और विद्वानो से अपनी इस असाधारण धृष्टता के लिए क्षमा मागते हैं और उनसे विनम्र निवेदन करते हैं कि वे हमारी धृष्टता को दुस्साहस न समझ कर काव्य के एक विनीत विचारक का गम्भीर मत मान कर उस पर गम्भीरता पूर्वक विचार करें ।

पिछले अध्यायो मे अनेक स्थानो पर रस मीमासा के प्रसग म हमने यह अभिमत प्रकट किया है कि साधारणीकरण काव्य के रसास्वादन की समुचित व्याख्या नही है । साधारणीकरण के सम्बन्ध म हमारी जो आपत्तियां है उनका विवेचन हम आगे इस अध्याय म करेंगे इन आपत्तियों का कुछ सकेत हमने पिछले अध्यायों मे भी किया है । यहा इन आपत्तियों के विस्तृत विवेचन के पूर्व मे केवल यह सकेत कर देना अभीष्ट है कि हम साधारणीकरण के स्थान पर समात्मभाव को काव्य के रस की व्याख्या का समीचीन सिद्धान्त मानते हैं । यह समात्मभाव का सिद्धान्त काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे हमारी मौलिक और नवीन उद्भावना है । साधारणीकरण के आलोचन के बाद हम समात्मभाव के सिद्धान्त की भी कुछ व्याख्या इस अध्याय मे आगे चलकर करेंगे । पिछले अध्यायो म भी हमने अनेक स्थानो पर समात्मभाव का कुछ सकेत किया है । साधारणीकरण के विवेचन और समात्मभाव की व्याख्या के पूर्व भूमिका के रूप मे कुछ निवेदन करना हम अभीष्ट है ।

हमने पिछले अध्यायो मे रस की समस्याओ के विवेचन के प्रसग मे अनेक बार यह सकेत किया है कि भारतीय काव्यशास्त्र की मौलिक भूल यह रही है कि उसका रस सम्बन्धी दृष्टिकोण आरम्भ से ही प्राकृतिक व्यक्तिवाद पर अवलम्बित है। यह दृष्टिकोण इस बात को मान कर चलता है कि व्यक्ति अपने अहकार की इकाई मे रस का अनुभव और आस्वादन करता है। प्राकृतिक जीवन और अनुभव के सम्बन्ध मे यह दृष्टिकोण सही है। किन्तु सास्कृतिक जीवन के सम्बन्ध से यह सही नही है। प्रकृति सस्कृति का उपकरण अवश्य बन सकती है किन्तु सस्कृति मे समन्वित होने के लिए प्रकृति म आत्मभाव की मर्यादा का अनुष्ठान अपेक्षित होता है इस मर्यादा के द्वारा सस्कृति आत्मा के साथ प्रकृति का समन्वय बन जाती है। यह समन्वय आत्मभाव के द्वारा ही सम्भव होता है। इस आत्मभाव के द्वारा प्रकृति का आत्मा के साथ और व्यक्तित्व के अहकार का परस्पर साम्य अथवा सामजस्य का सकेत करने के लिए हमने इस आत्मभाव को समात्मभाव का नाम दिया है। आत्मा वदान्त दशन का एक प्रसिद्ध तत्व है। निरवच्छिन्न और आन दमय चेतना का कवल्य रस आत्मा का स्वरूप है। हमने इस शुद्ध अध्यात्म के आलौकिक क्षेत्र से सस्कृति के लौकिक क्षेत्र का विवेक करने के लिए भी मूलभाव को आत्मभाव न कह कर समात्मभाव कहा है। आत्मा के निरविच्छन्न कैवल्य मे प्राकृतिक उपकरणो का विलय हो जाता है, किन्तु समात्मभाव मे प्राकृतिक उपकरणो का समाहार है और समाहार के साथ साथ उन सबका सामजस्य भी है।

यह सामजस्य आत्मभाव के अनुकूल प्रकृति की मर्यादा के द्वारा सम्पन्न होता है। प्रकृति की इस मर्यादा के अन्तगत आत्मभाव की निगूढ प्रेरणा सस्कृति के सौन्दय और आनन्द के स्रोत खोलती है सस्कृति का एक और अग होने के नाते, हमारे मत मे काव्य के रूप और रस का मूल आधार भी यही समात्मभाव है, व्यक्तिवाद नही। हमारे मत मे सस्कृति और काव्य के सौन्दय का उदय व्यक्तित्व की इकाई के एकान्त मे नही होता, वरन् समात्मभाव की स्थिति म होता है। यह समात्मभाव साक्षात् और काल्पनिक दोनो ही प्रकार का होता है। साक्षात् जीवन मे सम्भव न होने पर मनुष्य काल्पनिक समात्मभाव के द्वारा उसकी पूर्ति करता है और सस्कृति एव कला की भावनाओ को चरिताथ करता है। समात्मभाव का यह सिद्धान्त काव्य के स्वरूप और रस की अधिक सगत

व्याख्या प्रस्तुत करता है। यह समात्मभाव उस प्राकृतिक व्यक्तिवाद के विपरीत है जो प्रारम्भ से ही समस्त काव्यशास्त्र का अवलम्ब रहा है। साधारणीकरण का सम्बन्ध इस प्राकृतिक व्यक्तिवाद से ही है। काव्य में इस व्यक्तिवाद के अनुरोध के कारण रसास्वादन के प्रसग मे उत्पन्न होने वाली असगतियों का एक चमत्कारपूर्ण समाधान उपस्थित करने के कारण साधारणीकरण के सिद्धान्त का आचार्यों ने स्वागत किया। इन आचार्यों ने काव्यशास्त्र मे प्रारम्भ से ही प्रतिष्ठित प्रकृति के व्यक्तिवाद का विरोध नहीं किया। अत साधारणीकरण का स्वागत करना उनके लिए स्वाभाविक था। प्राकृतिक व्यक्तिवाद के साथ-साथ हमारा समात्मभाव का सिद्धान्त साधारणीकरण के भी विपरीत है। हमारे मत मे साधारणीकरण प्राकृतिक व्यक्तिवाद से भ्रान्त काव्यशास्त्र में उत्पन्न होने वाली समस्याओं का एक भ्रान्त समाधान है। व्यक्तिवाद से उत्पन्न समस्याओं का समाधान होने के कारण आचार्यों ने साधारणीकरण का स्वागत किया। एक कठिन सकट से मुक्ति की प्रसन्नता में वे स्वयं साधारणीकरण से उत्पन्न होने वाली समस्याओं पर विचार नहीं कर सके। आगे के विवेचन मे हम इन समस्याओं पर विचार करेंगे और यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न करेंगे कि व्यक्तिवाद से उत्पन्न समस्याओं का उपचार साधारणीकरण नहीं वरन् व्यक्तिवाद के भ्रान्त दृष्टिकोण को छोड़कर समात्मभाव के समीचीन दृष्टिकोण को अपनाता है। समात्मभाव का सिद्धान्त व्यक्तिवाद और साधारणीकरण दोनों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का उन्मूलन करके काव्य के स्वरूप और उसके रसास्वादन के सम्बन्ध मे एक सगत और समीचीन दृष्टिकोण उपस्थित करता है जो काव्य के सौन्दर्य एव महत्व की रक्षा करने के कारण संस्कृति के व्यापक दृष्टिकोण के अनुकूल है।

भारतीय काव्यशास्त्र मे साधारणीकरण की अवतारणा का श्रेय भट्ट नायक को दिया जाता है। भट्टनायक के पूर्व भट्ट लोल्लट ने आरोपवाद के द्वारा और श्री शकुक ने अनुमितिवाद के द्वारा नाटक की विशेष स्थिति में सामाजिक रसास्वादन की व्याख्या करने का प्रयत्न किया था। भट्टनायक को ये दोनों सिद्धान्त अपूर्ण और दोषपूर्ण प्रतीत हुए। उन्होंने इनके स्थान पर एक अधिक पूर्ण और निर्दोष सिद्धान्त के रूप में साधारणीकरण को प्रस्तुत किया। भट्ट-नायक की आपत्ति भट्ट लोल्लट के आरोपवाद की अपेक्षा श्री शकुक के अनुमिति-

वाद के प्रति अधिक है भट्ट लोल्लट के आरोपवाद पर उन्होंने अधिक विचार नहीं किया और श्री शंकुक द्वारा किये गये आरोपवाद के खण्डन को ही पर्याप्त मान लिया है। वस्तुतः, भट्टनायक की यह प्रणाली ही किसी सीमा तक साधारणीकरण जैसे भ्रमपूर्ण सिद्धान्त के स्थापन और प्रचार के लिए उत्तरदायी है। श्री शंकुक के निर्णय के आधार पर उन्होंने यह मान लिया कि भट्टलोल्लट का आरोपण का सिद्धान्त गलत है क्योंकि सामाजिक आरोप के द्वारा नट में मूलपात्र के भाव और रस की स्थापना नहीं करते वरन् अनुमान के द्वारा करते हैं। श्री शंकुक ने चित्र तुरग के ज्ञान के अनुरूप नाटक विषयक अनुमान का विलक्षण रूप माना है। श्री शंकुक ने इसे सादृश्य ज्ञान से भिन्न माना है। किन्तु इसमें सादृश्य का आधार स्पष्ट दिखाई देता है। अनुमिति एक यथार्थ ज्ञान है किन्तु नट में रस की उपस्थिति का पूर्णतः यथार्थ ज्ञान नहीं कहा जा सकता। अतः भट्ट लोल्लट का आरोपवाद नाटकीय सत्य के अधिक निकट है। नाटक की स्थिति में व्याप्ति का अवकाश भी नहीं दिखाई देता। नाटक में यदि व्याप्ति का उपनय होगा भी तो वह भी भ्रम अथवा आरोप पर ही आश्रित होगा क्योंकि व्याप्ति के पूर्व और प्रत्यक्ष अनुभव नाटकीय स्थिति से भिन्न है। नटों के अनुभावों को साक्षात् जीवन के अनुभावों के पूर्णतः समान समझना भ्रम अथवा आरोप के आधार पर ही हो सकता। अतः नाटक के रसास्वादन में अनुमिति का अवकाश होने पर भी आरोप का परिहार नहीं होता। अनुमिति के सम्बन्ध में भट्ट नायक का यह आरोप भी युक्ति संगत है कि नाटक का रसास्वादन अनुमिति के आधार पर नहीं हो सकता। रस एक प्रकार का चमत्कार है। यह चमत्कार प्रत्यक्ष में ही सम्भव हो सकता है। अनुमिति में कोई चमत्कार नहीं होता। आरोप भ्रमपूर्ण ज्ञान होने पर भी ज्ञान है। अतः उसमें रस के चमत्कार की सम्भावना हो सकती है। आगे चलकर नारायण पण्डित ने भी चमत्कार को रस का सार बताया है। (रसे सारश्चमत्कारः)।

आश्चर्य की बात है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में रस का चमत्कार मानते हुए भी भट्ट नायक ने साधारणीकरण को रसानुभूति का आधार माना है। साधारणीकरण के द्वारा पात्रों के विशेष रूप का परिहार होता है और वे कामिनीत्व आदि साधारण अथवा सामान्य रूप में प्रस्तुत होते हैं। यह दर्शन का एक सरल सत्य है कि सामान्य का पृथक और स्वतन्त्र प्रत्यक्ष योगियों के लिए सम्भव है, किन्तु

सब साधारण के लिए सम्भव नही है। प्रत्यक्ष का सम्ब ध विशेष स है। इतना अवश्य है कि सामा य से युक्त विशेष का प्रत्यक्ष होता है, कि तु केवल सामा य का प्रत्यक्ष नही होता। कदाचित् सामा य के प्रत्यक्ष की इसी कठिनाई को दूर करने के लिए भावना के व्यापार द्वारा साधारणीकरण की स्थापना के साथ साथ एक तीसरे भोग व्यापार की कल्पना की है। भोग व्यापार के द्वारा सत्व का उद्रेक होता है और सामाजिक की रसानुभूति की क्षमता प्रकट होती है। सत्व का वह उद्रेक योग की उस भूमि के अत्य त निकट है जिसम योगियो को सामा य या प्रत्यक्ष होता हैं। भाग की कल्पना स भट्टनायक क साधारणीकरण के सिद्धान्त मे कुछ अधिक सगति अवश्य आ जाती है। कि तु दूसरी ओर एक अ य महान् असगति उपस्तिथ हो जाती है। वह यह है कि नाटक के सभी दशक जो किसी न किसी रूप म उसका रसास्वादन करते हैं सत्व की इस भूमि पर नही होत और न वे केवल सामा य के रूप म पात्रो का प्रत्यक्ष करते हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि साधारणीकरण पात्रा के सामा य रूप का प्रत्यक्ष भी नटा मे आरोपण के बिना नही हो सकता। अत साधारणीकरण की स्थिति मे भी भट्टलोल्लट का आरोपवाद अपरिहाय है। भट्टनायक ने श्री शकुक की अनुमिति पर अधिक ध्यान देने के कारण साधारणीकरण के लिए अपक्षित आरोप के इस अनिवाय आधार पर विचार नही किया। श्री शकुक के अनुमितिवाद का खण्डन करने पर भी भट्टनायक श्री शकुक के बुद्धिवाद से प्रभावित हुए। विरोध का परिणाम प्राय ऐसा होता है। भारतीय धम सम्प्रदायो के विकास म इसका एक प्रबल प्रमाण मिलता हैं। ईश्वरवादी, मठवादी उपदेशवादी तथा समूहवादी पश्चिमी धम सम्प्रदायो का विरोध करत हुए भी भारतीय धम सम्प्रदायो मे उत्तरोत्तर इ ही लक्षणा की प्रतिष्ठा होती गई तथा भारतीय धम पश्चिमी धर्मों के अधिक अनुरूप बन गये। इसी प्रकार भट्ट लोल्लट भी अनुमितिवाद का खण्डन करत हुए भी उसके बुद्धिवाद से प्रभावित हुए। अनुमिति का खण्डन करत समय भट्ट नायक ने यह धारणा प्रकट की है कि रस का आधार अनुमिति नही वरन् प्रत्यक्ष है क्योंकि प्रत्यक्ष म ही चमत्कार होता है अनुमिति मे नही होता। इसी धारणा के अनुरूप उ होने सामा य के प्रत्यक्ष का प्रतिपादन रस के आधार के रूप मे किया है। कि तु सामा य का

प्रत्यक्ष साधारण जनो को नही हो सकता। उन्हे सामान्य से युक्त विशेषो का ही प्रत्यक्ष होता है। यदि वे चाहे तो बौद्धिक प्रत्यक्ष के द्वारा सामान्य का प्रत्याहार कर सकते हैं। विशेषो के प्रत्यक्ष मे भी सामान्य का अनुगम प्रत्यक्ष के द्वारा नही वरन् बुद्धि के ही द्वारा होता है।

जनसाधारण की बुद्धि मे भी सत्व की प्रधानता होती है। सत्व की प्रधानता बुद्धि का सामान्य लक्षण है। साधारणीकरण म सामान्य को एक बौद्धिक प्रत्याहार मानना रसानुभूति के विपरीत है। रस का आस्वादन बौद्धिक नही वरन् मानसिक होता हैं। अनुमान म जो रस का चमत्कार नही होता उसका एकमात्र कारण अनुमिति वस्तु की प्रत्यक्ष मे अनुपस्थित नही है। उसका एक दूसरा कारण अनुमिति मे बुद्धि की प्रधानता है। भट्टनायक का ध्यान अनुमिति और प्रत्यक्ष के प्रथम भेद की ओर गया। कि तु अनुमिति और साधारणीकरण म बुद्धि की प्रधानता तथा इसके द्वारा रसानुभूति मे उपस्तिथ होन वाली बाधा की ओर नही गया। इसके विपरीत श्री शकुक की अनुमिति से बुद्धि का सकेत ग्रहण कर भट्टनायक न साधारणीकरण का बौद्धिक सिद्धात स्थापित किया। इस बौद्धिक व्यापार म रस की सम्भावना नही हो सकती। इसीलिए साधारणीकरण की स्थिति मे रस को सम्भव बनाने के लिए भट्ट नायक ने सत्व के उद्रेक से युक्त एक तृतीय भोग व्यापार की कल्पना की है। भट्ट नायक ने भावना और भोग दोनो को अभिधा के समान शब्द का व्यापार माना है। आगे चलकर अभिनव गुप्त ने साधारणीकरण का सम्ब ध अथ के माग से ध्वनि के साथ किया है और ध्वनि म उसका अ तर्भाव करने का प्रयत्न किया हैं। अभिनव गुप्त के मत का विवचन हम आगे करेंगे।

यहा भट्ट नायक के मत के सम्ब ध मे इतना और कहना अभीष्ट है कि भट्ट नायक के अभीष्ट भावना और भोग इन दोनो व्यापारो म ऐसी आवश्यक सगति नही है जसी कि सम्भवत भट्ट नायक मानते हैं। हमने सातवें अध्याय मे भट्टनायक के मत के प्रसग मे यह सकेत किया है कि सत्व का उद्रेक साधारणी-करण का फल नही वरन् कारण हो सकता है। आगे विचार करने पर हमे ऐसा प्रतीत होता है। सत्व का उद्रेक होने पर काव्य अथवा नाटक का रसा स्वादन करने के लिए साधारणीकरण अपेक्षित नही है वरन् एक प्रकार से

अनपेक्षित है, क्योंकि वह विशेष भाव का परिहार करके काव्य अथवा नाटक के विशेष रस और विशेष सौंदर्य को निरर्थक बना देता है। सत्व का उद्रेक होने पर सामाजिक सभी पात्रों के साथ सात्विक समात्मभाव के द्वारा नाटक के विशेष रस और सौंदर्य का आस्वादन कर सकते हैं। सत्व का उत्कर्ष व्यक्ति की साधना के द्वारा ही होता है, कवि का भाव उसकी कला का कौशल इसमें सहायक हो सकता है। कवि कर्म का यह फल भी केवल शब्द का व्यापार नहीं है, वरन् कवि के भाव और व्यंजना के उस अद्भुत चमत्कार का फल है, जिसका पूर्ण रूप से निर्वचन सम्भव नहीं है। अभिधा में बहिर्गत क्षेत्रों का अभिधान कुछ आत्म विरोधी सा प्रतीत होता है। व्यंजन, ध्वनि, रस सौन्दर्य आदि के निर्धारण के प्रयत्नों में यह विरोध अन्तर्निहित रहता है। सत्वगुण और साधारणीकरण की उक्त अमगति की ओर भट्ट नायक तथा अन्य आचार्यों का ध्यान नहीं गया। प्राकृतिक व्यक्तिवाद के प्रभाव के कारण आचार्यों की दृष्टि पात्रों के साथ सामाजिक के तादात्म्य पर रही।

इसीलिए साधारणीकरण के द्वारा उन्होंने इस तादात्म्य को सम्भव बताया। आगे चलकर आचार्यों ने आश्रय और उसके स्थायीभाव का साधारणीकरण भी माना है, किन्तु भट्टनायक के लिए साधारणीकरण की अपेक्षा मूलपात्रों और आलम्बनों को लेकर हुई। भावना व्यापार के द्वारा साधारणीकरण का सम्बन्ध मुख्य रूप से इन्हीं के साथ है। सत्व के उद्रेक का सम्बन्ध इनसे नहीं वरन् सामाजिक से है। भट्टनायक का ग्रन्थ न मिलने के कारण यह विदित नहीं है कि साधारणीकरण के सम्बन्ध में उठने वाली अनेक समस्याओं के विषय में उनके क्या विचार थे इनमें कुछ समस्याओं के सम्बन्ध में उत्तरकालीन आचार्यों ने कुछ विचार किया है। अर्वाचीन हिन्दी के आलोचकों ने भी कुछ समस्याओं का विवेचन किया इन्हीं आचार्यों के विचारों की भूमिका में हम साधारणीकरण का विवेचन करेंगे।

भट्ट नायक के द्वारा काव्यशास्त्र में प्रथम बार स्थापित होने के बाद साधारणीकरण का सिद्धान्त सामान्यतः सभी आचार्यों ने स्वीकार किया। परवर्ती आचार्यों में साधारणीकरण की मान्यता अथवा अमान्यता के सम्बन्ध में मतभेद नहीं रहा। उनका मतभेद साधारणीकरण के विशेष रूप और प्रक्रिया

के सम्बन्ध मे रहा। इस प्रकार आचार्यों के अनुयोग से साधारणीकरण का सिद्धान्त अधिक विकसित और प्रतिष्ठित हुआ। साधारणीकरण के विकास और उसकी प्रतिष्ठा मे सबसे प्रथम और प्रमुख योग अभिनव गुप्त का है। अभिनव गुप्त ने साधारणीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार किया, किन्तु उसकी प्रक्रिया के सम्बन्ध मे उनका भट्ट नायक से मतभेद रहा। भट्ट नायक साधारणीकरण को *भावना का व्यापार मानते हैं।* इसके *स्थान पर अभिनव गुप्त यह* मानत हैं कि साधारणीकरण भावना के व्यापार के द्वारा नही, वरन् व्यजन के व्यापार से होता है। भट्ट नायक की भावना केवल शब्द का व्यापार है, किन्तु व्यजना अथवा ध्वनि मे अथ का व्यापार भी अन्तर्निहित है। यदि साधारणीकरण को सम्भव माना जाय तो उसकी प्रक्रिया के सम्ब ध मे अभिनव गुप्त का मत ही अधिक समीचीन है। आर्थी भावना के बिना केवल शाब्दी भावना से साधारणीकरण सम्भव न होगा। किन्तु इस शाब्दी भावना को साधारणीकरण के प्रसग मे ध्वनि अथवा व्यजना मानना कहा तक उचित है। यह अत्य त सूक्ष्म विचार का विषय है। अभिधान होने पर भी उसका प्रत्यक्ष नही होता। अत उसका अलक्ष्य सकेत ही मानना होगा। सामान्य का यह अलक्ष्य सकेत यदि वाक्याथ को ध्वनि से पूर्णत अभिन्न नही तो उसके अत्य त निकट अवश्य है।

भट्टनायक के साधारणीकरण मे अभिव्यक्तिवाद का योग दकर अभिनव गुप्त ने *काव्यशास्त्र के रस सिद्धान्त को पूर्ण किया।* *भट्ट नायक ने एक तृतीय* भोग व्यापार के द्वारा सत्व का उत्कर्ष और साधारणीकृत विभाव आदि के सयोग से सामाजिक के रसास्वादन की उपपत्ति की थी। भट्टनायक के मत म यह स्पष्ट नही है कि साधारणीकरण और सत्व के उद्रेक की अवस्था मे रस का आस्वादन किस रूप मे होता है तथा उसमे स्थायीभावो की क्या स्थिति होती है? अभिनव गुप्त ने इस रसास्वादन के रूप और स्थायीभाव की स्थिति को स्पष्ट कर परम्परा गत रस सिद्धा त को पूर्ण बनाया है। इसी कारण अभिनव गुप्त को इतना आदर और उसके सिद्धान्त को इतनी मान्यता मिली। अभिनव गुप्त का अभि मत यह है कि साधारणीकृत विभाव आदि के सयोग से सामाजिक का स्थायी-भाव जाग्रत हो जाता है और वह रस रूप मे परिणित होता है।

साधारणीकरण नाटक के विभाव आदि को सामाजिक के विभाव आदि बनाकर उन्हें सामाजिक के लिए ग्राह्य बना देता है तथा सामाजिक के रसास्वादन को सम्भव बनाता है। काव्यशास्त्र की रसमीमांसा में आरम्भ से ही यह समस्या थी कि नाटक के पात्रों द्वारा अनुभूत रस सामाजिक का रस किस प्रकार बनता है? विभाव आदि का साधारणीकरण पात्रों और सामाजिकों के भेद का परिहार करता है और अभेद और भाव के द्वारा सामाजिक का रसास्वादन सम्भव बनाता है। विश्वनाथ ने अपने साहित्य दपण म पात्रो के साथ प्रमाता सामाजिक के इस अभेद का निर्देश किया है। साधारणीकरण के द्वारा नाटक के विभाव आदि सामाजिक के रसास्वादन के उपकरण बनते हैं। यह अद्भुत चमत्कार ही साधारणीकरण की मान्यता का रहस्य है। अभिव्यक्ति के सिद्धान्त म यह प्रतिपादित किया गया है कि साधारणीकृत विभाव आदि के सयोग स सामाजिक का अपना स्थायी भाव ही जागरित होता है और वह अपने ही रस का आस्वादन करता है। अभि यक्तिवाद का यह दृष्टिकोण सामाजिक के स्वाभिमान के अनुरूप है किन्तु यह सिद्धा त काव्य के सौन्दय के विशेष रूप और उसके विशेष रस के महत्व का पूर्ण अपहरण कर लेता है। काव्यशास्त्र के सभी आचाय सामाजिक की कोटि म थे। उनम कोई भी महान कवि की कोटि का काव्य सृष्टा नही था। अत काव्य के सौ दय और रस के इस अपहरण से खिन्न न होकर सामाजिक के अपने रसास्वादन म रसमीमांसा की सतोषजनक परिणति मनाना उनके लिए आश्चयजनक न था। साधारण सामाजिकों तथा विद्वानो का भी अभि यक्तिवाद को सतोषजनक मानना उसी प्रकार से स्वाभाविक ही था। महान् कवियों ने काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों को बहुत कम ध्यान दिया है। जि होने इनको ध्यान दिया है उनके काव्य की सहज प्रतिभा नियमों के अनुशीलन से म द हुई है। काव्य के अधिकाश अनुरागी भी इन सिद्धान्तो से अधिक परिचित नही रहे। वे सहज भाव से काव्य का रसास्वादन करते रहे। हमारा विश्वास है कि उनका यह सहजभाव हमारे समात्मभाव के अधिक निकट है। साधारणीकरण और अभिव्यक्तिवाद के सिद्धा त अकवि आचार्यों और विद्वानों की मान्यता तथा उनके विवेचन का विषय बने रहे।

हम ऊपर कर चुके हैं कि अभिनव गुप्त के बाद सस्कृत के परवर्ती आचार्यों तथा हिन्दी के अर्वाचीन आलोचकों का विवेचन साधारणीकरण एव अभि यक्ति-

वाद की मान्यता अथवा अमान्यता के विषय म नहीं है। उनके विवेचन का विषय इन सिद्धान्तों के अन्तर्गत ही इनके कुछ विशेष पक्षों पर विचार करना है। नाटक अथवा काव्य की स्थिति म रसास्वादन का सम्बन्ध कवि पात्र, नट आलम्बन उद्दीपन, सामाजिक आदि से होता है। प्रश्न यह उठता है कि साधारणीकरण इन सबका होता है अथवा इन सबका नहीं वरन् कुछ का ही होता है? काव्यशास्त्र के कोई भी आचार्य महान् कवि नहीं थे। अत उन्होंने कवि की दृष्टि से रस के प्रश्न पर विचार करना आवश्यक नहीं समझा। नाटक अथवा काव्य म कवि की उपस्थिति प्रत्यक्ष नहीं वरन् अप्रत्यक्ष होती है। अत रसमीमांसा के प्रसंग म कवि का ध्यान विशेष रूप से ही रखा जा सकता है। सामान्यत विद्वानों और सामाजिकों की दृष्टि कृति पर रहती है, कर्ता पर नहीं। काव्य पर रहती है कवि पर नहीं। यह उस प्राकृतिक दृष्टिकोण के अनुरूप है जो समानमभाव के प्रति उदासीन रहता है। काव्यशास्त्र म प्रतिष्ठित व्यक्तिवादी अभिव्यक्तिवाद इसी दृष्टिकोण का परिणाम है। यह एक अद्भुत सयोग है किन्तु यह अकारण नहीं है कि संस्कृत के अर्वाचीन आचार्यों म अन्तिम महान् आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ एक उच्च कोटि के कवि थे और उन्होंने साधारणीकरण के सिद्धान्त के प्रति सन्देह प्रकट किया है। इसी के समानान्तर एक दूसरा सयोग अर्वाचीन हिन्दी आलोचना म घटित हुआ है कि हिन्दी के अर्वाचीन आचार्यों म वय और श्रम की दृष्टि से अन्तिम समझे जाने वाले आचार्य डाक्टर नगेन्द्र भी अपने यौवनकाल में एक सुन्दर कवि थे और उन्होंने साधारणीकरण के प्रश्न को कवि की ओर म प्रस्तुत किया है। आज वे आचार्य के रूप मे प्रतिष्ठित हैं। किन्तु अपने विद्यार्थी काल म वे जन्मजात कवि के रूप म प्रख्यात थे। उनकी 'वनमाला' उनकी इन मौलिक कीर्ति की अम्लान वैजयन्ती है।

अस्तु आचार्यों म इन दो कवियों के अतिरिक्त अन्य किसी ने कवि के दृष्टिकोण से रसास्वादन और साधारणीकरण के प्रश्न को प्रस्तुत नहीं किया। नट म रस की उपस्थिति के प्रति किसी का विश्वास नहीं रहा। भट्ट लोल्लट और श्री शकुक भी नट म रस का आरोप और अनुमान ही मानते रहे। आरोप तो स्पष्टत भ्रम होता हैं, किन्तु श्री शकुक की अनुमति भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। उसमे भी आरोपण के भ्रम का अंश है। चित्र तुरग का उदाहरण इसका

स्पष्ट सकेत करता है कि नट के सम्बन्ध मे सामाजिक की धारणा यथाथ नाम नही है। कवि और नट को छोड देने पर नाटक के मूलपात्र और सामाजिक दो ही व्यक्ति शेष रह जाते हैं। इसम रस की उपस्थिति जिसमे होती है और किस का साधारणीकरण होता है यही विचार करना शेष रह जाता है। मूलपात्र प्रत्यक्ष रूप म उपस्थित नही होत। अत उनके रस का प्रसग भी कुछ आचार्यों का असगत जान पडता है। उनके मत में अन्तत सामाजिक ही नाटक अथवा काव्य के रस का आश्रय शेष रह जाता है। किन्तु भरत के आदि रस सूत्र म रस की निष्पत्ति विभाव आदि के सयोग से होती है। इन विभाव आदि का मूलत सामाजिक से कोई सम्बन्ध नही होता। वस्तुत आलम्बन आदि भी सामाजिक के सामने प्रत्यक्ष रूप म उपस्थित नही होत। साधारणीकरण इन विभाव आदि के साथ सामाजिक का सम्बन्ध स्थापित करता है। भरत के रस सूत्र मे भी रस के मूल आश्रय का उल्लख नही है। विभाव आदि रस के उपकरण हैं। इस सूत्र म आरम्भ स ही यह सकेत है कि ये आलम्बन आदि ही सम्भवत सामाजिक रसास्वादन के उपकरण बनते हैं। साधारणीकरण और अभिव्यक्तिवाद के सिद्धान्तो म भरत के रस सूत्र की यही सम्भावना साकार हुई है।

भरत के रस सूत्र म आश्रय के साथ साथ स्थायीभाव का भी नाम नहीं है। सामाजिक के स्थायीभाव को महत्व देने का श्रेय अभिनव गुप्त को है। यद्यपि जिस रूप मे अभिनव गुप्त ने उसकी स्थापना की है उससे काव्य के रसास्वादन के प्रसग मे कुछ भ्रान्तिया ही रूढ हुई है। काव्य के रसास्वादन मे प्राकृतिक दृष्टिकोण की स्थापना इन भ्रान्तियो म प्रमुख हैं। अभिनव गुप्त ने विभाव आदि तथा सामाजिक के स्तायीभाव इन सबका साधारणीकरण स्वीकार किया है किन्तु स्थानाभाव का साधारणीकरण ही उनकी प्रमुख विशेषता है। विभावा म आलम्बन प्रमुख है। वस्तुत आलम्बन को लेकर ही साधारणीकरण का प्रसग उठा है। मम्मट और विश्वनाथ ने आलम्बन आदि के साधारणीकरण क प्रसग मे पर और मम के भेद का परिहार कर कर मूल आश्रय के साथ सामाजिक के अभेद का सकेत भी किया है। हिन्दी के आचाय रामचन्द्र शुक्ल न आश्रय के साथ तादात्म्य का प्रतिपादन इसी आधार पर किया है। काव्य प्रकाश की प्रदीप नामक टीका मे साधारणीकरण को सामान्यीकरण के रूप म

प्रस्तुत किया है। प्रदीप की प्रभा नामक उपटीका में मम्मट के पर और मम के अभाव की व्याख्या सम्बन्धहीनता के रूप में की गई है। प्रभा की व्याख्या का आधार अभिनव गुप्त का यह वचन है–सम्बन्ध विशेष स्वीकार परिहार नियमान ध्यवसायात्। प्रभाकर और अभिनव के मत में इतना भेद करना होगा कि अभिनव को कदाचित् पूर्ण सम्बन्ध हीनता अभीष्ट नहीं है। उनके अनुसार साधारणीकरण में न सम्बन्ध विशेष के स्वीकार का नियम है और न उसके परिहार का नियम है। अभिनव गुप्त के वचन में सम्बन्ध में परिहार का अभाव ध्यान देने योग्य है। सम्बन्ध विशेष का स्वीकार और परिहार न होने से अभिनव के मत में 'सकल हृदय सम्वाद' सम्भव होता है, जो उनके अनुसार रसानुभव का मूल स्रोत है।

अन्य आचार्यों में रसार्णव सुधाकर, रस प्रदीप और रस चन्द्रिका के लेखकों का नाम लिया जा सकता है। 'रसार्णव सुधाकर' के अनुसार साधारणीकरण के द्वारा विभाव आदि का सामाजिक से सम्बन्ध स्थापित होता है जो उसकी रसानुभूति में उपकारक है। सम्बन्ध की प्रतीति के बिना रसानुभूति सम्भव नहीं है। रस प्रदीप में साधारणीकरण के प्रसग में सस्कार की चर्चा भी मिलती है। सस्कार को एक प्रकार से भावना का पर्याय माना गया है। इस सस्कार के द्वारा आश्रय और सामाजिक के स्थायीभाव का अभेदावसान होता है तथा भोग की निष्पत्ति होती है। सस्कार के सम्बन्ध में एक विचारणीय बात यह है कि ग्राहक निष्ठ होता है। इस सस्कार को लेकर ही काव्य के रसास्वादन में सहृदय' की चर्चा होती है। इतना विचारणीय है कि सस्कार को मानने पर भावना और भोग केवल शब्द के व्यापार अथवा केवल काव्यगत गुण नहीं रह जाते रस चन्द्रिका में साधारणीकरण को काव्य प्रकाश की प्रदीप व्याख्या के अनुरूप सामान्यीकरण माना गया है। उसके अनुसार भावना नामक द्वितीय व्यापार से सीता आदि की उपस्थिति सामान्य कान्ता के रूप में होती है।

साधारणीकरण के सम्बन्ध में अभिनव गुप्त के परवर्ती आचार्यों का मत सक्षेप में यह है कि साधारणीकरण का मुख्य प्रयोजन नाटक अथवा काव्य के आलम्बन को सामाजिक का आलम्बन तथा उसकी रसानुभूति का उपकारक बनाना है। अगम्या गमन आदि के दोषों से साधारणीकरण की आवश्यकता

प्रकट होती है। साधारणीकरण से सामाजिक की रसानुभूति के बाधक दोनों तत्वों का परिहार हो जाता है और आलम्बन आदि उसकी रसानुभूति के अनुग्राहक बन जाते हैं। जब सीतादि आलम्बन सामा य कामिनी के रूप म उपस्थित होते हैं तो अगम्या गमने के दोष का भी परिहार हो जाता ह तथा सामाजिक से असम्बद्ध प्रतीत होते हैं और उसकी रसानुभूति क कारक बन जाते हैं।

अस्तु संस्कृत काव्यशास्त्र म आचार्यों मे साधारणीकरण के सम्ब ध म अधिक मतभेद नहीं है। सामा यत सभी आचार्य विभाव आदि सबका साधारणीकरण मानते हैं। नायक और कवि के साधारणीकरण की चर्चा आचार्यों न नहीं की है। *अभिनव गु्त के गुरु भट्टतोत न अपने 'नायकस्य कवे श्रोतु'* नामक प्रसिद्ध वचन म नायक और कवि के साधारणीकरण का प्रश्न उठाया था, कि तु परवर्ती आचार्यों ने इसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। समस्त परवर्ती आचार्यों म आचार्य रामच द्र शुक्ल ने नायक (आश्रय) के तादात्म्य का और डाक्टर नगे द्र ने कवि के साधारणीकरण का समर्थन भारतीय काव्यशास्त्र म प्रथम बार किया है। आचार्य शुक्ल जी ने आलम्बन क साधारणीकरण पर अधिक बल दिया है और डाक्टर नगे द्र ने कवि की अनुभूति के साधारणीकरण को प्रमुख माना है। डाक्टर नगे द्र ने आलोचना की इडा पर मुग्ध होकर अपनी सहधर्मिणी कविता की श्रद्धा का त्याग किया है। फिर भी का य के किशोर संस्कारों की प्रेरणा से भट्टतौत के बाद उ होने प्रथम बार रस मीमांसा के प्रसंग मे कवि के दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। इसके लिए काव्यालोचन उनका सदा ऋणी रहेगा। कवि रस का स्रष्टा है और रस मीमांसा के प्रसंग म साधारणीकरण का प्रमुख अधिकारी है। अर्वाचीन हि दी आलोचना की प्रथम परिणति मे कवि के दृष्टिकोण के प्रस्तुत करने का श्रेय एक ज मजात कवि को मिले यह नितान्त स्वाभाविक है।

अस्तु संस्कृत के उत्तरकालीन का यशास्त्र म आचार्यों ने साधारणीकरण के विभिन्न पक्षों और अंगों को ही प्रकाशित किया है। साधारणीकरण की मूल समस्या के सम्ब ध म उनम कोई मौलिक मतभेद प्रकट नहीं होता। इसका कारण यह है कि अभिनव गुप्त के बाद संस्कृत काव्यशास्त्र म मौलिक चि तन

की परम्परा एक प्रकार से समाप्त हो गई। अधिकांश आचार्यों ने अभिनवगुप्त के मत को प्रमाण मानकर उसका ही समर्थन और व्याख्यान किया है। किन्तु अर्वाचीन हिन्दी आलोचना का इतिहास भिन्न है। प्राचीन काव्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों का स्वीकरण और समर्थन करते हुए भी अर्वाचीन हिन्दी आलोचकों ने काव्य के कुछ पक्षों के सम्बन्ध में मौलिक और महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये है। रस और साधारणीकरण का प्रसंग इनमें प्रमुख है। इस सम्बन्ध मे हिन्दी के अर्वाचीन आचार्यों मे जो मतभेद हैं वे उनके चिन्तन की मौलिकता को प्रमाणित करते हैं। आलोचना के प्रथम उत्थान में ही हिन्दी के इतिहास से मौलिकता की यह अभिव्यक्ति हिन्दी के लिए गौरव की बात है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अर्वाचीन हिन्दी साहित्य में मौलिक और महत्वपूर्ण आलोचना के प्रवर्तक थे। काव्य के स्वरूप, काव्य में प्रकृति वर्णन, रस और साधारणीकरण के सम्बन्ध मे उनके विचार गम्भीर और महत्वपूर्ण हैं। सामान्य रूप से आचार्य शुक्ल संस्कृत आचार्यों के समान विभाग आदि का साधारणीकरण मानते हैं। किन्तु उन्होंने आलम्बन के साधारणीकरण पर अधिक बल दिया है और अन्त मे आश्रय के साथ सामाजिक के तादात्म्य की चर्चा की है किन्तु आलम्बन के साधारणीकरण के सम्बन्ध मे उनका मत संस्कृत के आचार्यों से कुछ भिन्न है। संस्कृत काव्यशास्त्र में आलम्बन के साधारणीकरण का अभिप्राय उसके विशेष भाव का परिहार तथा सामान्य कान्तात्व आदि रूप में उसकी उपस्थिति है। आचार्य शुक्ल आलम्बन का नहीं वरन् उसके आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण मानते हैं। चिन्तामणि' (भाग १ पृष्ठ २२७) मे उन्होंने अपने अभिप्राय को इन शब्दों में व्यक्त किया है— साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्तिविशेष या वस्तु विशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है। जिस व्यक्ति विशेष के प्रति किसी भाव की व्यजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति विशेष ही उपस्थित रहता है।' आगे चलकर वे इस सम्बन्ध मे कहते हैं (चिन्तामणि भाग १ पृष्ठ २२६) कि कल्पना में मूर्ति तो विशेष की ही होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन मे भी जगाये, जिसकी व्यजना

आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धम का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसम प्रतिष्ठा एस सामा य धम की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों क मन मे एक ही भाव का उदय थोडा या बहुत होता है। तात्पय यह है कि आलम्बन रूप मे प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है। विभावादि सामा य रूप मे प्रतीत होत है—इसका तात्पय यही है कि रस मग्न पाठक के मन मे यह भेद भाव नही रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोडी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामा य हृदय हो जाता है। उसका अपना अलग हृदय नही रहता।' शुक्लजी के अभिमत आलम्बनत्व धम के साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि साधारणीकरण में आलम्बन के विशेष भाव का परिहार नही होता, जैसा कि सस्कृत के आचार्यों को अभीष्ट है वरन् वह अपन विशेष रूप म बना रहकर भी सामाजिकों की रसानुभूति का आलम्बन बन जाता है। यह किस प्रकार सम्भव होता है इसका उत्तर हम आश्रय के साथ सामाजिक के तादात्म्य मे होता है। शुक्ल जी इस तादात्म्य को मानते हैं इस तादात्म्य का आधार उ होने विश्वनाथ के 'प्रमातातद भेदेन' के आधार पर सामाजिक और आश्रय के अभेद का माना है। किन्तु यह अभेद किस प्रकार सभव होता है इसकी याख्या उन्होंने नही की। सस्कृत के आचार्यों के अनुसार तो इसका आधार सब ध विशेष का परिहार अथवा स्वीकार परिहार का अनियम तथा आश्रय और सामाजिक का सामा यीकरण के अथ मे साधारणीकरण माना जायेगा। आश्रय का साधारणीकरण भावना अथवा यजना के द्वारा होगा तथा सामाजिक का साधारणीकरण सत्व के उद्रेक के द्वारा होगा, जिसमे उसके स्वपर भाव का निरा करण हो जाता है। इस प्रकार आश्रय और सामाजिक का तादात्म्य सभव हो सकेगा, किन्तु इस रूप मे इनका तादात्म्य मानने पर आलबन के विशेष रूप से सगति न हो सकेगी। आलबन के विशेष रूप की सगति आश्रय के विशेष रूप के साथ ही हो सकती है। उसका साधारणीकरण होन पर उसका भी साधारणीकरण अभीष्ट होगा।

आचाय नन्ददुलारे वाजपेयी न साधारणीकरण को काव्य और ग्राहक दोनो की सामथ्य का फल माना है। उनके अनुसार साधारणीकरण का अथ रचयिता

और उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव मे कविकल्पित (वर्णित) समस्त व्यापार का होता है केवल किसी पात्र विशेष का नही ।' आचार्य शुक्ल ने आलंबन के साधारणीकरण पर जो बल दिया है उससे वाजपेयी जी का मतभेद है। वे शुक्लजी के अभिमत नायक और सामाजिक के तादात्म्य को भी सतोषजनक नही मानते। इसके स्थान पर वे कवि कल्पित समस्त व्यापार का साधारणीकरण तथा कवि और सामाजिक के बीच भावना का तादात्म्य मानत हैं। भावना के तादात्म्य से कदाचित् उनका अभिप्राय यह है कि सामान्यीकरण के रूप म उनका साधारणीकरण नही होता और न उनके विशेष रूपो का तादात्म्य होता है। कदाचित् उनके विशेष रूप भिन्न होते हुए भी उनमे काव्य के विशेष प्रसग म भाव अथवा भावना की एकता उत्पन्न हो जाती है। भावना की इस एकता से कदाचित वाजपेयीजी का अभिप्राय हृदय की दृष्टि की एकता से है।

अर्वाचीन हिन्दी आलोचना मे साधारणीकरण के सम्बन्ध मे तीसरा महत्वपूर्ण मत डाक्टर नगेन्द्र का है। डाक्टर नगेन्द्र ने कवि के दृष्टिकोण को अधिक प्रखरता और स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। वे नायक का साधारणीकरण नही मानते। उनका कथन है कि सस्कृत नाटको के धीरोदात्त नायको तथा अर्वाचीन कृतियो के दुष्टनायको के साथ हमारा साधारणीकरण नही हो सकता। आलबन क साधारणीकरण के सबन्ध मे उनका मत है कि जिसे हम आलबन कहते हैं वह वास्तव म कवि की अपनी अनुभूति का सवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण, जो भट्ट नायक और अभिनव गुप्त का प्रतिपाद्य है। अत निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदय मे समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली मे हम कह सकते हैं कि उसम साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। नायक के साथ साधारणीकरण की कठिनाइयो का सकेत करते हुए डा० नगेन्द्र कहते है कि नायक चाहे अतिश्रेष्ठ अथवा अति जघन्य व्यक्ति हुआ करे हम उससे तादात्म्य थोडा ही स्थापित करते हैं। हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं। डा० नगेन्द्र का अभिमत यह है कि साधारणीकरण का मुख्य केन्द्र कवि है। वह जिस

रूप में अपनी अनुभूति को प्रस्तुत करता है, उसी रूप में सामाजिक उसे ग्रहण करते हैं। सामाजिक का कवि के साथ तादात्म्य होता है। यही उनका साधारणीकरण है। किन्तु कदाचित् इस साधारणीकरण से डा० नगेन्द्र का अभिप्राय भी संस्कृत आचार्यों के अभीप्सित सामान्यीकरण से नहीं है। व्यक्तित्व के सामान्यभाव की अपेक्षा अनुभूति की एकता है। उनका अभिप्राय अधिक है। संस्कृत आचार्यों और हिन्दी के आलोचकों की तुलना में साधारणीकृत पदार्थों के विशेष रूपों के परिहार तथा सामान्यत्व की प्रतिष्ठा का ध्यान रखना आवश्यक है। साधारणीकरण का मौलिक अभिप्राय कान्तात्व आदि शुद्ध सामान्यत्व से ही है। अभिनव गुप्त के सम्बन्ध विशेष के स्वीकार परिहार के अधिनियम में आलंबन के सामान्यत्व का आग्रह कुछ मन्द हो जाता है और स्थायीभाव तथा सामाजिक के साधारणीकरण पर अधिक बल आ जाता है। अभिनव गुप्त का यह अभिमत शुक्लजी की उन धारणाओं को बल देता है जिनका संकेत चिंतामणि के उक्त दो उदाहरणों में मिलता है। शुक्लजी ने आश्रय के साथ सामाजिक के तादात्म्य को माना है और डा० नगेन्द्र ने कवि के साथ सामाजिक का तादात्म्य स्वीकार किया है इस तादात्म्य का अभिप्राय सम्भवतः भावना की एकता से है तथा व्यक्तित्व के साधारणीकरण से नहीं है। भावना की यह एकता आचार्य वाजपेयी को भी अभीष्ट है। किन्तु साधारणीकरण और व्यक्तित्व के बोध इसकी क्या स्थिति है, यह निर्णय करना कठिन है।

साधारणीकरण के अतिरिक्त हिन्दी के अर्वाचीन आचार्यों की रस सम्बन्धी धारणा में एक महत्वपूर्ण मतभेद साक्षात् जीवन के रस की भिन्नता अथवा एकता के सम्बन्ध में है। यह मतभेद आचार्य शुक्ल और डा० नगेन्द्र में अधिक प्रखर रूप में प्रकट होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जीवन की प्रत्यक्ष और वास्तविक अनुभूति को भी काव्य के समान ही रसमय मानते हैं। उनके मत में प्रकृति के सुन्दर दृश्य विश्वकाव्य को वस्तुकाव्य कहते हैं और इस वस्तुकाव्य के अनुशीलन को शब्दकाव्य की सिद्धी के लिए आवश्यक मानते हैं। इसी आधार पर वे जीवन के साक्षात् रस को काव्य के रस से अभिन्न मानते हैं। उनके अनुसार रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात्त स्वरूप है। हमारे यहां ये स्पष्ट सूचित कर दिया है कि वासना रूप में स्थित भाव ही रसरूप में जगा

करते हैं। शुक्लजी ने प्रकृति के काव्य का ही उदाहरण दिया है किन्तु उक्त उदाहरण में उन्होंने जिस प्रत्यक्ष रसानुभूति का उल्लेख किया है उसमें जीवन के साक्षात् रसानुभव की अन्य स्थितियां भी सम्मिलित हो सकती हैं। उनके मत में जीवन के साक्षात् अनुभव का रस एक प्रकार से अधिक मौलिक और महत्वपूर्ण है और वही काव्य के रस का आधार है। डा० नगेन्द्र का मत इसके विपरीत है। वे रस को प्रकृतभाव से भिन्न मानते हैं। जीवन के साक्षात् अनुभव को उन्होंने प्रकृत भाव कहा है। ये प्रकृत भाव कभी मधुर भी हो सकता है किन्तु सर्वदा मधुर नहीं हो सकता है। अतः उसे सामान्यतः रस नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए रतिभाव मधुर होता है किन्तु क्रोध के अनुभव में रस कहां है? इसी आधार पर डा० नगेन्द्र ने यह अभिमत प्रकट किया है कि प्रत्यक्ष अनुभव रस नहीं हो सकता।'

भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका में डाक्टर नगेन्द्र का यह मत नितान्त संगत है। काव्यशास्त्र की परम्परा में जिन स्थायीभावों को रस का आधार माना गया है उसमें क्रोध, भय जुगुप्सा आदि जीवन के साक्षात् अनुभव में मधुर अथवा रसमय नहीं होते। अतः जीवन में इन भावों के प्रत्यक्ष को रस की संज्ञा नहीं दी जा सकती। किन्तु काव्य में ये विपरीत भाव भी रस के कारण बनते हैं। इनके आधार पर काव्यशास्त्र में रस के भेदों का विधान किया है। शुक्लजी ने साक्षात् जीवन में रसानुभूति को सिद्ध करने के लिए केवल प्रकृति के रमणीय दर्शन का उदाहरण लिया है। अप्रिय भावों को लेकर उन्होंने जीवन के साक्षात् रस का विवेचन नहीं किया। इस दृष्टि से डा० नगेन्द्र का मत अधिक शास्त्रीय और संगत है। इस सम्बन्ध में केवल इतना कहना अभीष्ट है कि काव्यशास्त्र में अप्रिय भावों को रस का आधार अवश्य माना गया है, किन्तु *काव्यों में इनके अनुरूप रस की रचना बहुत कम मिलती है। काव्यों* में शृंगार वीर, करुण और शान्तरस ही अधिक परिमाण में मिलते हैं। इनमें करुण के अतिरिक्त शेष तीनों भाव जीवन में भी प्रिय हैं।

करुण के सम्बन्ध में हम अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। काव्य में प्रिय भावों के ग्रहण से यह विदित है कि कदाचित् काव्यशास्त्र के मूल में भी जीवन और काव्य के रस की एकता रही। किस प्रकार अप्रिय भावों को काव्यशास्त्र में रस का आधार बनाया गया यह खोज करना कठिन है। कदाचित् नाटक की प्रकृति प्रधान स्थिति में इस विषमता ने काव्यशास्त्र में प्रवेश

किया। साधारणीकरण के सम्बन्ध में हम अपना मतभेद आगे प्रकाशित करेंगे। अभी हम इस आधार पर कि अप्रिय भावों में आश्रय, आलम्बन आदि का साधारणीकरण नहीं होता और सामाजिक की रसानुभूति अपनी तटस्थता और प्राकृतिक अहंकार के रूप में होती है। अप्रियभावों की रसात्मकता का विचार करेंगे। अप्रिय भावों के प्रसंग में रसानुभूति का दूसरा रूप सांस्कृतिक समात्मभाव के आधार पर हो सका है, जो इन अप्रिय भावों में करुणा के अधिक निकट होगा। इसका संकेत हम पिछले अध्याय में अन्त में कर चुके हैं। इसका अधिक विवरण पर काव्यशास्त्र के रस विधान में जो भी विषमता वर्तमान है उसके आधार पर डा० नगेन्द्र ने प्रत्यक्ष अनुभव और काव्य से रस में विवेक किया है वह काव्यशास्त्र के इतिहास की भूमिका में नितान्त समीचीन है। शुक्ल जी का मत काव्यशास्त्र के रस विधान के साथ संगत नहीं है। अप्रिय भावों के प्रसंग को लेकर शुक्ल जी ने जीवन और काव्य के रस की अभिन्नता को सिद्ध नहीं किया। डा० नगेन्द्र ने भी अप्रिय भावों को लेकर प्रत्यक्ष अनुभव और काव्य के रस की भिन्नता सिद्ध की है। किन्तु उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि यह अप्रिय भाव काव्य में रसानुभूति के आधार किस प्रकार बनते हैं।

जीवन के सभी साक्षात् अनुभव मधुर तथा रसमय नहीं होते। काव्य में अप्रियभाव भी रस के आधार बन जाते हैं। किन्तु वे किस प्रकार बनते हैं, यह किसी ने स्पष्ट नहीं किया। साधारणीकरण और सत्व का उद्रेक इसका समुचित समाधान नहीं है। यदि ऐसा है तो काव्य में इन रसों को अधिक क्यों नहीं मिला। दूसरी ओर यह विचारणीय है कि प्राकृतिक और व्यक्तिगत अनुभव के रूप में भाव अप्रिय होते हैं किन्तु साक्षात् जीवन में भी प्रायः ये अत्यन्त मार्मिक रसानुभूति के अवसर बन जाते हैं। यह उदार और गम्भीर समात्मभाव की स्थिति में ही सम्भव होता है। हमारे मत में यह समात्मभाव ही जीवन और काव्य दोनों में रस का मूल रहस्य है। समात्मभाव की स्थिति में जीवन के सभी भाव साक्षात् जीवन में भी रसमय बन जाते हैं। काव्य में रस का आधार भी यही सांस्कृतिक सामात्मभाव है। फिर भी काव्य और जीवन के रस में भेद है। हमारे मत में यह भेद उससे भिन्न है जिसका संकेत डा० नगेन्द्र ने किया है। यह भेद भाव की प्रियता और अप्रियता पर आश्रित नहीं है।

हमारे मत मे काव्य का रस उसके स्वरूपगत सौन्दय का रस है। जीवन का रस साक्षात् भाव और अनुभव का रस है। काव्य और जीवन दोनो मे समात्मभाव रस का समान आधार है। समात्मभाव पर आश्रित जीवन का साक्षात् रस ही काव्यगत रस के आस्वादन का आधार है। साक्षात् जीवन के सूत्र स ही काव्य मे सगृहीत भाव और काव्य म सन्निहित रूप के रस का आस्वादन सम्भव होता है, किन्तु दूसरी ओर साक्षात् जीवन म भी कला तथा काव्य के सौन्दय का सन्निधान होता है। सस्कृति के पव इसके उदाहरण है। इन पर्वो म काव्य का कलात्मक रस जीवन के रस म समवेत होता है ठीक उसी प्रकार काव्य म जीवन के भाव रस बनकर समवत होते हैं। रूप के सौन्दय से युक्त सास्कृतिक जीवन, जीवन का साक्षात् काव्य है। प्राकृतिक सौन्दय और अप्रिय भावो की असगति को स्पष्टत न समझने के कारण शुक्ल जो विश्व काव्य क साथ साथ जीवन के इस साक्षात काव्य के वैभव को उसी प्रकार प्रस्तुत नही कर सके, जिस प्रकार कि उ होने विश्व काव्य के सौ दय को प्रस्तुत किया है। सास्कृतिक जीवन के काव्य मे प्रिय भावो का ही समाहार अधिक है। किन्तु अन्त्येष्टि सस्कार मे मृत्यु के परम अप्रिय भाव के प्रसग म जीवन के साक्षात् काव्य का उदाहरण मिलता है। व्यक्तिगत सम्बन्धो मे जीवन के इस करुण काव्य के मुक्तक अधिक परिमाण मे मिल सकते हैं।

समात्मभाव मे आधार पर जीवन और काव्य के रस की विषमता दूर हो जाती है। इस विषमता के मूल नाटक की प्रकृति प्रधान स्थिति से प्रसूत रस का प्राकृतिक दृष्टिकोण है, जो काव्यशास्त्र के रस मीमासा का अभिभूत करता रहा है। समात्मभाव के आधार मे जीवन और काव्य के रस एक हो जाते हैं, किन्तु फिर भी ये दोनो रस स्वरूप से भिन्न है। जीवन के रस मे भाव की प्रधानता है और काव्य के रस मे रूप की प्रधानता है। साक्षात् जीवन मे रूप के सौ दय का सन्निधान होने पर जीवन ही काव्य बन जाता है तथा जीवन का रस काव्य के रस से मिलकर द्विगुणित आनन्दमय बन जाता है किन्तु जीवन के इस काव्य मे रूप के सौन्दय का समाधान अल्प परिमाण मे ही हो सकता है। काव्य मे रूप के सौन्दय का सन्निधान अधिक से अधिक हो सकता है। इस रूप के अतिशय से सम्पन्न होकर जीवन का अनुवाद भी काव्य मे अत्यन्त रसमय

बन जाता है। यही काव्य और उसके रस की विशेषता है। इस विशेषता मे काव्य का अपना विशेष महत्व है।

जीवन और काव्य के रस की एकता के प्रसग मे ऊपर हमने निवेदन किया है कि हमारे मत म रसानुभूति का आधार साधारणीकरण नही वरन् समात्म भाव है। साधारणीकरण भारतीय काव्यशास्त्र का बहुमा य सिद्धात है। भट्ट नायक के द्वारा इसकी स्थापना के बाद सस्कृत के समस्त परवर्ती आचार्यों ने इसका समथन किया है। हिदी के अर्वाचीन आचार्यों मे भी सभी मुख्य आचार्यों को साधारणीकरण का सिद्धान्त मान्य है। उनका मतभेद केवल इसी विषय म है कि उस साधारणीकरण की विशेष रूप क्या है? अर्थात् कि कवि, नायक, आलम्बन, सामाजिक आदि म किसका साधारणीकरण होता है और किस का नही।

उदाहृण के लिए आचाय रामचन्द्र शुक्ल आलम्बन के साधारणीकरण पर अधिक बल देते ह किन्तु व आलम्बन का सामान्यीकरण नही मानत। उनके मत मे आलबन का नही वरन् उनके आलम्बनत्व धम का साधारणीकरण होता हैं। धम के साधारणीकरण से उनका अभिप्राय यह है कि आलम्बन जिस प्रकार आश्रय का आलम्बन होता है उसी प्रकार वह सामाजिको का आलम्बन बन जाता है। इस प्रकार सामाजिक का आश्रय के साथ तादात्म्य होता है और सामाजिक आश्रय के अनुरूप रस का आस्वादन करता है। इसके स्थान पर आचाय नन्ददुलारे वाजपयी और डा० नगेन्द्र कवि के साथ सामाजिक का तादात्म्य मानते है किन्तु इन दोनो आचार्यो मे यह मतभेद है कि इसके साथ साथ आचाय नन्ददुलारे वाजपयी विभाव आदि का भी साधारणीकरण मानते है जबकि डा० नगेन्द्र आश्रय और आलबन का साधारणीकरण नही मानते। वाजपयी जी के मत मे कवि के साथ सामाजिक का तादात्म्य होने पर भी कदाचित आश्रय और आलम्बन के साधारणीकरण की अपेक्षा इसलिए है कि इसके द्वारा आश्रय के साथ भी कवि और सामाजिक का तादात्म्य हो जाता है तथा आलम्बन के साथ दोनो का वैसा ही सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जैसा कि आश्रय के साथ होता है। इस प्रकार कवि और सामाजिक दोनो आश्रय के अनुरूप दानो के रस के अधिकारी बन जाते हैं। वाजपेयी जी का यह मत बहुत कुछ सस्कृत काव्यशास्त्र

मे स्वीकृत साधारणीकरण के सिद्धा त के अनुरूप है। आचार्य शुक्ल के मत म साधारणीकरण का रूप इससे भिन्न है। उनके मत मे विभाव के स्वरूप का साधारणीकरण नही होता वरन् केवल धम का होता है किन्तु यह जिस प्रकार होता है यह स्पष्ट नही। इसके लिए आश्रय और सामाजिक का तादात्म्य आवश्यक है।

शुक्ल जी का यह मत समीचीन है। आश्रय के साथ सामाजिक का तादात्म्य होने पर आलम्बन का सामान्यीकरण अपेक्षित नही। वह अपने विशेष रूप म ही जिस प्रकार आश्रय का आलम्बन होता है इसी प्रकार सामाजिक का आलम्बन बन जाता है। शुक्ल जी के अनुसार सामाजिक आश्रय के अनुरूप रस का आस्वादन करता है। डा० नगेन्द्र के मत मे वह कवि के अनुरूप रस का आस्वादन करता है। वाजपेयी जी के मत म सस्कृत काव्यशास्त्र के साधारणी-करण और डा० नगेन्द्र के मत का सकर है। इन दोनो मतों का सामजस्य किस प्रकार होगा, यह सोचना कठिन है।

इन सब मतो मे साधारणीकरण का कौनसा मत ठीक है यह भी कहना कठिन है। कवि आश्रय और सामाजिक तीनो ही भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से रस के पात्र हो सकते है। अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद मे रस का आश्रय सामाजिक है। सामाजिक के ही दृष्टिकोण से साधारणीकरण के द्वारा अभिव्यक्तिवाद मे रस की उपपत्ति की गई है। शुक्ल जी के दृष्टिकोण म रस का पात्र आश्रय है। उसके साथ तादात्म्य के द्वारा सामाजिक उसके अनुरूप ही रस का आस्वा दन करता है। डा० नगेन्द्र के मत म सामाजिक का तादात्म्य कवि के साथ होता है, और वह कवि अनुरूह रस का आस्वादन करता हैं। यदि एक व्यक्ति का दूसरे के साथ तादात्म्य सम्भव हो सकता है तो आचाय शुक्ल और डा० नगेन्द्र दोनो ही के मत समीचीन हो सकते हैं और यदि मनुष्य अपने ही रस का आस्वा दन करता है तो अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद ही रस की सबसे समीचीन व्याख्या है। किन्तु जैसा कि हम अनेक बार सकेत कर चुके हैं, अभिव्यक्तिवाद के अनुसार काव्य का स्वरूपगत सौ दय निमू ल हो जाता है, वह सामाजिक के स्थायी भावो के जागरण का साधन भर रह जाता है। शुक्ल जी का अभिमत आश्रय के साथ सामाजिक का तादात्म्य शृ गार, वीर आदि के साथ

सम्भव हो सकता है किन्तु रौद्र करुण आदि के साथ कल्पनीय नही है। इस दृष्टि से कवि के साथ सामाजिक के तादात्म्य की सम्भावना सबसे अधिक व्यापक रूप म हो सकती है। डा० नगेन्द्र का यह मत काव्य के महत्व और भावो की सगति की दृष्टि स सबसे अधिक समीचीन है। डा० नगेन्द्र आश्रय की अनुभूति को रस नही मानत। अत केवल कवि की अनुभूति को रस मानने पर उसके साथ सामाजिक के तादात्म्य क द्वारा रस की समस्या का सगतिपूर्ण समाधान हो सकता है।

कि तु जीवन की साक्षात् अनुभूति को रसमय मानने पर डा० नगेन्द्र के मत मे कठिनाइया उपस्थित हो जाती है। शुक्ल जी और अभिनव गुप्त के मत म काव्य का रस जीवन के रस के अनुरूप है। केवल इतना अ तर है कि अभिनव गुप्त ने उसे सामाजिक के दृष्टिकोण स ग्रहण किया है तथा शुक्ल जी ने उस आश्रय के दृष्टिकोण स प्रस्तुत किया है। शुक्ल जी के दृष्टिकोण म इतना सत्य है कि साक्षात् जीवन मे रस का प्रश्न आश्रय से ही आरम्भ होता है। जीवन और काव्य म जीवन काव्य स पहले आता है। काव्य जीवन का अनुवाद और चित्रण है। सस्कृत काव्यशास्त्र मे रस का समस्त विवेचन आश्रय को ही रस का नगेन्द्र मानकर किया गया है। उसम जीवन और का य के रस के क्षत्रो के बीच भेद की रेखा नही खीची गई है। अभि यक्तिवाद न सामाजिक को रस का के द्र अवश्य बनाया है कि तु उसम भी सामाजिक के हृदय मे आश्रय क अनुरूप रस को साधारणीकरण के द्वारा घटित करने का प्रयत्न किया गया है। अभि यक्तिवाद मे आलम्बन के स्वरूप के सामा यीकरण के द्वारा सामाजिक का रसास्वादन सिद्ध किया गया है। शुक्ल जी ने उसे आलम्बन के विशेष रूप की रक्षा करके उसके धम के साधारणीकरण तथा आश्रय के साथ सामाजिक के द्वारा सिद्ध किया है। शुक्ल जी के मत म काव्य के स्वरूप और सौ दय का महत्व अधिक सुरक्षित रहता है। अभिव्यक्तिवाद म उस महत्व की सबसे अधिक उपेक्षा होती है। डा० नगे द्र के मत मे वह सबसे अधिक सुरक्षित रहता है। कि तु उनके मत म जीवन और काव्य के रस का भेद तथा कवि और आश्रय की रसानुभूति के सम्ब ध के जटिल प्रश्न उपस्थित होते हैं। इनम पहला प्रश्न तो का यशास्त्र के रस विधान के अनुरूप है। इस रस विधान के अनुसार आश्रय के साथ सवदा तादात्म्य नही होता।

अप्रिय भावों के सम्बन्ध मे यह तादात्म्य सभव न होगा। इसका समाधान सस्कृत आचार्यों ने सत्व के उत्कर्ष के द्वारा सभी रसो को सात्विक बना कर किया है। किन्तु यह केवल एक भ्रान्त दृष्टिकोण का भ्रान्त समाधान है। सात्विक रस एक ही प्रकार का होगा और उसमे रति आदि के अवच्छेदक सभव नही हो सकते। सात्विक रस मे इन अवच्छेदकों की सगति सिद्ध करना कठिन है। साधारणीकरण और सत्व के उत्कर्ष की कल्पना सामाजिक म रस को घटित करने के लिए की गई है। किन्तु अन्यथा रस का समस्त विवेचन आश्रय के दृष्टिकोण से और साक्षात् जीवन के अनुरूप किया गया है। एक ओर जीवन और काव्य के रस म भेद नही किया गया है और दूसरी ओर उन्ह भिन्न बना दिया गया है। फिर भी जिस रूप म जीवन और काव्य के रस का वस्तुत भिन्न अथवा अभिन्न है उस रूप म उसे स्पष्ट नही किया। काव्यशास्त्र म इस अभिन्नता के प्रसग म केवल प्रिय भावो का ध्यान रखा गया है। दूसरी ओर अप्रियभावों के प्रसग म इनकी भिन्नता सिद्ध करने के लिए सत्व के उत्कर्ष का आलबन लिया गया है। काव्यशास्त्र की इस विषम गति का कारण काव्यशास्त्र के मौलिक रस विधान की वह असगति है जिसम शृगार और क्रोध जैसे विरोधी भावो को समान रूप से रस का आधार बनाया गया है। इस असगति का कारण नाटक की प्रकृति प्रधान परिस्थिति है जिससे रस मीमासा का आरम्भ हुआ।

काव्य म रस का यथार्थ विवेचन जीवन की रसानुभूति को आधार मान कर ही हो सकता है क्योंकि इसी आधार के अनुरूप काव्य म रस का चित्रण होता है और सामाजिक का रसास्वादन सम्भव होता है। आश्रय, कवि और सामाजिक का प्रवेश पूर्वापर क्रम म होता है। इनकी रसानुभूति के दृष्टिकोण मे भेद होना आवश्यक नही है, यद्यपि इनम भेद सम्भव है। यह भेदभाव की प्रियता और अप्रियता के अनुरूप न होगा किन्तु एक दूसरे दृष्टिकोण से होगा, जिसका सकेत हमने चौथे अध्याय मे रस की त्रिवेणी के प्रसग म किया है। यह भेद प्राकृतिक और सास्कृतिक दृष्टिकोण के अनुरूप होगा। एक ही दृष्टिकोण के अन्तगत इस भेद की अधिक सभावना नही है। काव्यशास्त्र की रस मीमासा म प्राकृतिक दृष्टिकोण का प्रभाव अधिक होने के कारण प्राकृतिक दृष्टिकोण की प्रधानता रही है। इसी व्यक्तिवाद दृष्टिकोण के कारण साधारणीकरण और

तादात्म्य के प्रसग उपस्थित हुए हैं। साधारणीकरण भी तादात्म्य का एक भाग है। वह तादात्म्य की बाधाओ का परिहार करके उसे सभव बनाता है। साधारणीकरण और तादात्म्य में इतना अन्तर है कि साधारणीकरण काव्य के रसास्वादन में सामाजिक के सक्रिय सहयोग की अपेक्षा नही करता। वह आश्रय आलवन आदि को सामाजिक के द्वारा ग्राह्य बनाकर उसका रसास्वादन उसके अनुरूप ही सभव बनाता है। तादात्म्य का सिद्धा त सामाजिक से सक्रिय सहयोग की अपेक्षा करता है। तादात्म्य में आश्रय आलवन आदि साधारणीकरण के द्वारा सामाजिक के ग्रहण योग्य नही बनते वरन् सामाजिक अपनी सक्रिय भावना द्वारा उन्हे अपने योग्य बनाता है। आचार्य शुक्ल और डा० नगेन्द्र का यह तादात्म्य का सिद्धा त कवि आश्रय आलवन, सामाजिक और काव्य सबके साथ पर्याप्त न्याय करता है। अभिव्यक्तिवाद के विपरीत सामाजिक से सक्रिय सहयोग की अपेक्षा करके तादात्म्य का सिद्धान्त इस न्याय को सभव बनाता है।

किन्तु काव्यशास्त्र के रस सिद्धान्तो में सबसे अधिक समीचीन होते हुए भी तादात्म्य के इस सिद्धा त में भी काव्यशास्त्र के मूल प्राकृतिक दृष्टिकोण का न्यूनतम अश शेष रह जाता है। व्यक्तियो के तादात्म्य का अभिप्राय भी सभवत उनके भाव की एकरूपता है। हमने काव्य के रस के प्रसग म सामाजिक के सहयोग की दृष्टि से साधारणीकरण और तादात्म्य में भेद किया है किन्तु व्यक्तित्व और भाव की एकरूपता की दृष्टि स साधारणीकरण भी एक प्रकार का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण और तादात्म्य दोनो में ही एक व्यक्ति के अनुभव को तद्रूप में ही दूसरे व्यक्ति में घटित किया जाता है। इनमें उद्देश्य का भेद नही केवल घटक के रूप और घटन की प्रणाली का भेद है। उक्त प्रयत्न के पीछे प्राकृतिक व्यक्तिवाद का वही प्रभाव है जो काव्यशास्त्र की रस मीमासा को भ्रान्त करता रहा है। इस भ्रान्ति के पथ में अध्यात्म के क्षितिजो तक पहुचकर भी रस मीमासा प्राकृतिक व्यक्तिवाद के अनुरोध से मुक्त न हो सकी। तादात्म्य के सिद्धात में प्राकृतिक व्यक्तिवाद का यह प्रभाव सबसे कम है, इसमे सदेह नही। इस कारण तादात्म्य का सिद्धांत सत्य के सबसे अधिक निकट है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल न व्यक्तित्व के [illegible] द्वारा और डा० नगेन्द्र न कवि के उदार भाव के सा[illegible] के [illegible] अधिक सत्य बनाने का प्रयत्न किया है। कि[illegible] व्यक्तिवाद

का अवशेष बना रहा। आश्रय के साथ सामाजिक के तादात्म्य में भी रसानुभूति के प्रसग म आश्रय और आलंबन के सब ध की समस्या हल नही होती। वस्तुत जीवन और काव्य दोनो की रसानुभूति की मूल समस्या यही है। किन्तु प्राकृतिक व्यक्तिवाद के अनुरोध के कारण किसी भी आचार्य का ध्यान इस ओर नही गया आदि से अन्त तक समस्त रस मीमासा म आश्रय ही रस का केन्द्र रहा है, चाहे यह आश्रय नायक हो अथवा सामाजिक हो अथवा कवि हो। इन तीनो मे किसी को रस का आश्रय मानकर ही रस का विवेचन हुआ है। इनकी इस रसानुभूति मे आलबन के साथ इनका क्या सम्ब ध है इसका विचार नही किया गया है। यह काव्यशास्त्र म व्याप्त प्राकृतिक दृष्टिकोण का ही परिणाम है। प्रकृति की समस्त प्रतिक्रियायें आश्रयनिष्ठ होती हैं और वे आश्रय की इकाई म ही सम्पन्न होती हैं। शुक्लजी का अभीष्ट व्यक्तित्व का विस्तार भी व्यक्ति की इकाई म भी आश्रित रहता है। डा० नगेन्द्र का अभीष्ट कवि और सामाजिक का तादात्म्य भी आश्रय के साथ आलबन क सब ध की समस्या को हल नही करता, वरन् एक प्रकार से इस मत म आश्रय और आलबन के साथ कवि के सब ध की नई समस्यायें उपस्थित हो जाती हैं, जिनका समाधान रस की समीचीन मीमासा मे आवश्यक है।

हमारे मत म इन सब समस्याओ का मूल प्राकृतिक व्यक्तिवाद के दृष्टिकोण मे है तथा इनका समुचित समाधान समात्मभाव के सास्कृतिक दृष्टिकोण के द्वारा हो सकता है। हमारे मत म समात्मभाव का सिद्धा त ही जीवन और काव्य दोनो से प्राप्त होने वाली रसानुभूति की सबसे अधिक समीचीन व्याख्या है। साधारणीकरण और तादात्म्य दोनो ही सिद्धान्तो म एक व्यक्ति की रसानुभूति को दूसरे व्यक्ति के आश्रय मे घटित किया जाता है। यह प्रयत्न व्यक्तिवाद के अनुरोध के अनुरूप है और उसी अनुरोध के कारण इसमे ऐसी असगतियां उत्पन्न होती हैं जो इस प्रयत्न को विफल बना देती है। प्राकृतिक व्यक्तिवाद का दृष्टिकोण अपनाने पर व्यक्तित्वो का तादात्म्य सभव नही हो सकता। प्राकृतिक व्यक्तिवाद को मानने पर तो यही मानना अधिक समीचीन है कि प्रत्येक मनुष्य अपने ही रस का अनुभव करता है। इस दृष्टिकोण से अभिव्यक्तिवाद का सिद्धात सबसे अधिक ठीक है। भरत के रस सिद्धा त मे प्राकृतिक व्यक्तिवाद का अनुरोध रहने के कारण उससे उत्पन्न होने वाली समस्याओ के समाधान मे

प्रयत्न में भी तत रस मीमांसा की परिणति अभिव्यक्तिवाद में स्वाभाविक रूप से हुई है। किन्तु अभिव्यक्तिवाद काव्यशास्त्र के प्रारम्भ से ही भ्रान्त दृष्टिकोण का सही परिणाम है। वह इसी रूप में सही है कि काव्यशास्त्र के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की परिणति रसास्वाद के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण में ही होती है। रस के प्राकृतिक रूप की दृष्टि से अभिव्यक्तिवाद उसकी सही व्याख्या है। किन्तु वह जीवन तथा काव्य के सांस्कृतिक रूप की सही व्याख्या नहीं है जिन्हें काव्य के रूपगत सौन्दर्य के रस से कोई विशेष प्रयोजन नहीं । ये काव्य अथवा नाटक के रस को भी प्राकृतिक दृष्टिकोण से ग्रहण कर सकते हैं। सामाजिकों में ऐसे अनेक जन होते हैं। किन्तु इस दृष्टिकोण से काव्य अथवा नाटक का रसास्वादन काव्य अथवा नाटक का रसास्वादन नहीं है। वह वस्तुतः जीवन का प्राकृतिक दृष्टिकोण में रसास्वादन है। काव्य अथवा नाटक के प्रसंग इस प्राकृतिक रसास्वादन के निमित्त भर रह जाते हैं। उनके स्वरूपगत सौन्दर्य का मूल्य रस नहीं रह जाता है। कलात्मक सौन्दर्य और उसके रस के मूल्य का अपहरण करने के कारण अभिव्यक्तिवाद काव्य के रस की सही व्याख्या नहीं। काव्य का रस स्वरूपतः सांस्कृतिक है। अतः उसका आस्वादन प्राकृतिक वासना रूप स्थायी भावों पर आश्रित नहीं होता। इसके अतिरिक्त जीवन के तथा उसके आधार पर काव्य में समाहित सांस्कृतिक रस का आस्वादन भी न इन प्राकृतिक वासनाओं के आधार पर हो सकता है और न वह व्यक्तित्व की इकाई के एकान्त आश्रय में सम्पन्न हो सकता है। हमारे मत में काव्य के स्वरूपगत सौन्दर्य का रस सांस्कृतिक रस है और वह समात्मभाव की स्थिति में सम्पन्न हो सकता है। समात्मभाव प्राकृतिक व्यक्तिवाद और निर्वैयक्तिक अध्यात्मवाद से विलक्षण व्यक्तित्वों का समभाव से सामंजस्य है। इसको व्यक्तित्वों का सामंजस्य कहना भी भाषा का एक अनिवार्य उपचार है। वस्तुतः समात्मभाव की स्थिति में व्यक्तित्वों की इकाइयों का अनुरोध प्राकृतिक व्यक्तिवाद के समान कठोर नहीं रह जाता वरन् आत्मा के अनुरोध से प्रकृति की इन सीमाओं में मृदुलता और उदारता आ जाती है। इस मृदुलता और उदारता के द्वारा व्यक्तित्वों का साम्य अथवा सामंजस्य सम्पन्न होता है। यह सामंजस्य व्यक्तित्वों का तादात्म्य नहीं है। तादात्म्य का अभिप्राय एक इकाई की सत्ता अथवा भाव को दूसरी इकाई में घटित करना है। तादात्म्य में तद्रूपता होती है जिसे हम एकत्व कह सकते

है और जो भी साम्य से भिन्न है। तादात्म्य भेद का निराकरण और अभेद का प्रतिपादन है। समात्मभाव में भेद का निराकरण भी होता है और अभेद की स्थापना भी होती है। किन्तु यह निराकरण पूर्ण तथा कठोर होता है और न अभेद का आग्रह प्रबल होता है। वस्तुतः यह एक ऐसा विलक्षण भाव है जो बुद्धि और प्रकृति दोनों के अनुराग से परे आत्मा की विभूति से सम्पन्न होता है। भेद और अभेद दोनों के साथ इसकी संगति है। इसलिए प्रकृति और अध्यात्म दोनों के क्षेत्र में इसकी गति है। विलक्षण होते हुए भी यह मनुष्य जीवन का अत्यन्त सामान्य सत्य है। माता के सहज स्नेह से लेकर सामाजिक जीवन के समस्त सौहार्दों में यह विभासित होता है। सांस्कृतिक सम्बन्ध और सांस्कृतिक जीवन की प्रेरणा इसी समात्मभाव में है। काव्य और कला भी मनुष्य के सांस्कृतिक अध्यवसाय में हैं। अतः ये भी समात्मभाव से प्रेरित होते हैं। इनमें कवि नायक और सामाजिक इन तीनों में जिसकी भी प्राकृतिक वासनाओं के उद्बोधन के रूप में व्यक्तिगत रस का आस्वादन होता है वह तो कला और काव्य का रस नहीं है। वह जीवन के प्राकृतिक रस के ही समान है। किन्तु इनके कलात्मक रूप में रस का आस्वादन जीवन के सांस्कृतिक रस की भांति समात्मभाव की स्थिति में होता है। समात्मभाव प्रकृति का परिहार नहीं है। अतः समात्मभाव के अनुरूप होकर प्रकृति के भाव भी कला और संस्कृति के उपकरण बन सकते हैं। किन्तु तब वे प्राकृतिक और व्यक्तिनिष्ठ रस नहीं हैं वरन् समात्मभाव के पारस्परिक भाव में सम्पन्न होंगे। पिछले अध्याय में रस के भेदों के प्रसंग में हमने प्राकृतिक भावों पर आश्रित सांस्कृतिक रसों का विवरण किया है। प्रकृति के प्रियभाव ही रसमय होते हैं। काव्य में अप्रिय भावों को भी रस का आधार माना गया है। किन्तु काव्य का इतिहास इनकी रसवत्ता को प्रमाणित नहीं करता। इसका कारण यह है कि जीवन और काव्यशास्त्र में प्रकृति के अनुराग के कारण कवि भी अधिक उदार सांस्कृतिक दृष्टिकोण नहीं अपना सके। उनकी कविता कामिनी भी प्राकृतिक रसों के प्रिय रूपों में ही विलास करती रही। काव्य की इन सीमाओं का उल्लेख हमने पिछले अध्याय में किया है। किन्तु जिस प्रकार समात्मभाव जीवन के प्राकृतिक भावों में सांस्कृतिक रस का संचार करता है उसी प्रकार वह जीवन के अप्रिय भावों को भी रस का उपकरण बना सकता है। सांस्कृतिक रस की रसवत्ता का स्रोत इन

विशेष भावो म नही वरन् समात्मभाव मे है। सांस्कृतिक रस का एक अद्भुत रहस्य यह है कि अप्रियभावो की स्थिति में वह अधिक तीव्र और गम्भीर बन जाता है। जीवन और काव्य मे करुणा की महिमा का यही रहस्य है। इस रहस्य का अधिक विवरण हम अगले अध्याय म करेंगे।

प्रस्तुत प्रसग मे हमे इतना ही कहना अभीष्ट है कि प्रिय और अप्रिय भावों का जो विरोध काव्यशास्त्र की रस मीमांसा को भ्रान्त बनाता रहा, उसका सम्यक समाधान समात्मभाव मे ही मिलता है। इस विरोध के समाधान के लिए काव्यशास्त्र म साधारणीकरण और सत्व के उद्रेक का प्रतिपादन किया गया। सत्व के उत्कर्ष में अध्यात्म के क्षितिज तक पहुँचा कर अप्रिय भावों को रसमय बनाने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु आश्रय अथवा सामाजिक के स्थायीभावों के रूप में शोक, क्रोध, भय आदि के अवच्छेदकों की सत्व के साथ सगति नहीं है। सम्बन्धहीनता के द्वारा उन्हें रसमय नहीं बनाया जा सकता। काव्य का सांस्कृतिक रहस्य सबन्धहीन स्थिति नहीं है। दूसरे सबन्धहीनता अध्यात्म की निर्विकल्प स्थिति के समान है जिसमें अप्रियभावो के अवच्छेदकों की सगति नहीं हो सकती। व्यक्ति के प्राकृतिक रस के रूप में काव्य के रसास्वादन के लिए साधारणीकरण अपेक्षित नही है। वह बिना साधारणीकरण के आलबनो को उनके विशेष रूप में ग्रहण करके भी सभव हो सकता है और होता है। संस्कृत आचार्यों को अभीष्ट सामान्यीकरण रस का उपकारक नहीं है। प्राकृतिक और सांस्कृतिक दोनो ही रसो की स्थिति में सामान्यभाव किसी का आलबन नहीं होता। आचार्य शुक्लजी का यह मत पूर्णत सत्य है कि रस का आलबन सदा विशेष रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति होता है। आश्रय और आलबन अपने विशेष रूपों में ही वासना के द्वारा प्राकृतिक रस का और समात्मभाव के द्वारा सांस्कृतिक रस का आस्वादन करते हैं।

समात्मभाव की स्थिति मे आश्रय और आलम्बन का परस्पर साम्य रस का उदय करता है। प्राकृतिक व्यक्तिवाद के प्रभाव के कारण काव्यशास्त्र म एक ही आश्रय के एक रूप रस की कल्पना की गई है। इसी अनुरोध को सफल बनाने के लिए कवि नायक और सामाजिक के भिन्न आश्रयो के साधारणीकरण अथवा तादात्म्य का प्रयत्न किया गया है। समात्मभाव की स्थिति मे रस को

एकरूपता का आग्रह नही है। कवि, नायक, आश्रय और सामाजिक मे किसी का भी समात्मभाव शेष दो के साथ तथा आलम्बन के साथ किसी भी रूप मे हो सकता है। इस समात्मभाव के अनेक रूप और अनेक स्थितिया सम्भव हैं। इस अनेकरूपता की सम्भावना सामाजिका मे सबसे अधिक है सभी सामाजिको का समात्मभाव इन सबके साथ एक ही प्रकार का नही होता, क्योकि सामाजिको म वय, लिग, सस्कार, भाव आदि का भेद होता है। अत सभी सामाजिक कवि, नायक और आलम्बन के साथ एक ही रूप के समात्मभाव के द्वारा रस का आस्वादन नही करत। साधारणीकरण और तादात्म्य की भाति समात्मभाव म रस की एकरूपता का आग्रह अपेक्षित नही है। सामाजिको की स्थिति और भाव के अतिरिक्त काव्य के रसास्वादन मे समात्मभाव की कई कोटिया और श्रेणिया होती हैं। इनका निदर्शन हमने सातवें और आठवें अध्यायो मे किया है। इनके अनुसार रस की भी कोटिया हो जाती है। इस प्रकार अनेक विध समात्मभाव के आधार पर अनेक रूपो और श्रेणियों मे काव्य तथा नाटक का आश्रय और रस की एकरूपता के अनुरोध के कारण का यशास्त्र म रस के इस सास्कृतिक रस सम्पन्न होता है। सम्पन्न रूप का समुचित विवरण नही हो सका। प्रकृति का अनुरोध काव्य म भी रस के इस सम्प न रूप की व्यापक प्रतिष्ठा मे बाधक रहा है। फिर भी काव्य की दृष्टि से काव्य और नाटक मे अनेक रूप मे रस का सन्निधान समात्मभाव के आधार पर ही होता है तथा सामाजिक उसका आस्वादन भी अनेक रूप समात्मभाव पर के आधार ही करते हैं।

—∞—

अध्याय-११

रस और वेदना

परम्परागत काव्यशास्त्र के रस विधान मे रसो के स्थायीभावो के रूप मे जिन मनोभावो की गणना की गई है उनमे प्रिय और अप्रिय दोनो प्रकार के भाव है। शान्त रस का निर्वेद तो एक प्रकार से समस्त भावो का अभाव है। शेष आठ रसो म शृगार, वीर और हास्य को छोडकर अ य पाच रस शोक, भय आदि अप्रिय भावो पर ही अवलम्बित है। वीर रस म किसी प्रिय भाव का अनुभव होता है, यह सदिग्ध है। फिर भी इसम आश्रय और सामाजिक दोनो के अहकार का पोषण होता है, जो इसे स्पृहणीय अवश्य बनाता है। केवल शृगार और हास्य की प्रियता असदिग्ध है। हास्य के परिचित रूप म अहकार का पोषण मधुर और सरल भाव स होता है। इसके विपरीत वीर रस का ओज उसम माधुय का विरोधी बन जाता है। इसी कारण उसकी प्रियता मे सदेह उपस्थित होता है। अस्तु, शृगार, और वात्सल्य मे ही प्रियता मधुर और स्पष्ट रूप मे मिलती है। इनमे भी केवल हास्य ही सवथा प्रिय होता है। शृगार और वात्सल्य के रस मीमासा मे प्रिय नही होते। इसी आधार पर इनके सयोग और विप्रलम्भ नाम से दो भेद किये गये हैं। सयोग की अवस्था मे शृगार और वात्सल्य निस्सदेह मधुर और प्रिय होते हैं। किन्तु विप्रलम्भ की अवस्था मे इनका मधुर और प्रिय भाव करुणा से अभिभूत हो जाता है। शोक पर आश्रित करुण से विप्रलम्भ की करुणा का भेद करना आवश्यक है। काव्यों मे शृगार और वात्सल्य का वणन सयोग की अपेक्षा विप्रलम्भ की अवस्था में अधिक मिलता है और विप्रलम्भ की करुणा से आप्लुत यह वणन काव्य की मार्मिक और अमूल्य निधि माने जाते हैं। करुणा के प्रति मनुष्य का कुछ ऐसा ही अद्भुत अनुराग है। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल म चतुथ सग म शकुन्तला की विदा का वणन अत्यन्त हृदय ग्राही माना जाता है। संस्कृत

काव्य की परम्परा के अनुसार वह काव्य सागर का अमृत है। इस परम्परा की प्रसिद्धि निम्न उक्ति मे है जिसके अनुसार शकुन्तला की विदा का वर्णन संस्कृत काव्य सागर का अमृत है—

काव्येपु नाटकम् रम्यम् तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोक तत्र श्लोक—चतुष्टयम्॥

वह 'श्लोक चतुष्टयम्' शकुन्तला की विदा के अवसर के चार मर्मस्पर्शी श्लोक ही हैं। किसी ने इस प्रसिद्धि का संशोधन करने तत्र श्लोक चतुष्टयम्' के स्थान पर यत्र जाति शकुन्तला' कर दिया है। यह संशोधन नितान्त समीचीन है। शकुन्तला के अतिरिक्त मेघदूत में भी वियोगी यक्ष का श्रृंगार विप्रलम्भ की करुणा में ही आप्लुत हैं। भवभूति का उत्तर रामचरित श्रृंगार के विप्रलम्भ की करुणा के कारण ही इतना मर्मस्पर्शी बन सका है। गोपियो के विहार की करुणा के ज्वारो से सूर का सागर उद्वेलित है। रामचरित मानस मे सीता-हरण की करुणा दर्शनीय है। साकेत का नवम् सर्ग उर्मिला के विरह की वेदना से स्पदित है। वात्सल्य का वर्णन ही काव्य मे सूर और तुलसी के अतिरिक्त दुर्लभ हैं।

संस्कृत काव्य म उसका नितान्त अभाव है। रामचरित मानस और सूर सागर म विप्रलम्भ की करुणा से परिप्लुत वात्सल्य के कुछ दृश्य राम के वन गमन और श्री कृष्ण के प्रयाण के प्रसंग मे मिलते हैं। हरिऔध के प्रिय प्रवास जैसे काष्ठ काव्य म श्रृंगार और वात्सल्य के विप्रलम्भ की करुणा ही रस का एक अन्तर्गत प्रवाह है जो प्रिय प्रवास को काव्य की कोटि का अधिकारी बनाता है। आधुनिक हिन्दी के गीति काव्य मे श्रृंगार की प्रधानता है और इस श्रृंगार मे विप्रलम्भ की करुणा का ही प्रवाह अधिक है। श्रृंगार और वात्सल्य की संयोग अवस्थाओं का वर्णन भी सर्वत्र उल्लासपूर्ण नहीं है। वस्तुत जहा इनमे करुणा का स्पर्श है वहा इनका वर्णन सबसे अधिक मर्मस्पर्शी बन पडा है। रघुवंश का त्रयोदश सर्ग दुष्यन्त और शकुन्तला का पुनर्मिलन आदि इसके उदाहरण हैं। तुलसीदास की कवितावली के व दो पद जा पुरते निकसी रघुवीर वधू' के प्रसंग से प्रख्यात है संयोग श्रृंगार की मर्मस्पर्शी करुणा के सिन्धु हैं। श्रृंगार और वात्सल्य की इस करुणा के अतिरिक्त शोक पर आश्रित करुण रस भी काव्य म

मे अत्यन्त मर्मस्पर्शी होता है। किसी कारण काव्य म करुण रस का वर्णन मिलता है। फिर भी रघुवंश मे अज विलाप, कुमार सम्भव के रति विलाप, रामचरित मानस के दशरथ मरण के प्रसग म जहां कहीं भी काव्य मे करुण रस मिलता है वहा वह अत्य त मर्मस्पर्शी और प्रभावशाली है। काव्यशास्त्र की एक मौलिक भ्रांति के कारण अन्य अप्रिय भावा का समाहार करुणा की इस व्यापक परिधि म नही हो सका। इसीलिए काव्य म इन रसा का वर्णन बहुत कम मिलता है। अपने स्वरूप म अप्रिय होने हुए भी ये करुणा मय नही है। अत इनके वर्णन मे प्रसग अपने आप म मर्मस्पर्शी नही बन सकते। अप्रिय भावो का करुणा स क्या सम्बन्ध है और दुखमय होते हुए भी करुण के प्रसग इतने हृदयग्राही क्यों होते हैं? यह एक विचारणीय प्रश्न है।

करुण की यह महिमा काव्य म ही चरितार्थ नही हुई हैं, वरन् काव्य के सम्बध म कुछ महत्वपूर्ण मतो म भी मूर्त हुई है। इस सम्बन्ध म सबसे पहले आदि कवि वाल्मीकि के जीवन का वह प्रसग स्मरणीय है जबकि काम मोहित क्रौंच मिथुन मे से एक का वध करके एक निषाद ने उनकी करुणा की गंगा का जीवन की भूमि पर अवतरित किया था। वाल्मीकि के उस 'शोक म जो आन दवघन के शब्दो म श्लोकत्व' को प्राप्त हुआ था अर्थात् उस प्रसिद्ध श्लोक के रूप म व्यक्त हुआ, वाल्मीकि के काव्य की महती करुणा का आदि स्रोत है। वस्तुत रामायण नही वरन् वह श्लोक ही आदि काव्य है। आनन्दवर्धन ने वाल्मीकि के उस भाव को शोक का नाम दिया है किन्तु वस्तुत वह करुणा का उदार और मर्मस्पर्शी भाव है। शोक एक प्राकृतिक और व्यक्तिगत भाव है। सहानुभूति से मिलने पर वह करुणा बन जाता है। करुणा मे वेदना और माधुर्य का अद्भुत सम वय है। कालिदास के जीवन करुणा की प्रेरणा का ऐसा कोई इतिहास प्रसिद्ध नही है कि तु उनके काव्य मे जो करुणा की धारा ओतप्रोत है उससे विदित होता है कि उनके जीवन के सस्कारो मे करुणा के भावो का गम्भीर योग रहा होगा। सूर और तुलसी के जीवन मे करुणा का मौलिक प्रभाव उनके अन्धत्व और वैराग्य मे क्रमश विदित ही है। भवभूति के उत्तर रामचरित की करुणा प्रसिद्ध ही है, जो करुण को ही एकमात्र रस मानते थे। भवभूति की

गया। किन्तु एक मार्मिक मानवीय भावना के रूप मे करुणा का प्रभाव उनके उत्तरकालीन काव्य मे ही लक्षित होता है। विश्व कवि रवीन्द्र के काव्य मे भी सास्कृतिक सौन्दर्य और आध्यात्मिक शान्ति के पीछे निराला की भाति ही करुणा का एक तरल प्रवाह है। रवीन्द्र की इस करुणा का आदि स्रोत भी पत्नी वियोग के उस मर्मवेदी शोक मे है, जिसकी अभिव्यक्ति उनकी 'मानस सुन्दरी' नामक कविता मे हुई है। इस प्रकार सस्कृत और हिन्दी के प्रमुख कवियो के जीवन और काव्य मे करुणा के मर्मस्पर्शी सस्कारो का गम्भीर प्रभाव ही उनके सौन्दर्य और उसकी महिमा का मौलिक रहस्य बन गया है।

भारतीय कवियो के जीवन और काव्य की करुणामयी अन्तर्भावना यहा सकेत करती है कि कदाचित् काव्य और सस्कृति का मूल मर्म करुणा मे ही निहित है। सस्कृति की परम्परा मे करुणा की अपेक्षा माधुर्य की प्रतिष्ठा अधिक है। किन्तु इसके विपरीत काव्य मे करुणा की ही महिमा सबसे अधिक दिखाई देती है। सस्कृति की परम्परा मे भी करुणा के कुछ मार्मिक प्रसग कन्या के विवाह पर्वों के अवसर, पर कन्याओ के आगमन अन्त्येष्टि सस्कार आदि के रूप मे सुरक्षित है। किन्तु काव्य मे यह करुणा अधिक व्यापक और गम्भीर है। करुणा का मर्म वेदना है। समात्मभाव से युक्त समवेदना का माधुर्य करुणा को एक मर्मस्पर्शी भाव बना देता है। करुणा मे व्यक्ति का शोषक शोक मानवता की पोषक विभूति बन जाता है। वेदना और शोक का कारण दुःख है, जो एक अप्रिय भाव है और जीवन के अप्रिय प्रसगो एव अनुभावो से उत्पन्न होता है। वियोग और मृत्यु का शोक इन प्रसगो मे प्रमुख हैं। काव्य मे ये प्रमुख प्रसग ही करुणा के विशेष अवसर बने है। किन्तु अन्य अप्रिय भाव भी इस गौरव के अधिकारी हो सकते है। जीवन और काव्य मे करुणा की रस व्यापकता को देखते हुए जीवन और काव्य के रस के साथ दुःख अथवा वेदना के सम्बन्ध का व्यापक और गम्भीर विचार अपेक्षित है। व्यक्तिगत जीवन के अनुभव मे दुःख रस का कारण नही होता। वह प्रिय और स्पृहणीय नही वरन् अप्रिय और वर्ज्य है। अतः उसे रस नही कहा जा सकता। किन्तु सामाजिक और सास्कृतिक सम्बन्धो मे तथा काव्य मे वह दुःख किस प्रकार रस का कारण बन जाता है यह जीवन और काव्य का एक रहस्यमय प्रश्न है। काव्य के सम्बन्ध मे रस मीमासा के प्रसग मे इस रहस्यमय प्रश्न का विवेचन अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सबसे पहले इस सम्बन्ध मे परम्परागत काव्यशास्त्र की दृष्टि से विचार करना उचित हैं। काव्यशास्त्र म प्रिय और अप्रिय सभी भावो को समान रूप से रस का आधार माना गया है। यह स्पष्ट है कि जीवन म अप्रिय भाव रसमय नही होत, फिर भी काव्य मे उह रसमय माना गया है। इन भावो की रसवत्ता काव्यशास्त्र मे एक अद्भुत ढग से सिद्ध की गई है। भट्ट नायक ने साधारणीकरण और सत्व के उद्रेक के द्वारा काव्य के रसास्वादन व्याख्या की है। सत्व के उद्रेक से जो चेतना की विश्रान्ति होती है, वह उनके मत मे आनदमय है। भट्ट नायक का यह सिद्धा त दशन और अध्यात्म के अनुरूप हैं। सत्व का उद्रेक निस्सदेह आन दमय होता है। यदि काव्य की शक्ति के द्वारा वह सम्भव होता है तो निस्सदेह काव्य जीवन के अप्रिय भावो को भी रसमय बनाने मे समथ है। कि तु प्रश्न यही है कि क्या काव्य के द्वारा ऐसी स्थिति सामा यत होती है। यद्यपि भट्ट नायक ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन विशेष रूप से अप्रिय भावो के प्रसग मे नही किया कि तु अप्रिय भावो के प्रसग मे इनका उपयोग किया जा सकता है। भट्ट नायक ने श्र गार आदि के प्रसिद्ध प्रसगो म अगम्या गमन आदि के दोषा का उद्भावन किया। सत्व का उद्रेक उनके मत मे उस साधारणीकरण का पूरक है। साधारणीकरण के द्वारा दशक नाटक अथवा काव्य के आलम्बन बन जात हैं। इस प्रकार साधारणीकरण सामाजिक को रस का आश्रय सिद्ध करने में सफल होता है।

सयोग श्रृ गर के प्रिय भावो के प्रसग मे यह सिद्धा त यदि मा य नही तो असगत प्रतीन नही होता। कि तु अप्रिय भावो के प्रसग मे साधारणीकरण की सम्भावना सदिग्ध जान पडती है। क्या करुण वीभत्स भयानक आदि रसा के आलम्बन साधारणीकरण के द्वारा सामाजिक के आलम्बन बन जाते हैं, और वह वह इनके स्थायी भावों से उसी प्रकार प्रभावित होता हैं जिस प्रकार नाटक के मूल पात्र अथवा आश्रय प्रभावित होते हैं। यदि यह मान लिया जाये तो भी सामाजिक को ऐसी स्थिति मे शोक भय आदि का अनुभव होना चाहिए, जसा कि मूल आश्रय को होता है। शोक भय आदि वास्तविक जीवन म रस मय नही है। अत इसके अनुसार सामाजिक को रस का अनुभव नही होना चाहिए। यहा पर भोग व्यापार द्वारा सत्व का उद्रेक काव्यशास्त्र की रक्षा करता है। भट्ट नायक के अनुसार यह भोग शब्द का व्यापार है। अत यह

साक्षात् जीवन में नहीं होता, वरन् काव्य में ही सम्भव होता है। भोग के द्वारा सत्व के उद्रेक से काव्य के भाव भी सामाजिक के लिए रसमय बन जाते हैं। यह काव्य का अद्भुत चमत्कार है। यही काव्य के रस का रहस्य है।

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या अप्रिय भावो के प्रसग म विशेषत शोक, दुख भय आदि की स्थिति मे आलम्बन का साधारणीकरण वस्तुत होता है और क्या साधारणीकरण के द्वारा सचमुच सामाजिक इन भावो के आलम्बन बनते है। यदि इसे सम्भव भी मान लिया जाय तो इस साधारणीकरण की स्थिति मे सामाजिक को भी दु ख, शोक भय का अनुभव होना चाहिए। किन्तु वस्तुत ऐसा नही होता। इसके स्थान पर काव्य म इन प्रसगो के वणन ममस्पर्शी होने के साथ-साथ एक अद्भुत माधुय लिए रहते ह। इसे काव्यशास्त्र की भाषा मे रस कहा जा सकता है। यह काव्य का अद्भुत चमत्कार है। भट्टनायक के अनुसार इसका रहस्य भोग व्यापार के द्वारा सत्व का उद्रेक है। किन्तु साधारणीकरण की भांति इसके सम्ब ध मे यही प्रश्न उठता है कि क्या काव्य के श्रवण अथवा पठन म यह सत्व का उद्रेक वस्तुत होता है? क्या शब्द मे अथवा काव्य की व्यजना मे ऐसी शक्ति है जो जीवन के दु खमय प्रसगों को रसमय बना देती है। भट्टनायक की भावना शब्द का व्यापार है। अभिनव गुप्त ने उसका ध्वनि मे अ तर्भाव करने का प्रयत्न किया है। ध्वनि म अथ की प्रधानता होती है। हमे शब्द और ध्वनि दोनो की ही शक्ति का निधारण अभीष्ट है। शब्द म साधारणीकरण की शक्ति है अथवा नही यह तो सदिग्ध है। किन्तु सत्व के उद्रेक मे शब्द का कुछ योग सम्भव प्रतीत होता है।

शब्द ज्ञान के प्रतीक ह। ज्ञान प्रकाशपूण है। प्रकाश सत्व का लक्षण है। अत सत्व के उत्कप मे शब्द का योग किसी सीमा तक सगत प्रतीत होता है। स्वरूपत शब्द की यह सात्विकता राजस और तामस भावो को पूणत सात्विक बनाने मे समथ नही है। शब्द के साथ अथ भी समवेत रहता है और सामाजिक पर शब्द और अथ दोनो का प्रभाव होता है। शब्द अभिव्यक्ति का रूप है। रूप का अतिशय काव्य का सौ दय है। उस सौ दय का प्रभाव और रस सात्विक होता है। किन्तु यह ज्ञात नही कि भट्टनायक का अभिप्राय शब्द और काव्य के रूप की इस शक्ति से ही था अथवा नही। काव्य के रूपगत

सौन्दय का सात्विक प्रभाव भी सभी सामाजिको पर नही होता। अधिकाश लोग शब्द के रूप की अपेक्षा तत्व (अथ) स अधिक प्रभावित होत हैं। साधारण मनुष्य की दृष्टि तत्व मुखी होती है। रूप के सौन्दय का रस कुछ कला विज्ञो का ही आकर्षित करता है, यद्यपि यह सत्य है कि उसका प्रभाव अपने आप म सदा सात्विक होता है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इस दृष्टि से काव्य के रस का निरूपण नही किया ह। साधारणजनो की भाति उनकी दृष्टि भी का य के तत्वगत भाव और रस पर रही है। सामान्यत शब्द क अथ अथवा तत्व का प्रभाव जीवन के अनुरूप होता है। किन्तु अप्रिय और दु खपूर्ण भावा के प्रसग मे यह प्रभाव जीवन के अनुरूप नही होता। काव्य मे वर्णित दु ख शोक और भय क प्रसग हमे दु खी तथा भयभीत नही बनात। इसके विपरीत उनके ममस्पर्शी वणन म हमे एक अद्भुत माधुय का अनुभव होता है जिसे का यशास्त्र मे रस कहा जाता है।

अथ अथवा तत्व की दृष्टि से सत्व के उत्कप को काव्य के इस विपरीत प्रभाव का धारण नही माना जा सकता क्योकि शब्द के अथ म श द के रूप क समान सत्व का सामा य लक्षण नही माना जा सकता। श द का अथ एक ओर उसके रूप का प्रकाश है किन्तु दूसरी ओर वह जीवन का तत्व है। अत रूप के सौ दय से समवेत् रूप म देखने पर ही उसम सात्विकता का आभास हा सकता है। तत्व की दष्टि से देखने पर उसका प्रभाव जीवन के अनुरूप ही होना चाहिए। किन्तु ऐसा नही होता। शब्दो मे वर्णित दु ख शोक, भय आदि हम तद्रूप म प्रभावित नही करत वरन् भिन्न रूप मे प्रभावित करत हैं। अप्रिय हाने के स्थान पर व मधुर और रसमय हो जाते है। सभी सामाजिका के लिए ऐसा शब्द अथवा रूप के सात्विक चमत्कार के कारण नही हाता। सत्वगुण राग द्वेष से रहित हाता है, क्योकि ये रजोगुण के लक्षण है। अत सत्व का भाव सम अथवा उदासीन होता है। इसीलिए शब्द का सात्विक प्रभाव होने पर प्रिय और अप्रिय भाव तद्रूप मे प्रभावित नही करते। सत्व का सम्भाव रस कहा जा सकता है। किन्तु जो सत्व के सात्विक भाव से प्रभावित नही होत तथा जिनकी दष्टि तत्वमुखी रहती है, उन पर इस सत्व का प्रभाव जीवन के अनुरूप क्यो नही होता तथा उन्ह दुखमय भावो म माधुय का अनुभव क्यो होता है? इसका विचार हमे शब्द की सात्विकता के पक्ष को छोडकर करना होगा।

इसके साथ साथ हमें यह भी विचार करना होगा कि काव्य का ऐसा प्रभाव अप्रिय और दुखपूर्ण प्रसंगों में ही होता है। प्रिय और सुखमय प्रसंग काव्य में वर्णित होने पर भी प्रिय और सुखमय प्रतीत होते हैं। सुखमय प्रसंगों का प्रभाव दुखमय नहीं होता किन्तु दुखमय प्रसंगों का प्रभाव रसमय होता है। इसका कारण काव्य के रूपगत सौन्दर्य का चमत्कार भी हो सकता है। किन्तु यह उन्हीं के विषय में सत्य हो सकता है जो इस सौन्दर्य की दृष्टि से काव्य को देखते हैं और इससे प्रभावित होते हैं। जो काव्य से तत्व की दृष्टि से प्रभावित होते हैं उनके सम्बन्ध में दुखमय प्रसंगों के रसमय होने का कारण हमें अन्यत्र खोजना होगा। काव्य का रूप अथवा उसकी स्थिति और मनुष्य का मनोभाव दो ही हमारी इस खोज के क्षेत्र हो सकते हैं। प्राकृतिक दृष्टिकोण से हम यह कह सकते हैं कि जहां भी सम्भव है वहां मनुष्य का मन सुख और रस की खोज करता है। किन्तु विचारणीय बात यह है कि काव्य के दुखद प्रसंगों में वह किस प्रकार रस खोज लेता है। साक्षात जीवन के अनुभव में वह जीवन के इन दुखद प्रसंगों में रस नहीं खोज पाता। फिर काव्य में उसकी यह खोज कैसे सफल हो जाती है? इसका उत्तर हम मनुष्य के मन में नहीं काव्य के रूप अथवा उसकी स्थिति में पा सकते हैं। काव्य के रूप के सम्बन्ध में हम ऊपर बता चुके हैं कि किस प्रकार उसका सात्विक प्रभाव जीवन के दुखमय प्रसंगों को सरस बना देता है। किन्तु जिन लोगों पर काव्य के इस रूप का प्रभाव नहीं होता उनके लिए काव्य के दुखद प्रसंगों की सरसता का रहस्य काव्य की स्थिति में खोजना होगा। स्थिति की दृष्टि से काव्य साक्षात् जीवन नहीं वरन् साक्षात् जीवन का अनुवाद अथवा चित्रण है। यह ध्यान देने योग्य है कि यह साक्षात् जीवन सामाजिक का नहीं वरन् दूसरों का होता है। साधारणीकरण के द्वारा काव्य के सात्विक रसास्वादन में आचार्यों ने उसका कारण 'मम' और 'पर' के भेद का परिहार माना है। किन्तु प्राकृतिक दृष्टि से यह 'मम' और 'पर' का भेद अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। इसी भेद के कारण काव्य में वर्णित दुखद प्रसंग उनको अपने साक्षात् जीवन के दुखद प्रसंगों की भांति प्रभावित नहीं करते। काव्य के रूप के सात्विक प्रभाव के कारण काव्य के तत्व के प्रति समभाव होता है, जो रस कारण बनता है। किन्तु ऊपर की स्थिति में पर भाव यदि रसानुभव का नहीं तो कम से कम दुखाभाव का कारण अवश्य बन जाता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि काव्य में यह दुःखभाव का अनुभव रस का कारण कैसे बनता है। किसी सीमा तक केवल दुःखभाव को सुखमय अथवा मान सकते हैं। यह रसमयता काव्य के तत्व का फल नहीं वरन् उसका प्रतिफल है। दुःख के प्रसंगों में दुःखभाव का अनुभव होने पर हमारे जीवन का सुखमय भाव उभर जाता है और हमारे अनुभव को सरस बनाता है। ऐसी स्थिति में रस का अनुभव काव्य के रस का आस्वादन नहीं वरन् अपने जीवन के रस का आस्वादन है। यह कुछ अभिव्यक्तिवाद की सी स्थिति है। किन्तु इसमें इतना अन्तर है कि यह काव्य में स्वीकृत स्थायीभावों के अनुरूप नहीं होती वरन् दुःखमय प्रसंगों में उनके विपरीत होती है। अभिव्यक्तिवाद भी दुःखमय प्रसंगों को काव्य में रसमय मानता है किन्तु वह इस रसमयता की व्याख्या भिन्न प्रकार से करता है। हमारी व्याख्या साक्षात् जीवन के अनुरूप है।

अभिव्यक्तिवाद सामाजिक की वासना में स्थित शोक, भय आदि के भावों को भी रस का कारण मानता है। इसके विपरीत हमारी व्याख्या में सामाजिक के ये अपने स्थायीभाव साक्षात् जीवन की भांति काव्य में भी रस के उपकारक नहीं होते। काव्य में वर्णित दुःखद प्रसंगों में ये भाव आश्रयों के स्थायी भाव होते हैं और उनके लिए वे रस के नहीं वरन् दुःख के ही कारण होते हैं। काव्य-शास्त्र में आश्रय के प्रसंग में जिस प्रकार रति आदि को स्थायीभाव मानकर रस की व्याख्या की गई है उसी प्रकार शोक, भय इत्यादि को स्थायीभाव मानकर रस की व्याख्या नहीं की जा सकती। हमारे विचार से कलात्मक दृष्टिकोण से सात्विकता के समभाव के द्वारा तथा प्राकृतिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से दुःख के प्रसंग में परभाव के द्वारा रस का अनुभव होता है। परभाव की स्थिति में काव्य का दुःखद प्रसंग अपने जीवन के सुख और रस को प्रकट करता है। प्राकृतिक दृष्टिकोण से दूसरों के दुःख के अवसर पर हम इसी परभाव से अनुभव करते हैं।

काव्य में वर्णित जीवन के दुःखद प्रसंग भी सामान्य जीवन के दुःखद प्रसंगों से अधिक रसमय होते हैं। इसका कारण परभाव के साथ साथ उनकी अयथार्थता है। अयथार्थता का अभिप्राय यह नहीं है कि काव्य के वर्णन मिथ्या होते हैं। उसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि जीवन के वास्तव के पर्याय नहीं हैं। वे

केवल वर्णन और चित्रण हैं, साक्षात् जीवन नहीं। अत उनका प्रभाव (दुखमय प्रसगों में) साक्षात् जीवन के समान नहीं होता। भीषण और दुखमय घटनाओं के वर्णन हमें इतना आतंकित नहीं करते जितना कि उन घटनाओं का साक्षात् अनुभव करता है। दूसरों पर घटित होने पर भी दुखद घटनायें हम परभाव से प्रभावित करने के साथ साथ दूसरी ओर एक आत्मगत और अप्रिय सम्भावना के सूत्र से आश्रय के अनुरूप भाव से भी प्रभावित करते हैं। इसीलिए दुखद घटनाओं के साक्षात् अनुभव का रस मन्द और मिश्रित होता है। काव्य के दुखद वर्णनों में यह सम्भावना साक्षात् अनुभव की भांति हमें प्रभावित नहीं करती। अत काव्य के दुखद वर्णनों के प्रतिफल से प्रकट हमारे अपने जीवन का रस अधिक तीव्र होता है। प्राकृतिक दृष्टिकोण से काव्य के दुखमय वर्णनों में रस के अनुभवों का यही रहस्य है।

किन्तु प्राकृतिक दृष्टिकोण ही जीवन का सर्वस्व नहीं है। अब तक मनुष्य अपनी व्यक्तिगत इकाई में सीमित रहता है। जीवन में यह प्राकृतिक दृष्टिकोण भी प्रबल रहता है। किन्तु मनुष्य जीवन में सांस्कृतिक समात्मभाव का विकास भी बहुत हुआ है। समात्मभाव की स्थिति में व्यक्तित्व की सीमाओं का विस्तार परार्थ के क्षितिजों में होता है। व्यक्तित्व एक प्राकृतिक इकाई है। प्रकृति का लक्षण आदान है। प्राकृतिक रस का अनुभव आदान के रूप में ही होता है। आदान अपने व्यक्तित्व का पोषण है। इसके विपरीत समात्मभाव आत्म का भाव है। आत्मा का लक्षण प्रदान है। समात्मभाव की स्थिति में जो रस का अनुभव होता है वह केवल अपने व्यक्तित्व का पोषण नहीं है, वरन् इससे भी अधिक दूसरों के व्यक्तित्व का सम्वर्धन और सतुलन है। साक्षात् जीवन के दुखद प्रसगों में समात्मभाव की स्थिति में जो रस उदय होता है वह दुख के आश्रयों का दुख मन्द करके उन्हें जीवन की मधुर करुणा का सम्बल देता है। समान दुख की करुणा में एकाधिक आश्रय एक दूसरे को परस्पर यह सम्बल और रस प्रदान करते हैं। भाव की यह पारस्परिकता समात्मभाव का लक्षण है और समात्मभाव की करुणा का यह सम्बल जीवन और काव्य के सांस्कृतिक रस का रहस्य है।

समात्मभाव आत्मा का भाव है। सुख की स्थिति म प्रकृति के अनुरोध अधिक प्रबल रहते है। अत प्राकृतिक व्यक्तिवाद का प्रभाद भी अधिक रहता है। दुख के अवसरो पर प्रकृति का अनुरोध कम हो जाता है और समात्मभाव की सम्भावना अधिक होती है। इसके साथ-साथ प्रकृति का आवलम्बन मन्द हो जाने के कारण दुख की स्थिति मे समात्मभाव की आकाक्षा भी अधिक तीव्र हो जाती है। यह आकाक्षा उक्त सम्भावना को सफल बनाने म सहायक होगी। इसीलिए दुख के अवसरो मे समात्मभाव का सांस्कृतिक रस सुख के अवसरा की अपक्षा अधिक तीव्र हो जाता है। यह समात्मभाव प्रकृत्ति के साथ सगत भी हो सकता है कि तु प्रकृत्ति के जिस रूप मे व्यक्तित्व और अहकार प्रबल होता है, उसके यह समात्मभाव बहुत कुछ विपरीत है। इसीलिए साक्षात् जीवन म समात्मभाव की करुणा का रस काव्य मे सम्भव सास्कृतिक रस से स्वरूपत अधिक तीव्र होता है जबकि प्राकृतिक दृष्टिकोण मे दुखद प्रसगो मे काव्य का रस साक्षात् जीवन स अधिक तीव्र होता है। काव्य मे सास्कृतिक समात्मभाव का रस काव्य के रूपगत सौ दय के सयोग से अधिक तीव्र बन जाता है। साक्षात जीवन म रहने वाले रस क प्रतिब धको का अभाव भी काव्य रस को इस तीव्रता म सहायक होता है। साक्षात् जीवन क आश्रयो के साथ हमारे रागद्वेष भी रहत है जो प्राकृतिक होन के कारण प्रतिब धक भी है। काव्य के पात्रो के साथ हमारे ऐसे राग द्वेष नही रहते। अत उनके साथ समात्मभाव की घनिष्ठता अधिक अप्रतिरुद्ध होती है। इसी कारण अपने निकट परिचितो सम्बि धयो कुटम्बिया आदि की अपेक्षा दूर के अपरिचित जनो के साथ हमारा समात्मभाव अधिक शुद्ध और घनिष्ठ होता है। आत्मीय जनो क साथ घनिष्ठ और तीव्र समात्मभाव म कुछ अनुकूल प्रकृति का सश्लेषण भी रहता है यद्यपि उनक साथ शुद्ध और घनिष्ठ समात्मभाव भी सम्भव है।

अस्तु जीवन और का य दानो समात्मभाव का योग दुखमय परिस्थितिया को सास्कृतिक रस का अवसर बनाता है। दुखमय प्रसगो के प्राकृतिक रस की अपेक्षा उनक सांस्कृतिक रस अधिक और मधुर होता है। का य मे विप्रलम्भ और करुण की विपुलता और मार्मिकता का यही रहस्य है। यद्यपि जीवन मे करुण और विप्रलम्भ के दुखद प्रसग किसी को प्रिय और मधुर नही लगते, अतएव अपने साक्षात् जीवन मे कोई भी नही चाहता कि तु का य म इनका चित्रण

के अपूर्व रस से अभिभूति कर देता है। साक्षात् जीवन मे यह साक्षात् रूप मे सम्भव होता है। काव्य मे वृत के आश्रय साक्षात् रूप मे उपस्थिति न होने के कारण यह साक्षात् रूप मे सम्भव नही होता। किन्तु सास्कृतिक दृष्टि से काव्य के दुखमय स्थलो का आस्वादन करने वाले सामाजिको का भाव काव्य के प्रसग मे भी साक्षात् जीवन के समान ही होता है। यह स्पष्ट है कि साक्षात अनुभव की दृष्टि से काव्य के प्रसग मे केवल सामाजिक के ही रस और भाव की चर्चा की जा सकती है। काव्य मे वर्णित वृत्त के पात्रो का जीवन काव्य मे साक्षात् रूप मे नही वरन् केवल चित्रित रूप मे ही उपस्थित रहता है। अत साक्षात् समात्मभाव की स्थिति का फल इसमे सम्भव नही हो सकता। किन्तु मनुष्य के जीवन और भाव मे कल्पना साक्षात अनुभव की पूर्ति करती है। कल्पना आत्मा की सजनात्मक शक्ति है। अत वह साक्षात् जीवन के समान ही भावो का उपस्थान करने मे समर्थ है। जहा साक्षात् समात्मभाव सम्भव नहीं होता वहा काल्पनिक समात्मभाव ही उसकी पूर्ति करता है तथा साक्षात समात्मभाव के तुल्य भाव की स्थिति का विधान करता है।

जहा तक भाव के अनुभावक का प्रसग है उसके भाव का स्वरूप काल्पनिक समात्मभाव की स्थिति मे भी वैसा ही हो सकता है जैसा कि साक्षात् समात्मभाव की स्थिति मे होता है। वरन् प्राय ऐसा होता है कि काल्पनिक समात्मभाव मे भाव की तीव्रता, मार्मिकता अधिक होती है चाहे प्रत्यक्ष और तत्काल मे समात्मभाव के अप्रस्तुत आश्रय को इसका कोई लाभ न मिल सके। विप्रलम्भ की गम्भीरता का यही रहस्य है। इसका कारण यह है कि पात्रो के साक्षात् उपस्थित होने पर जब सास्कृतिक समात्मभाव प्रधान होता है तब उनकी साक्षात् उपस्थिति के कारण समात्मभाव के प्रधान होने पर भी प्रभाव कुछ अवश्य रहता है। काल्पनिक समात्मभाव मे अन्य आश्रयो के अप्रस्तुत रहने के कारण प्रकृति का यह प्रभाव अत्यन्त मन्द हो जाता है, अतएव समात्मभाव अधिक पूर्ण और तीव्र हो जाता है। जीवन और काव्य दोनो मे विप्रलम्भ की महिमा और करुणा हमारी उक्त धारणा को प्रमाणित करती है।

प्राकृतिक और सास्कृतिक दोनो ही प्रकार के भावो की स्थिति मे दुख अथवा वेदना का जीवन सस्कृति और काव्य मे क्या स्थान और महत्व है यह एक

विचारणीय प्रश्न है। प्राकृतिक दृष्टिकोण से साक्षात जीवन में अपना दुख किसी को प्रिय नही होता। कोई भी उसको नही चाहता। अपने दुख में केवल दुख की स्थिति में किसी को रस का अनुभव नही होता। किन्तु प्राकृतिक भाव की प्रधानता होने पर दूसरों के दुख के अवसर हमारे अपने जीवन के सुख और रस को प्रकट करते हैं। इसका निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं। काव्य में वर्णित दूसरो के जीवन के दुखमय प्रसग भी इसी प्रकार हमारे प्राकृतिक रस की अभिव्यक्ति और उसके आस्वादन के अवसर बन जाते हैं। सास्कृतिक दृष्टिकोण से समात्मभाव की स्थिति में दूसरो के दुख के ये अवसर एक दूसरे भाव की अभिव्यक्ति करते हैं जिसे प्राकृतिक भाव से भिन्न करने के लिए सास्कृतिक कहना अधिक उचित होगा। यह सास्कृतिक भाव आत्मिक भाव की प्रेरणा से ही सम्पन्न होता है। समात्मभाव की स्थिति में दुख के आश्रयो का दुख वेदनामय रहते हुए भी एक अपूर्व रस आप्लुत हो जाता है जिसे करुणा कहना सबसे ठीक है। यह करुणा का भाव ही दुख की स्थिति म प्रकट होने वाले रस का एक व्यापक भाव है। करुणा का भाव सुख और सयोग की स्थिति मे स्मृति, कल्पना, सम्भावना, आशका आदि के रूप मे दुख का आभास उदित होने पर प्रकट हो जाता है। सुख और सयोग को प्रकट होकर यह करुणा का भाव उन के रस को अधिक मर्मस्पर्शी बना देता है। इससे विदित होता है कि करुणा का भाव कितना व्यापक है तथा व्यापक होने के साथ साथ वह रस का कितना गम्भीर रहस्य है। सुखमय समात्मभाव के द्वारा श्रृगार, वात्सल्य आदि के मधुर रूप सम्भव है।

हास्य का मनोहर भाव तथा ओज का सृजनात्मक भाव भी इसी के द्वारा सम्पन्न होता है। इनके सुखमय रस मनुष्य की स्पृहा के मूल लक्ष्य हैं किन्तु इस मे सम्भव करुणा का स्पर्श इनकी मधुरता को कितनी तीव्र और मर्मस्पर्शी बना देता है। यह जीवन और काव्य के मर्मज्ञ ही जान सकते हैं। दुख जीवन का एक व्यापक सत्य है। अपने स्वरूप मे वह सबके लिए अप्रिय और अवाञ्छनीय है। किन्तु समात्मभाव की करुणा से अचित होकर दुख का भाव जीवन और काव्य मे अपूर्व रस की सृष्टि करता है। समात्मभाव की करुणा दुख के अवसर को दुख के आश्रय के लिए भी रसमय बना देती है। दुख की स्थिति मे प्राकृतिक दुख मिट नही सकता। वह जीवन के एक कठोर सत्य

के अपूर्व रस से अभिभूति कर देता है। साक्षात् जीवन मे यह साक्षात् रूप म सम्भव होता है। काव्य मे वत के आश्रय साक्षात् रूप मे उपस्थिति न होने के कारण यह साक्षात रूप मे सम्भव नही होता। किन्तु सास्कृतिक दृष्टि से का य के दुखमय स्थलो का आस्वादन करने वाले सामाजिको का भाव काव्य के प्रसग मे भी साक्षात जीवन के समान ही होता है। यह स्पष्ट है कि साक्षात अनुभव की दृष्टि से काव्य के प्रसग मे केवल सामाजिक के ही रस और भाव की चर्चा की जा सकती है। काव्य मे वर्णित वत्त के पात्रो का जीवन का य मे साक्षात रूप मे नही वरन् केवल चित्रित रूप मे ही उपस्थित रहता है। अत साक्षात् समात्मभाव की स्थिति का फल इसम सम्भव नही हो सकता। कि तु मनुष्य के जीवन और भाव मे कल्पना साक्षात अनुभव की पूर्ति करती है। कल्पना आत्मा की सजनात्जत शक्ति है। अत वह साक्षात् जीवन के समान ही भावो का उपस्थान करन म सम्थ ह। जहा साक्षात् समात्ममाव सम्भव नहीं होता वहा काल्पनिक समात्मभाव ही उसकी पूर्ति करता है, तथा साक्षात समात्मभाव के तुल्य भाव की स्थिति का विधान करता है।

जहा तक भाव के अनुभावक का प्रसग है उसके भाव का स्वरूप काल्पनिक समात्मभाव की स्थिति म भी वसा ही हो सकता है जैसा कि साक्षात् समात्म भाव की स्थिति मे हाता है। वरन् प्रात ऐसा होता है कि काल्पनिक समात्म-भाव मे भाव की तीव्रता, मार्मिकता अधिक होती है चाह प्रत्यक्ष और तत्काल मे समात्मभव के अप्रस्तुत आश्रय का इसका कोई लाभ न मिल सके। विप्रलम्भ की गम्भीरता का यही रहस्य हैं। इसका कारण यह है कि पात्रो के साक्षात् उपस्थित होन पर जब सास्कृतिक समात्मभाव प्रधान होता है तब उनकी साक्षात् उपस्थिति के कारण समात्भाव के प्रधान होने पर भी प्रभाव कुछ अवश्य रहता है। काल्पनिक समात्मभाव मे अ य आश्रया के अप्रस्तुत रहने के कारण प्रकृति का यह प्रभाव अत्य त म द हा जाता है, अतएव समात्मभाव अधिक पूर्ण और तीव्र हो जाता है। जीवन और काव्य दोनो म विप्रलम्भ की महिमा और करुणा हमारी उक्त धारणा को प्रमाणित करती है।

प्राकृतिक और सास्कृतिक दोनो ही प्रकार के भावा की स्थिति म दुख अथवा वेदना का जीवन सस्कृति और काव्य म क्या स्थान और महत्व है वह एक

विचारणीय प्रश्न है। प्राकृतिक दृष्टिकोण से साक्षात जीवन में अपना दुख किसी को प्रिय नहीं होता। कोई भी उसको नहीं चाहता। अपने दुख में केवल दुख की स्थिति में किसी को रस का अनुभव नहीं होता। किन्तु प्राकृतिक भाव की प्रधानता होने पर दूसरों के दुख के अवसर हमारे अपने जीवन के सुख और रस को प्रकट करते हैं। इसका निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं। काव्य में वर्णित दूसरों के जीवन के दुखमय प्रसग भी इसी प्रकार हमारे प्राकृतिक रस की अभिव्यक्ति और उसके आस्वादन के अवसर बन जाते हैं। सास्कृतिक दृष्टि-कोण से समात्मभाव की स्थिति में दूसरों के दुख के ये अवसर एक दूसरे भाव की अभिव्यक्ति करते हैं जिसे प्राकृतिक भाव से भिन्न करने के लिए सास्कृतिक कहना अधिक उचित होगा। यह सास्कृतिक भाव आत्मिक भाव की प्रेरणा से ही सम्पन्न होता है। समात्मभाव की स्थिति में दुख के आश्रयों का दुख वेदनामय रहते हुए भी एक अपूर्व रस आप्लुत हो जाता है जिसे करुणा कहना सबसे ठीक है। यह करुणा का भाव ही दुख की स्थिति में प्रकट होने वाले रस का एक व्यापक भाव है। करुणा का भाव सुख और सयोग की स्थिति में स्मृति कल्पना, सम्भावना, आशका आदि के रूप में दुख का आभास उदित होने पर प्रकट हो जाता है। सुख और सयोग को प्रकट होकर यह करुणा का भाव उन के रस को अधिक मर्मस्पर्शी बना देता है। इससे विदित होता है कि करुणा का भाव कितना व्यापक है तथा व्यापक होने के साथ साथ वह रस का कितना गम्भीर रहस्य है। सुखमय समात्मभाव के द्वारा शृगार, वात्सल्य आदि के मधुर रूप सम्भव हैं।

हास्य का मनोहर भाव तथा ओज का सृजनात्मक भाव भी इसी के द्वारा सम्पन्न होता है। इनके सुखमय रस मनुष्य की स्पृहा के मूल लक्ष्य हैं किन्तु इस में सम्भव करुणा का स्पर्श इनकी मधुरता को कितनी तीव्र और मर्मस्पर्शी बना देता है। यह जीवन और काव्य के मर्मज्ञ ही जान सकते हैं। दुख जीवन का एक व्यापक सत्य है। अपने स्वरूप में वह सबके लिए अप्रिय और अवाच्छनीय है। किन्तु समात्मभाव की करुणा से अचित होकर दुख का भाव जीवन और काव्य में अपूर्व रस की सृष्टि करता है। समात्मभाव की करुणा दुख के अवसर को दुख के आश्रय के लिए भी रसमय बना देती है। दुख की स्थिति में प्राकृतिक दुख मिट नहीं सकता। वह जीवन के एक कठोर सत्य

की भाति अटल बना रहता है किन्तु समात्मभाव की करुणा उस दुख के दावानल को रस के प्लावन के द्वारा यथा सम्भव अभिभूत करना चाहती है। प्राकृतिक जीवन के सतापो म आत्मा का यही अधिकतम योग हो सकता है। सुख की कामना स्वाभाविक है। समात्मभाव की आकाक्षा की आत्मा से अनुप्राणित मनुष्य का अनतम अभीप्सित है। इस अभीप्सित को पूरा करने म जीवन के दुर्भाग्यपूर्ण दुख का कितना महान् योग है, यह विचार करने पर ही विदित हो सकता है। दुख अपने स्वरूप मे चाहे कितना ही अप्रिय और अवाछनीय हो किन्तु समात्मभाव के उद्भाव का अवसर बन कर वह कितना कल्याणकारी बन जाता है यह समझना कठिन है। दुख म भगवान का स्मरण होता है यह सभी जानते हैं। कबीरदास जी ने कहा है —

दुख मे सब सुमिरन करें सुख मे करें न कोय।

महादेवी वर्मा ने भी अपने गीतो मे कहा है कि 'पीडा म तुमको पाया।

उनके इस पद की पूर्ति (तुमम ढूढूगी पीडा) समात्मभाव के उस साम्य का सकेत करती है जो उसे पूर्ण बनाता है। दुख ही समात्मभाव की आकाक्षा और सम्भावना का मूल आधार है। अपने जीवन म दुख का अनुभव होने पर समात्मभाव की आकाक्षा उदित होती है। प्राकृतिक दृष्टि से सुख की कामना अथवा दुख की मुक्ति भी इस आकाक्षा म अन्तर्निहित रहती है। किन्तु दूसरी ओर इसमे दुख के आश्रय का आत्मभाव भी प्रकाशित होता है। जीवन का दुख मनुष्य के अहकार का चूर्ण करता है। दुख के प्रभाव मे अहकार के मन्द होने पर आत्मभाव का प्रकाशित होने का अवसर मिलता है। यह दुख का अध्यात्म और सस्कृति म अद्भुत योग है। दर्शनो के दुख स प्रेरित होने पर भी इस रूप मे दुख का समाधान उनमे नही हो सका। इसका कारण यह था कि ससार के दुख से पीडित होने वाले दुखवाद के प्रवतक ऋषि, मुनि और महात्मा स्वय अपने जीवन म दुख से अनभिज्ञ थे। सब दुख के मन्त्रदाता बुद्धराज प्रासाद के सुख और विलास मे पले थे। वृद्ध रोगी और मृतक को देखकर उनका दुख से अपरिचित मन अपनी दुर्बलता से विह्वल हो उठा। वे अपने जीवन की इन भीषण परिणतियों से रक्षा करने के लिए एक अलौकिक मार्ग की खोज मे प्रवृत्त हुए जिसे उन्होने लोक का राजमार्ग बनाना चाहा। किन्तु वे अपनी यशोधरा,

अपने राहुल और अपने माता पिता क दुख का अनुमान नही लगा सके। अपने जीवन में वास्तविक दुख से अनभिज्ञ रहने के कारण इन महात्माओं की कल्पना समात्मभाव की करुणा को उपस्थित नहीं कर सकी।

अपने जीवन के वास्तविक दुख म समात्मभाव की आकांक्षा उदित होने पर ही उस करुणा का रहस्य विदित होता है। साक्षात् अनुभव के इसी सूत्र से वह करुणा जीवन की विशाल भूमि पर प्रवाहित होती है। इसी सूत्र से करुणा की आकांक्षा दूसरों के दुख में अनुग्रह बन जाती है। दूसरों का दुख हम अपने दुख का स्मरण दिलाता है और दुख की भावी सम्भावनाओं की कल्पना म प्रस्तुत करता है। एक ओर दूसरों का दुख हमारी सुरक्षा के प्राकृतिक भाव का सकेत करता है, किन्तु दूसरी ओर उक्त स्मरण और सम्भावनाओं के द्वारा वह हमारे अहकार को मन्द कर आत्मभाव के उदय को सम्भव बनाता है। इस प्रकार अनेक आश्रयों म अहकार की म दता आत्मभाव के साम्य को प्रस्तुत करती है। यही साम्य समात्मभाव का मूल आधार है। इसी समात्मभाव के मानसरोवर से दुख की कठोर भूमि पर करुणा की रसमयी गगा बहती है।

करुणा का यह भाव अथवा रस जीवन का अद्भुत भाव है। इसे दुख सुख अथवा इनके मिश्रण के रूप म समझना उचित नही। दुख पर आश्रित होते हुए भी यह केवल दुखमय नही है। वेदना का सम्पुट रहने के कारण इसे सुखमय भी नही कहा जा सकता। सुख और दुख एक दूसरे से इतने विपरीत होते हैं कि करुणा को इनका मिश्रण कहना भी उचित नही है। दो विरोधी भावो का सह अस्तित्व सम्भव हो सकता है। वस्तुत करुणा दुख के तीव्र ताप से हृदय के क्षितिज पर उठने वाली कादम्बिनी है जो ताप से प्रसूत होते हुए भी अपने स्वरूप म सरस होती है। करुणा की इस सरस कादम्बिनी मे वेदना की विद्युत की तीव्र लहरें झिलमिलाती है। किन्तु क्षण भर को दमक कर यह वेदना की विद्युत करुणा की सरस कादम्बिनी के तरल अचल म विलीन हो जाती है। दुख के ताप की किरणें भी करुणा कादम्बिनी के छोरों पर सौन्दय की रजत रेखायें और माधुय के रगीन इन्द्र धनुष रचती है। समात्मभाव के वाष्पमीय साम्य म करुणा की कादम्बिनी की स्थिति कुछ ऐसी ही विचित्र है। इसमे जीवन की तरलता कुछ ऐसा ही अद्भुत मृदुल और मधुर रूप ग्रहण करती है।

इस उपमा के निर्वाह में हमें इतना और कहना अभीष्ट है कि जीवन के ताप के गुप्त से उठने वाली इस मधुर और सुन्दर करुणा कादम्बनी के अंचल में ही जीवन का समस्त क्षेत्र और सौन्दर्य मिलता है। यही करुणा कादम्बिनी अपने उज्जवल आश्रुजल से लोक के मगल की वनराजियों और सौंदर्य की वाटिकाओं का अभिषेक करती है। जीवन और शब्द के मर्मस्पर्शी काव्य में इसी की महिमा व्याप्त है। इसी के उदार अंचल में जीवन के स्नेह प्रदीप सुरक्षित रहते हैं। जीवन और काव्य की अजस्र धाराओं में इसी के अभिषेक के अमृत प्रवाहित होते हैं। इन प्रवाहों के पवित्र तीर्थों पर मृत्यु, शोक आदि की प्रतारणायें जीवन का पद प्रक्षालन करती हैं।

करुणा की ये धारायें जीवन और काव्य की अनन्त दिशाओं में प्रवाहित होती हैं। जीवन के प्रिय और अप्रिय दोनों भावों में करुणा की यह विभूति व्याप्त है। प्रिय भावों के क्षेत्र में प्रकृति और अहंकार की सम्भावनाओं को मर्यादित कर दुःख एवं वेदना की स्मृतियों, सम्भावनाओं, कल्पनाओं आदि के प्रसग में वह प्रिय भावों को अधिक स्वस्थ सुन्दर मधुर और तीव्र बनाती है। करुणा की भूमिका में प्रिय भावों की महिमा एवं विभूति बढ़ती है। दूसरी ओर करुणा के द्वारा जीवन के अप्रिय भाव भी स्नेह सौहार्द माधुर्य और सौंदर्य के अवसर बनते हैं। इस प्रकार जीवन के प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार के भाव करुणा में कृतार्थ होते हैं। प्रकृति के अतिचारों की आशंकाओं से युक्त प्रियभावों में माधुर्य और मंगल की मर्यादाओं का विधान होता है। अपने स्वरूप में जीवन का मर्म वेदन करने वाली वेदना हृदय की विभूति बन जाती है। अनेक रूपों में अवच्छिन्न होते हुए भी करुणा का यह भाव सामान्यतः एक रूप है। उसके समस्त रूपों में जीवन की कादम्बिनी की एक ही वाष्पीय सरसता व्याप्त है। करुणा के सभी रूपों में तरलता एक ही सामान्य तत्व है और उस तत्व का स्वभाव जल के समान सांसिद्धिक द्रवत्व और माधुर्य है। तेज का भास्वर रूप भी उसमें विभासित होता है। प्रिय भावों के समान करुणा के भाव में स्वरूपगत एकता नहीं है। जिस प्रकार करुणा की तुलना हमने जल तत्व से की है उसी प्रकार उपमा के प्रस्तार के लिए हम अन्य प्रिय भावों की तुलना विश्व के अन्य तत्वों से कर सकते हैं। ओज को हम तैजस तत्व, हास्य को हम वायु तत्व, शान्त को हम पृथ्वी तत्व और अध्यात्म को हम आकाश तत्व

की उपमा दे सकते है। इन तत्वो के समान ही इन भावो के स्वरूपगत गुण विलक्षण हैं। मधुर भाव स भी कुछ करुणा मे समान ऐसी तरलता होती है कि इन चारो तत्वों म स किसी म उसका अन्तरभाव नही हो सकता। मधुर भाव के तारत्व और माधुय के आधार पर हम उस भी जल तत्व क समान मान सकत हैं। मधुर भाव और करुणा मे तारत्व म इनना ही अन्तर है कि मधुर भाव जीवन की भूमि पर प्रवाहित होने वाले और उस सरस बनाने वाल जल प्रवाह के समान हैं। करुणा का भाव हृदय के अन्तरिक्ष म सचारण करने वाली कादम्बिनी क समान हैं। दोनो का तत्व एक ही तरल माधुय है। मधुर भाव मे उस तारत्व का प्रवाह स्पष्ट और निश्चित रहता है। इसीलिए हम उसकी धाराओ की दिशाओ का श्रृगार सरस, वात्सल्य आदि के रूप मे निर्देश कर सकते हैं। करुणा की कादम्बिनी तत्वत तरल और स्वरूपत मधुर होते हुए भी अपने रूप और दिशा की दृष्टि से अनिश्चित रहती है किन्तु अनिश्चित होने के कारण वह व्यापक अधिक है।

वह जीवन के अखिल अन्तरिक्ष म सचरण करती है। माधुय की विभिन्न धाराओ मे भी मूलत करुणा की तरलता का ही प्रवाह रहता है। इस करुणा के प्लावन माधुय के इन प्रवाहो म नवीन तरगो का वग भरत हैं। वदना के ताप के प्रभावो से जीवन के क्षार समुद्र स उठ कर मधुर और तरल रस की कादम्बिनी मनुष्य जीवन को कृताथ करती है। मधुरता और तरलता के अतिरिक्त शीतलता भी उसका स्वाभाविक गुण है। वह जीवन के सतापो और प्रकृति के आवेगो को शान्त करती है। वह जीवन क माधुय और विषादो म एक तरल आल्हाद भरती है। जीवन के समस्त भाव उसके अश्रु अभिषेक से उज्ज्वल बनते हैं। इसीलिए जीवन और काव्य म उसका व्यापक अभिनन्दन होता है।

करुणा का यह व्यापक भाव काव्यशास्त्र और काव्य के प्रसिद्ध करुणा रस से भिन्न है। करुणा रस का स्थायीभाव शोक है जो प्रिय के मरण जन्म वियोग से उत्पन्न होता हैं। काव्यशास्त्र और काव्य मे रस शोक को एक व्यक्तिगत सताप के रूप म प्रस्तुत किया है। जीवन म यह शोक अत्यन्त विषादमय और ममवेदक होता है। इस शोक की कटुता इसे अत्यन्त अप्रिय और

अवाछनीन बना देती है। जीवन मे कोई भी इसे नही चाहता। कि तु काव्य म यह करुणा एक रस बन गया है। शृंगार आदि प्रिय भावों की तुलना म यह उनसे विपरीत है। शृंगार आदि के भाव जीवन और काव्य दोनो म प्रिय होते है। जीवन मे इनका अभाव होन पर भी काव्य मे अनेक वर्णन बहुत कम लोगो को आकर्षित करेंगे। जीवन मे जो इन प्रिय भावो से कुछ तृप्त रहते हैं व इनके कलात्मक रूपो की ओर बहुत कम ध्यान देते है। प्राय वही लोग इनसे अधिक आकर्षित हाते हैं जो जीवन मे इन प्रिय भावो से कुछ अतृप्त रहते है इनमे शृंगार के समान कुछ भाव ऐसे है जिनका मन की अतपणीय आकाक्षा से सम्बध रहने के कारण काव्य और कला म भी उनका आकषण अभिनन्दनीय बना रहता है। फिर भी सामा यत ये काव्य की अपेक्षा साक्षात जीवन म ही अधिक आकर्षित हाते हैं। काव्य मे उनका आकषण जीवन म उनके आकषण पर ही अवलम्बित हाता हैं और उसका पोषण भी करता है।

किन्तु करुण रस इस दृष्टि से जीवन के प्रिय भावो के विपरीत है। वह जीवन मे अत्यन्त अप्रिय और अवाछनीय होता है। कि तु काव्य म उनका वर्णन अत्य त हृदयग्राही और प्रभावशाली बन जाता है। एक प्रकार से जीवन और काव्य मे इनका आकर्षण विपरीत अनुपात मे है। साक्षात् जीवन म शोक जितना कटु और वेदनामय होता है काव्य म करुण रस उतना अधिक हृदयग्राही हाता है। करुण रस इस हृदयग्राहिता की प्राकृतिक और सास्कृतिक स्थितियो का कुछ विवरण हम इसी अध्याय मे पीछे कर चुके हैं। प्राकृतिक दृष्टिकोण म शोक का भाव और करुण रस दोनो ही परभाव से अहकार के आस्वादन ह। व्यक्तिवाद के अनुसार यह अहकार पोषण ही उ ह आश्रय के अतिरिक्त अ य जनो के लिए सही अथवा प्रिय बनाता है। सास्कृतिक दृष्टिकोण स जीवन का शोक और का य का करुण दोनो समात्मभाव की मधुर भूमिका म करुणा का रूप ग्रहण करते है। करुण और करुणा म केवल लिंग का भेद नही है वरन् लिंग के अनुरूप भाव का भी अ तर हैं। पुरुष में सामान्यत व्यक्तिवाद और अहकार की प्रधानता होती है। इसके विपरीत स्त्रियो में समात्मभाव की सम्भावना अधिक होती है।

इसका कारण समाज म उनकी दलित और दुखी स्थिति हो सकती है। इनमे कुछ स्थितिया पुरुष के दम्भ का परिणाम है। किन्तु स्त्री के लिंग,

मातृत्व की कुछ हीन और वेदनामय स्थितिया प्रकृति का अनिवार्य विधान है।
इस अनिवार्य विधान पर आश्रित समात्मभाव स्त्री समाज की सहज और शाश्वत
विभूति है। काव्यशास्त्र का करुण रस अपने लिंग के अनुरूप अहकार और
व्यक्तिवाद म सीमित है। समात्मभाव की करुणा के रूप म उसका चित्रण बहुत
कम किया गया है। समात्मभाव की मधुर करुणा काव्य की अपेक्षा साक्षात
जीवन म अधिक मिलती है। काव्य म यह करुणा काव्य म वर्णित करुण रस
का स्वरूपगत लक्षण रही है। काव्य म करुण पात्रो के साथ सामाजिक के
समात्मभाव म यह करुणा उदित होती है। इस प्रकार यह करुणा काव्य की
नही वरन् प्रधानत जीवन की ही विभूति रहती है। इस प्रकार यह करुणा काव्य की
भाव आदि कवि क आदि श्लोक म व्यक्त हुआ है जैसा काव्य म अन्यत्र दुलभ
है। कालिदास क अज विलाप और रति विलाप म उसका कुछ आभास अवश्य
मिलता है। वस्तुत वह भी विप्रलम्भ की करुणा के अधिक निकट है। दम्पति
के वियोग म काल्पनिक समात्मभाव की सम्भावना तीव्र हो जान के कारण
करुणा का अवकाश अधिक रहता है। इसीलिए काव्य म करुण की अपेक्षा
विप्रलम्भ की स्थिति मे समात्मभाव की करुणा अधिक मिलती है। अज विलाप
और रति विलाप का करुण विप्रलम्भ की इस करुणा के अत्यन्त निकट है।
रामचरित के दशरथ मरण क अतिरिक्त वस्तुत शोक क अ य रूपो पर आश्रित
करुण रस का वर्णन बहुत कम मिलता है। व्यक्तिवाद और अहकार प्रकृतिवाद
पर आश्रित होन के कारण शोक पर आश्रित करुण काव्य का अधिक अनुकूल
उत्तर नही है क्यो कि उसका प्रकृतिवाद निषेधात्मक है। अप्रिय भाव पर
आश्रित होन के कारण यह शृ गार क समान स्पृहणीय नही रहता। इसीलिए
प्राकृतिक दृष्टि से भी काव्य म शृ गार की जितनी विपुलता है करुण का वर्णन
उतना ही कम मिलता है।

इसके विपरीत करुणा अपने लिंग के अनुरूप समात्मभाव से पूर्ण एक
सास्कृतिक भाव है। वह करुण के समान व्यक्तिवाद और अहकार पर आश्रित
नही है, वरन् पारस्परिक समात्मभाव के साम्य पर निर्भर है। वस्तुत शोक
इस करुणा का स्थायीभाव नही वरन् केवल एक अवसर भी नही है। दुख
पीडा, क्षति हानि वियोग रोग आदि के अनेक अप्रिय अवसर इसके निमित बन
सकते है। समात्मभाव की साम्यपूर्ण स्थिति म जीवन और काव्य मे ये करुणा

सम्पन्न होती है, जैसा कि हम पीछे सकेत कर चुके है । उस साम्य का सास्कृतिक भाव वेदना के मूल पर करुणा के ग्राद्र ग्रौर मधुर कुसुमो की सजा रचता है। करुणा की यह स्निग्ध सजा मानव विषमताग्रो से ग्रातकित ग्रौर ग्रनेक कटुताग्रो से कलुषित जीवन को वैजयन्ती है । ग्रप्रिय भाव का ग्रवसर समात्मभाव से प्रभावित पात्रो के ग्रहकारो को मन्द कर करुणा के उदार भाव मे हृदयो का सामजस्य रचना है । समात्मभाव का साम्य हृदय का एक युक्त ग्रौर उच्च भाव है । यह प्रकृतिवाद के ग्रहकार ग्रौर दम्भ के विपरीत है । इनमे दुराव ग्रौर सकोच ग्रधिक रहता है । समात्मभाव का उदार भाव वस्तुत रस के समस्त रूपो का सामान्य ग्राधार है किन्तु करुणा का यह विशेष स्थायी भाव है। इसी कारण सभी रसो मे करुणा का कुछ ग्रश ग्रनुस्यूत रहता है ।

ऐसी स्थिति म व्यक्तिगत शोक के ग्रप्रियभाव पर ग्राश्रित करुण को रस सिद्ध करना कठिन है । साधारणीकरण के ग्रभिव्यक्तिवाद ग्रौर तादात्म्य के समथको न करुण रस के उदाहरणो के द्वारा ग्रपन सिद्धा तो का विवरण ग्रौर प्रतिपादन नही किया । ऐसे प्रयत्न म करुण रस के प्राकृतिक ग्रौर व्यक्तिगत आधार की ग्रसगतिया ग्रनावृत हो जाती है । वस्तुत भाव ग्रौर रस का भेद करुण के प्रसग मे ही स्पष्ट होता है । करुण का व्यक्तिगत भाव ग्रप्रिय ग्रौर दुखमय है । समात्मभाव से युक्त होकर वह करुणा के ग्रपूर्व रस को जन्म देता है । करुण के स्थान पर इसे करुणा कहना ही ग्रधिक समीचीन है ।

करुणा के भाव ग्रौर रस की ग्राद्रता हृदयगत चेतना की सरलता मे व्यक्त होती है । प्राकृतिक ग्रनुभाव की दृष्टि से यह गीली ग्राखो के ग्रश्रुकणों म साकार होती है । ग्रासू करुणा का सफल ग्रौर साकार काव्य है । सामान्यत लोगो की यह धारणा है कि ग्रासू हमारे दुख के प्रतीक है । ग्रासू के रूप म मानो हमारा दुख ही द्रवित होकर बहता है । यह धारणा सामान्य जनो की ही नही वरन् कवियो और विचारको की भी है । जयशकर प्रसाद के ग्रासू का परिचय छन्द इसी धारणा के ग्रनुकूल है —

जो घनीभूत पीडा थी मस्तक म स्मृति सी छाई।
दुर्दिन मे ग्रासू बनकर वह ग्राज बरसने ग्राई ।।

इसमे सदेह नही कि प्राय आसू का सम्ब ध दुख से होता है । लोग दुख म रोत हैं । कि तु प्राय प्रेम और हप के अश्रुओ की चर्चा भी सुनी जाती है । ऐसी स्थिति मे प्रश्न उठता है कि वस्तुत अश्रुओ का स्रोत क्या है ? शरीर विज्ञान की दृष्टि स आसूआ का प्रसव एक उत्क्षेप क्रिया है, जो सहज भाव से सम्पन्न होती है । हम उस कठिनाई से ही रोक पाते हैं । रोकने का प्रयत्न करने पर भी आसू छलक आती हैं । कि तु यह निश्चित करना है कि अश्रु प्रसव के अनुभाव का सम्ब ध मन के किस भाव से है । यह भी सम्भव हो सकना है कि सुख और दुख दोनो क अनुभाव से प्राकृतिक अनुभाव का सम्ब ध हो । तब इन दोनो प्रकार के अश्रुआ का सम्ब ध दो भिन्न प्रकार के भावो से होगा और बाह्य रूप से एक प्रतीत होत हुए भी इ ह आ तरिक रूप से भिन्न मानना होगा । ऐसा कम्प आदि और भी मनोभावा के सम्ब ध म होता है । हम क्रोध और भय दोनो म कापत है । आ तरिक भाव के आधार पर ही कम्प क अनुभाव का सम्ब ध निश्चित किया जाता है ।

हमार मत म आसुओ का सम्ब ध केवल सुख अथवा दुख से नही है । इसका आशय यह है कि सुख दुख के प्राकृतिक और व्यक्तिनिष्ठ भाव ही आसुओ के प्रवाह के लिए पर्याप्त आधार नही हैं, यद्यपि इनका आधार आवश्यक है । आसुओ के सम्ब ध म एक अद्भुत तथ्य यह है कि व हमारे सुख और दुख दोनो के साथी हैं । अत इन दोनो स्थितियो म उनका कोई सामा य आधार खोजना होगा । हमारे मत म समात्मभाव की करुणा इन दोनो स्थितिया म आसुओ का सामा य आधार है । व्यक्तित्व की इकाई के एका तभाव मे सुख और दुख दोनो स्थितियो म से किसी मे भी आसुओ का उद्गम नही होता । कोई भी मनुष्य अपने व्यक्तिगत अनुभव से तथा दूसरो को देखकर इस तथ्य की परीक्षा कर सकता है । सुख और दुख के एका त अनुभव म आसुओ का प्रवाह नही होता । यह जीवन का एक अद्भुत कि तु यथाथ सत्य है । हास्य के सम्ब ध म भी कदाचित् यही सत्य है ।

व्यक्तिगतभाव प्रधान होने के कारण पशुओ म अश्रु और हास्य दोनो ही दुलभ होते है । हास्य का तो उनम एका त अभाव है । हास्य आत्मा का भावात्मक उल्लास है । पशुओ मे इसके योग्य चेतना का विकास नही हुआ

है। सुख के साम्य की अपेक्षा दुख या समात्मभाव कदाचित पशुओं में अधिक है। कुरगी आदि कुछ पशुओं में रुदन या आसू माना जाता है तथा अश्रु का प्रवाह भी कुछ पशुओं में दिखाई देता है। किन्तु मनुष्य के अश्रु, हास्य पशुओं से कहीं अधिक समृद्ध और भाव सम्पन्न है। इसका कारण मनुष्यों में चेतना का विकास और समात्मभाव की सम्भावना की वृद्धि है। समात्मभाव प्राकृतिक व्यक्तित्व की इकाई के एकान्त से भिन्न एकाधिक हृदयों का भावपूर्ण साम्य है। इस समात्मभाव की स्थिति में ही अश्रु और हास्य व्यक्त होते हैं। ये दोनों ही व्यक्तित्व के एकान्त में सम्भव नहीं होते। प्रत्यक्ष जीवन के अनेक उदाहरण इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए दिये जा सकते हैं। एकान्त से अभिप्राय यहां केवल मनुष्य की सत्ता के एकान्त से नहीं, किन्तु भाव के अकेलेपन से है। अकेला होते हुए भी मनुष्य दूसरों के साथ कल्पना का समात्मभाव स्थापित कर सकता है अथवा आज के मानव की भांति दूसरों के साथ रहते हुए भी मन से अपने को अकेला अनुभव कर सकता है। भाव के क्षेत्र में साक्षात् और काल्पनिक दोनों प्रकार के समात्मभाव का फल बहुत कुछ समान होता है। एकान्त और समात्मभाव के इन दोनों रूपों का विवेक करने पर अश्रु और हास्य का विश्लेषण अधिक यथार्थता के साथ किया जा सकता है।

समात्मभाव आत्मा का भाव है जो साक्षात् और काल्पनिक दोनों ही रूपों में जीवन में आयु के साथ यौवन पर्यन्त बढ़ता है। आरम्भ में शिशु के जीवन में प्राकृतिक व्यक्तिभाव ही अधिक होता है, और मातभाव से मिलने वाले समात्मभाव की चेतना उसमें बहुत मन्द होती है। जन्म के समय जब बालक रोता है तो कदाचित उसके आसू नहीं बहते। दूसरे आंसुओं का सम्बन्ध सर्वदा भाव से नहीं होता धुएं से भी आंखों में आंसू आ जाते हैं। यहां केवल भावयुक्त अश्रु का प्रसंग है और प्रश्न यह है कि वे किस भाव के अनुभाव हैं। जन्म के बाद बाल्यकाल में प्राय बालक बहुत रोते हैं, किन्तु उनके रुदन में चीत्कार अधिक और अश्रु कम होते हैं। अश्रुओं का उदय भाव के विकास के साथ अधिक होता है और इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि एकान्त में यह अश्रु बहुत कम आते हैं। प्राय यह देखा जाता है कि कभी कोई बालक गिर जाता है तो जब वह अकेला होता है तब दुख होते पर भी नहीं रोता। किन्तु किसी दूसरे व्यक्ति के देखने पर रोने लगता है। ऐसी स्थिति में आकांक्षा के

काल्पनिक समात्मभाव अथवा अनुभूति के साक्षात् समात्मभाव के मम से ही ये अश्रु प्रवाहित होते हैं। बडो मे भी दुख, शोक आदि के समय सत्ता अथवा भाव की एकात स्थिति म आसू नही बहते। दूसरो के मिलन पर समात्मभाव की स्थिति मे व प्रवाहित होते है। घर मे मृत्युशोक होने पर प्राय लोग एक दूसर को देखकर और मिलकर रोते है। बाहर से जब कोई मिलने के लिए आता है तो शोक म स्तब्ध और चुपचाप बैठे हुए स्त्री पुरुषो के हृदय म अश्रु और रुदन क ज्वार उमड उठते हैं। प्राय कहा जाता है कि स्त्रिया के आसू बहुत होत ह। यह सत्य है और इसका कारण यह है कि उनम समात्मभाव की सम्भावना अधिक होती है। पुरुष मे व्यक्तिसत्ता और अहकार का प्राकृतिक भाव अधिक है।

अत उनमे समात्मभाव और अश्रुओ की सम्भावना अपेक्षाकृत कम होती है। बालको मे कदाचित् स्त्रियो से भी अधिक आसू होते है। इसका कारण उनकी असहाय स्थिति से उत्पन्न समात्मभाव की तीव्र आकाक्षा है। आकाक्षा काल्पनिक समात्मभाव का ही एक रूप है। कल्पना आत्मभाव की स्थापना की एक प्रबल शक्ति है। साक्षात् समात्मभाव म भी उसका आ तरिक योग होता है। अस्तु समात्मभाव की करुणा ही आसुओ म प्रवाहित होती है। जब हम बाह्य दृष्टि से अकेले होने पर अश्रु बहात हैं तो हम मन से अकेल नही होते। स्मृति अथवा कल्पना के द्वारा मन मे उपस्थित किसी प्रियजन के साथ समात्मभाव होने पर ही एका त मे हमारे आसू बहत हैं। टैनीसन की एक प्रसिद्ध कविता म युद्ध म वीरगति पाये हुए एक सैनिक की शोक से स्त ध पत्नी का वणन है, जो शोक से विजडित होने के कारण न रोती ह और न आंसू बहाती है। अनेक स्त्री पुरुषो से घिरी हुई यह महिला अपने दुख मे मन से अकेली हैं। समात्मभाव का अभाव होने के कारण उसके आसू नही बहते। एक वृद्धा उठकर उसके एक मात्र शिशु को उनकी गोद मे बिठा देती हैं। पुत्र को देखते ही उसके आसू उमड पडते हैं। पुत्र के प्रति समात्मभाव की स्थिति होने पर ही यह आसू उमडत हैं।

हमने पीछे कई बार सकेत किया है कि दुख मे अहकारो के म द होने के कारण समात्मभाव के उदय की समावना अधिक होती है। हप और सुख के

अवसरों पर भी स्मृति और कल्पना से प्रस्तुत किसी गूढ़ वेदना का सूत्र बना रहता है और वह समात्मभाव का निमित्त बनकर अश्रु प्रवाह को प्रेरित करता है। विदा और मिलन के अवसर ऐसे ही कल्पना से गर्भित हर्ष के अवसर होते हैं। अतः करुणा के आंसू उनमें अधिक उमड़ते हैं। करुणा का यही रहस्य शाकुन्तल के श्लोक चतुष्टय को श्रेष्ठ काव्य बनाता है। करुणा के इन्हीं अश्रुओं से आकुल शकुन्तला के चरण मार्ग में ठीक नहीं पड़ते। करुणा के इन्हीं अश्रुओं से नेत्र आकुल होने के कारण पार्वती की माता मैना उनके हाथ में कंगन ठीक नहीं बांध सकी। कवितावली के 'पुरतें निकसी रघुबीर बधू' के प्रसंग में 'तिय की लखि आतुरता पिय की अंखियां अतिचारु चलीं जल च्वै'। सुदामा का स्वागत करते समय श्रीकृष्ण ने पानी परात को हाथ छुओ नहीं, नैनन के जल सों पग धोये। शकुन्तला मैना, राम और कृष्ण के ये आंसू समात्मभाव की करुणा के ही प्रवाह हैं। बाह्य दृष्टि से भी ये एकान्त की स्थिति में प्रवाहित नहीं होते किन्तु एकान्त में भी जब हम रोते हैं तो मन से अकेले नहीं होते। स्मृति और कल्पना के द्वारा स्थापित समात्मभाव ही हमारे आंसुओं को प्रेरित करता है। दुःख और वेदना के अवसर तथा उनकी सम्भावना आशंका स्मृति एवं कल्पना प्रायः इस समात्मभाव के मूल में रहती है। शुद्ध सुख की अवस्था में आंसुओं की कल्पना कठिन है। सुख और हर्ष में दुःख और वेदना का सूत्र रहने पर ही अश्रु प्रवाह सम्भव होता है। किन्तु व्यक्तिगत एकान्त की स्थिति में अश्रुओं का उद्गम सम्भव नहीं है।

समात्मभाव की करुणा ही जीवन और काव्य में अश्रुओं का मूल स्रोत है। शोक के स्थायीभाव पर आश्रित काव्य के करुण रस में आंसुओं का अवकाश नहीं है। जीवन और काव्य दोनों में शोक के साथ जहां समात्मभाव की करुणा का उद्गम हुआ है वहीं अश्रुओं का प्रवाह सम्भव हो सका है। अश्रुओं का यह प्रवाह करुणा का मर्मस्पर्शी काव्य है। समात्मभाव से प्रसूत होने के कारण आंसुओं के बिन्दु अत्यन्त सरलता और शीघ्रता से हमारे मन में समात्मभाव की उद्भावना करते हैं। हास्य माधुर्य का सबसे सुन्दर काव्य है और अश्रु करुणा का सबसे अधिक मर्मस्पर्शी छन्द है। दुःख और शोक जीवन के अप्रिय भावों में प्रमुख हैं किन्तु इनके अतिरिक्त भय आदि अनेक अप्रियभाव जीवन में मिलते हैं। ये सभी अप्रिय भाव आश्रय के गौरव को हीन बनाते हैं। यह हीनता कभी आश्रय के

साथ (जैसे भय मे) तथा कभी विषय के साथ रहती है (जैसे क्रोध मे), दोनों ही स्थितियो मे यह हीनता जीवन के गौरव को आघात पहुचाती है और इसे हम व्यापक रूप म दुख का कारण मान सकते हैं।

दुख के सूत्र से ये सभी अप्रियभाव समात्मभाव को करुणा के आधार बन जाते हैं। इसी दृष्टिकोण से हमने रस विभाजन के प्रसग मे शोक, भय, जुगुप्सा आदि के अप्रिय भावो से सम्बद्ध रस को करुणा के व्यापक रस के अ तगत माना है। दुख अथवा वेदना से गर्भित समात्मभाव इस व्यापक करुणा का मूल स्रोत है। शोक भय आदि के निमित्तो के अनुसार हम इस करुणा के उपभेद कर सकते हैं। करुणा के उदार भाव से अप्रिय भावो का सम्ब ध न समझने के कारण ही भयानक वीभत्स आदि रसो की आदरपूर्ण स्थापना काव्य मे नही हो सकी, यद्यपि काव्यशास्त्र मे रसो के अ तगत इनकी गणना होती रही। मनुष्य समाज मे भी करुणा का यह व्यापक समात्मभाव इतना गम्भीर और उदार नही रहा कि इन अप्रिय भावो को अपनी परिधि म समेटता। यहा यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इन अप्रिय भावो क प्रसग म उदित होने वाले समात्मभाव का फल जीवन और काव्य म समान नही होता। साक्षात् जीवन मे यह समात्मभाव अप्रिय भावो की सम्भावना को कम करने मे प्रवृत्त होता है। इस प्रकार यह जीवन के श्रेय का पथ प्रशस्त करता है। लोक और कवियो के मानस मे श्रेय का यह मम स्पष्ट न होने के कारण इस दिशा मे जीवन और काव्य की प्रगति न हो सकी।

अप्रिय भावो के अतिरिक्त श्रृगार वात्सल्य भक्ति आदि के प्रिय भावो के प्रसग म भी करुणा का उदय सम्भव है। शुद्ध सुख जीवन मे दुलभ है। स्मृति, कल्पना, सम्भावना आदि के रूप मे सुख मे दुख का सम्पुट प्राय रहता है। सुख मे दुख का यह सम्पुट समात्मभाव को वेदना से गर्भित बनाकर करुणा को अवसर प्रदान करता है। श्रृगार, वात्सल्य, भक्ति आदि रसो मे विप्रलम्भ की करुणा काव्य म विपुलता से मिलती है। श्रृगार का विरह वणन सस्कृत और हिदी के काव्य के अत्य त हृदयग्राही प्रसग हं। मीरा के काव्य मे भक्ति की करुणा प्रवाहित हुई है। गोपिया की भक्ति मे प्रवाहित करुणा की कालि दी का अवगाहन कठिन है। महादेवी के काव्य म दिव्य वदना की करुणा अध्यात्म के रूप

की स्थिति मे करुणा का सास्कृतिक रस बनने पर वह जीवन और काव्य दोनो का व्यापक रस बन जाता है। करुणा का यह भाव सहानुभूति और दया से भी भिन्न है। इनमे व्यक्तियो के अन्तगत श्रेष्ठता और हीनता का भेद रहता है। करुणा का भाव समात्मभाव के साम्य पर आश्रित है। इसी साम्य के कारण वह अप्रिय भावो के आश्रय और विषय दोनो मे सम्भव होता है। वस्तुत वह दोनो के साम्य मे ही सम्पन्न होता है।

—∞—

मे प्रतिष्ठित हुई है। वात्सल्य के क्षेत्र मे प्रिय प्रवास का यशोदा विलाप इसका एक उदाहरण है। कवितावली के 'पुरते निकिसी रघुवीर वधू' प्रसग वाले दो छन्द सयोग श्र गार म गम्भीर और कोमल करुणा के दुलभ उदाहरण हैं। भक्ति और वात्सल्य मे भी ऐसे अद्वैत के उदाहरण मिल सकते है। भारतीय आस्था के क्षेत्र म अद्वैत की प्रतिष्ठा करने वाले आचाय शकराचाय के निम्न वचन की करुणा उनके दशन के समान ही गम्भीर है —

'सत्यपिभेदापग नाथ तवाह न मामकीनस्त्वम्'।

हमने करुणा के भाव को जीवन और काव्य का सबसे अधिक व्यापक भाव माना है। इसका कारण जीवन म दुख की विपुलता है। ऊपर हम इसका निदशन कर चुके हैं कि किस प्रकार करुणा का भाव जीवन मे अनेक अप्रिय भावा से तथा श्र गार, वात्सल्य, भक्ति आदि के प्रिय भावा से सम्ब ध रखता है। किन्तु कदाचित् करुणा का भाव सवव्यापक नही है, क्योकि जीवन पूणत दुखमय नही है।

बुद्ध तथा अ य दाशनिको का सव दुखम् एक अतिरजना है। जीवन म सुख और आन द के अवसर भी आते हैं। वेदा त के अनुसार 'सव आन द' की सम्भावना सत्य का अधिक सही सकेत है। कम से कम आशा और लक्ष्य के रूप मे सुख और आन द जीवन के असदिग्ध सत्य है इस प्रकार से करुणा भी इसी लक्ष्य का माग है। किन्तु हम सवदा इस माग पर चलते ही नही रहते। इस माग मे हष और सृजन के विश्रामदायक तीथ भी आते हैं। श्र गार वात्सल्य, भक्ति आादि के हष और उल्लासपूर्ण रूप ऐसे ही पुण्य तीर्थ हैं। करुणा की व्यापकता मे ओज और हास्य के अपवाद अधिक स्पष्ट हैं। करुणा ओज की प्रेरक हो सकती है किन्तु ओज म करुणा की सगति नही है। हास्य का उल्लास करुणा की आद्रता से स्पष्टत भि न है। किन्तु अपवादो को छोडकर भी करुणा का भाव बहुत व्यापक सिद्ध होता है। करुणा का यह रूप प्रसिद्ध करुण के शोकाश्रित करुण से कितना भिन्न है यह रस विवेचन के अ त मे व्याख्या की अपेक्षा नही रखता। करुणा केवल काव्यशास्त्र के नवरसो मे एक है। वह भी श्र गार की भांति जीवन और काव्य का दोनो रस नही हैं। वह केवल काव्य का रस है। काव्य म भी सम्भवत वह केवल प्राकृतिक रस है। समारम्भाव

की स्थिति मे करुणा का सास्कृतिक रस बनने पर वह जीवन ग्रौर काव्य दोनो का व्यापक रस बन जाता है। करुणा का यह भाव सहानुभूति ग्रौर दया से भी भिन्न है। इनमे व्यक्तियो के ग्रन्तगत श्रेष्ठता ग्रौर हीनता का भेद रहता हैं। करुणा का भाव समात्मभाव के साम्य पर ग्राश्रित है। इसी साम्य के कारण वह ग्रप्रिय भावो के ग्राश्रय ग्रौर विषय दोनो मे सम्भव होता है। वस्तुत वह दोनो के साम्य मे ही सम्पन्न होता है।

—००—

अध्याय-१२

रस और मनोविज्ञान

काव्य का रस अनुभव मूलक रस है। अनुभव चेतना की आन्तरिक अभिव्यक्ति है यद्यपि उसके उत्प्रेरक उपकरण बाह्य जगत में हो सकते हैं। अनुभव की सचेतन सम्पत्ति को प्राय मन की विभूति माना जाता है। चेतना के आन्तरिक आश्रयों के लिए भारतीय दर्शन में मन चित्त, अन्तःकरण आदि का प्रयोग होता है। दर्शन में इन सब में कुछ सूक्ष्म विवेक किया जाता है। किन्तु सामान्यतः साहित्य और व्यवहार दोनों में चेतना के आन्तरिक आश्रय के लिए 'मन' का प्रयोग होता है। दर्शनों में आत्मा को चेतना का मूल स्रोत मानते हैं। मन आदि सब उसी की ज्योति से विभासित है। किन्तु साधारण प्रयोग में मन को ही अनुभूतियों का आश्रय माना जाता है। दर्शनों का 'मन' एक विशेष तत्व है जिसके कुछ विशेष लक्षण हैं। दर्शन के अतिरिक्त सामान्य व्यवहार में इस सीमित अर्थ में मन का प्रयोग नहीं किया जाता वरन् चेतना के व्यापक आश्रय के रूप में किया जाता है। मन का यह व्यापक अर्थ मनोविज्ञान के अनुरूप है। आधुनिक मनोविज्ञान भी चेतना का एक व्यापक आश्रय देकर व्यवहार के एक व्यापक प्रेरणा स्रोत के रूप में मन का अध्ययन करता है।

अनुभूति का व्यापक आश्रय मानने पर मन का सम्बन्ध काव्य के रस से अनिवार्य रूप से हो जाता है क्योंकि काव्य का रस अनुभूति मूलक रस है। दार्शनिक दृष्टि से चाहे अनुभूति मूलतः आत्मा पर आश्रित हो, किन्तु सामान्यतः वह मन का ही धर्म मानी जाती है। अनुभूति अथवा चेतना के अतिरिक्त मन हमारे जीवन की वासनाओं प्रवृत्तियों, प्रेरणाओं आदि का भी अधिष्ठान है - मनुष्य के आन्तरिक भाव, भावना, विचार आदि भी मन में ही रहते हैं। सामान्य रूप में मन अनुभूतियों और प्रवृत्तियों का आश्रय है। इस प्रकार मन का रस से सामान्य सम्बन्ध है। काव्यशास्त्र में जो रस विधान किया गया है

उसमे स्थायीभावो सचारी भावो आदि के अ तगत मन के भावो का समावेश है। अत विशेष प्रसगो मे भी काव्य के रस का मन से सम्ब ध है।

इसी सम्ब ध के आधार पर आधुनिक आलोचको ने रस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करन का प्रयत्न किया हैं तथा मनोविज्ञान के आधार पर काव्य के रस की व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं। हि दी क माध्यम से रस की कोई ऐसी मनो वैज्ञानिक व्याख्या देखने म नही आई। आचाय रामच द्र शुक्ल न विशष रूप से रस के कुछ मनोवैज्ञानिक पक्षों का विश्लेषण किया हैं जो उनकी चि तामणि तथा रस मीमासा मे मिलता हैं। कि तु आचाय शुक्ल न न तो रस के समस्त प्रकरणो का मनोविज्ञान की दृष्टि स विवेचन किया है और आधुनिक मनोविज्ञान की भाव सम्ब धी समस्त पृष्ठभूमि म रस के प्रश्न को परखने का प्रयत्न किया है। आधुनिक मनोविज्ञान म उनकी अधिक अभिरुचि नही थी कदाचित् उनके समय तक मनोविज्ञान का अधिक चलन भी नही था। आधुनिक पश्चिमी आलोचना के दृष्टिकोण को उ होने अपनी साहित्य आलोचना म अवश्य ध्यान मे रखा है। कि तु उसका भी उ होने अनुकरण नही किया है। आधुनिक युग मे आलोचना को वज्ञानिक कि तु भारतीय दृष्टिकोण प्रदान करन के लिए हिन्दी जगत आचाय शुक्ल जी का सदा आभारी रहगा।

आधुनिक मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से रस की मीमासा कुछ अग्रेजी माध्यम से लिखे गये ग्र थो म अवश्य देखने म आई है। इनम अमलायी नगर के पच पगे शास्त्री का काव्य' के रस का दाशनिक विवेचन' कदाचित् सबसे प्रथम है। श्री शास्त्री का ग्र थ उन्नीस सो चालीस म प्रकाशित हुआ है। दूसरा ग्र थ डा० राकेश गुप्त द्वारा प्रयाग विश्वविद्यालय मे प्रस्तुत शोधग्र थ के नाम से अग्रेजी म उन्नीस सो पचास म प्रकाशित हुआ है। डा० राकेश गुप्त ने मनोविज्ञान के परिचित पाठय ग्र थो के आधार पर रस का यथासम्भव सूक्ष्म और गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। डा० राकेश गुप्त ने अपने लघु ग्र थ मे महान् दप के साथ काव्य की परिभाषा और रस के लक्षण के सम्ब ध मे अपने मौलिक मत दिये। काव्यशास्त्र व मनोविज्ञान के अत्य त सीमित ज्ञान पर आश्रित डा० राकेश गुप्त का अपने मौलिक मतो के सम्ब ध म असीमित दप उनके ग्र थ की एक आश्चयजनक विशेषता है। अग्रेजी मे प्रकाशित होने के कारण उनका ग्र थ कदाचित् हि दी पाठको को अधिक सुलभ नही हो सका। कदाचित् इसी

कारण उनके ग्रंथ के प्रकाशन के दस वर्ष में भी हिंदी आलोचना उनके मौलिक मतों से प्रभावित नहीं हुई। डा० राकेश गुप्त के मतों की आलोचना के लिए उन्हीं के समान ज्ञान से अधिक दर्प अपेक्षित है।

अतः वह हमें अभीष्ट नहीं है। हम इस अध्याय में आधुनिक मनोविज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों के प्रकाश में रस और मनोविज्ञान के सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न करेंगे। वस्तुतः हमारा उद्देश्य रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या नहीं है वरन् हमारा अभिप्राय इस प्रश्न से अधिक है कि रस के स्वरूप की व्याख्या में मनोविज्ञान की कहां तक गति है। डा० राकेश गुप्त ने रस का जो मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है उसमें प्राचीन मतों का आलोचन और खण्डन अधिक है। उन्हें अपनी मौलिक स्थापनाओं पर बहुत दर्प है किन्तु वस्तुतः वे स्थापनायें न इतनी मौलिक और महत्वपूर्ण हैं और न उन्होंने उन स्थापनाओं को उस विस्तृत विश्लेषण के साथ प्रतिष्ठित किया है जिसके साथ कि उन्होंने प्राचीन मतों का खण्डन किया है।

रस के जिन दो मनोवैज्ञानिक अध्ययनों का उल्लेख हमने ऊपर किया है उनमें मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रस के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण स्थापना यह की गई है कि काव्य का रस पूर्णतः लौकिक है उसमें कोई अलौकिक और आध्यात्मिक तत्व नहीं है। भारतीय आचार्यों के रस सम्बन्धी सिद्धान्तों में जो अलौकिक तत्व पाये जाते हैं उनका खण्डन डा० राकेश गुप्त ने बड़ी कठोरता और सूक्ष्मता के साथ किया है। उनके मत में काव्य का रस एक पूर्णतः लौकिक जनों की अनुभूति की परिधि के अन्तर्गत है। उसमें कोई ऐसा अतीन्द्रीय और अलौकिक तत्व नहीं जैसा कि कुछ प्राचीन आचार्य मानते रहे हैं। डा० राकेश गुप्त का विश्वास है कि आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर पूर्ण सफलता के साथ रस की व्याख्या की जा सकती है। वस्तुतः उनके मत में उनका ग्रंथ रस की ऐसी ही व्याख्या है। डा० राकेश गुप्त ने यह स्पष्ट नहीं किया कि क्या वे लौकिक को प्राकृतिक का पर्याय मानते हैं और क्या उनके मत में काव्य का रस एक पूर्णतः प्राकृतिक अनुभव है। इसके लिए प्रकृति की परिभाषा भी करनी होगी।

हमने पिछले अध्यायों में प्रकृति की अत्यंत स्पष्ट परिभाषा के आधार पर काव्य में रस का विवेचन किया है। किन्तु जिस प्रकार डा० राकेश गुप्त ने रस का मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है उससे यही विदित होता है कि व काव्य में रस को लौकिक अनुभव ही नहीं वरन् प्राकृतिक अनुभव ही मानते हैं। मनो-विज्ञान एक प्राकृतिक विज्ञान है। वह मनुष्य के स्वभाव, उसकी प्रवृत्ति और उसके अनुभव का अध्ययन प्राकृतिक दृष्टिकोण से ही करता है। अतः मनोविज्ञान में आस्था लेकर रस का विवेचन रस को लौकिक ही नहीं वरन् प्राकृतिक अनुभव मानकर हो यह अत्यन्त स्वाभाविक है। हमारे विचार से लौकिक का अर्थ केवल इतना ही है कि कोई वस्तु लोक जीवन में सामान्यतः सर्वजनों को सुलभ हो तथा वह इतनी रहस्यमय न हो कि सामान्यतः उसे समझा न जा सके, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जो लौकिक हो वह पूर्णतः प्राकृतिक हो। प्रकृति के अन्य लक्षणों के साथ एक प्रमुख लक्षण जो रस के प्रसंग में ध्यान रखने योग्य है वह प्रकृति की व्यक्तिनिष्ठता है। प्रकृति व्यक्ति में केन्द्रित रहती है। मनुष्य में भी अनुभूति और प्रवृत्ति की व्यक्तिनिष्ठता के रूप में प्रकृति विद्यमान है। कारणनिष्ठता और पराधीनता प्रकृति के दो अन्य लक्षण हैं। विचारणीय बात यह है कि क्या काव्य का रसास्वादन प्राकृतिक के अर्थ में पूर्णतः लौकिक है। हम पिछले अध्यायों की भूमिका में इस प्रश्न का विवेचन और काव्य के रस में मनोविज्ञान की गति का अनुसंधान करेंगे।

मनोविज्ञान एक प्राकृतिक विज्ञान है। वह मनुष्य के व्यक्तित्व को प्राकृतिक मान कर उसके स्वरूप और विकास का अध्ययन करता है। प्रकृति का सामान्य लक्षण यह है कि कुछ नैसर्गिक नियमों से शासित है। उसमें स्वतन्त्रता के लिए अवकाश नहीं है। मनुष्य के व्यक्तित्व में प्रकृति के इस रूपमें चेतना का संगम हुआ है। व्यक्तित्व में केन्द्रित यह चेतना अहंकार के रूप में प्रकट होती है। शारीरिक दृष्टि से इस व्यक्तित्व का विकास आदान के द्वारा होता है। व्यक्तित्व के संगठन और विकास की दृष्टि से यह आदान सजीव प्रकृति का एक लक्षण बन गया है। इस प्रकार प्रकृति के तीन मुख्य लक्षण हैं। अहंकार में केन्द्रित मनुष्य की चेतना प्राकृतिक प्रभाव के क्षेत्र में इन लक्षणों के अनुसार विकसित होती है। मनुष्य के जीवन में इन लक्षणों की अभिव्यक्ति शारीरिक प्रवृत्तियों के रूप में भी होती है। बालक के जीवन में अहंकार और चेतना का विकास तो

धीरे धीरे होता है, किन्तु प्राकृतिक नियम, आदान और इकाई के सगठन के रूप म उसकी अभिव्यक्ति प्रारम्भ से ही होती हैं। उसकी प्रवत्तिया सहज रूप म इसी दिशा म होती है। धीरे धीरे इन प्रवृत्तियो के अनुरूप चेतना का भी विकास होता जाता है। अचेतन और सचेतन रूप म प्रवृत्ति के उक्त लक्षणो से युक्त प्रवत्तियो द्वारा सचालित जीवन ही प्राकृतिक जीवन है।

मनोविज्ञान मे इन प्रवत्तियो का वर्गीकरण अनेक रूप मे किया जाता है। कि तु कुछ प्रमुख प्रवत्तिया के विषय म अधिकाश मनोवैज्ञानिक एकमत है। काम, अहकार भय, क्रोध आदि कुछ ऐसी प्रवतिया म, जो सामा य रूप से मनोविज्ञान मे मा य हैं। मनुष्य के जीवन म प्रवतिया सहज रूप मे काम करती हैं इसी लिए प्राय इ हें सहज प्रवृतियो का नाम दिया जाता है। ये सहज प्रवत्तिया बालक मे भी वासना के रूप मे विद्यमान रहती हैं। अवसर पर ये सक्रिय और जागृत होती हैं। इनका जागृत रूप प्राय एक तीव्र आ तरिक चेतना और असाधारण प्राणिक उद्वेग के रूप म प्रकट होता है। जागृत प्रवत्ति के इन दोना पक्षो को मिलाकर सम्वेग का नाम दिया जाता है। प्रवत्तियो का यह समस्त क्रम प्रकृति के नियमो और लक्षणो के अनुसार हाता है। इन लक्षणो मे नियम और आदान के अतिरिक्त व्यक्तिवाद के अहकार का अतिक्रमण सम्भव नही है। अत जीवन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या पूणत स्वाथ और अहकार के अनुकूल होती है। पश्चिमी विचार मे सस्कृति की व्याख्या भी बहुत कुछ इसी प्रकृतिवादी दृष्टिकोण से की गई है। पश्चिम के बुद्धिवादी दशन और ईश्वरवादी धम म भी बहुत कुछ इसका प्रभाव दिखाई देता है। निर्वैयक्तिक धारणाओ मे अहकार का अतिक्रमण सम्भव है। कि तु किसी भी रूप म और किसी भी कारण से प्रकृति के अनुरोध का प्रभाव रहने पर बुद्धि का यह प्रयत्न पूणत सफल नही होता। वेदा त दशन के अनुरूप आत्मा की प्रतिष्ठानें ही प्रकृति और अहकार के अतिक्रमण की यह साधान पूण होती है। वेदा त के अध्यात्म लोक मे इसी सत्य का स्वत त्र प्रकाश है। सास्कृतिक समात्मभाव मे आत्मा का यह दि य प्रकाश लोक जीवन का दीपालोक बन जाता है। इस समात्मभाव म प्रकृति का निषेध नही होता वरन् आत्म भाव के साथ सम वय के द्वारा एक उसकी मर्यादा हाती है और उसका उन्नयन हाना है। इस समात्मभाव मे ही कला और सस्कृति का सौ दय प्रकाशित होता है।

यह समात्मभाव मूलतः आत्मा का ही भाव है, जो प्रकृति के साथ समन्वय के द्वारा जीवन में घटित होता है। मनोविज्ञान के पूर्णतः प्राकृतिक क्षेत्र में आत्मा के उस रूप के लिए कोई स्थान नहीं है, जिस रूप का प्रतिपादन वेदान्त में किया गया है। इसीलिए जीवन और संस्कृति की मनोवैज्ञानिक व्याख्यायें पूर्णतः प्राकृतिक हैं। मनुष्य की प्राकृतियां ही मुख्य रूप से इन व्याख्याओं का आधार हैं, किन्तु मनोविज्ञान के केवल प्राकृतिक आधार पर मनुष्य जीवन और उसकी संस्कृति की समीचीन व्याख्या नहीं की जा सकती। वेदान्त के अनुसार आत्मा मनुष्य की सत्ता का अन्ततम मर्म है। आत्मभाव का आभास व समात्मभाव की आकांक्षा प्रत्येक मनुष्य को प्रेरित करती है, यद्यपि यह प्रेरणा यह आकांक्षा बहुत कुछ हमारी कला और संस्कृति में साकार होती है। हमारे मत में यह समात्मभाव ही कला और संस्कृति की मूल प्रेरणा है। यद्यपि कला और संस्कृति के रूपों में प्रायः प्रकृति का विशेष प्रभाव भी मिल सकता है, प्रकट रूप में व्यक्ति की साधना होने के कारण कला और काव्य में प्रकृति का प्रभाव अधिक देखने में आता है। यद्यपि समात्मभाव की अभिव्यक्ति भी उसमें बहुत कुछ परिमाण में हुई है। भारतीय संस्कृति में समात्मभाव का सम्पन्न और समृद्ध रूप मिलता है। वेदान्त की साधना में अध्यात्म का शुद्ध और स्वतन्त्र रूप प्रतिष्ठित हुआ है।

मनोविज्ञान के मत में संस्कृति और अध्यात्म का यह रूप अलौकिक और अग्राह्य है। मनोविज्ञान की गति प्राकृतिक जीवन और व्यक्तिगत के क्षेत्र तक ही है। मनोविज्ञान की धारणायें इन्हीं की परिधि में सीमित है, अतः जीवन संस्कृति और काव्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर होगी। इन सिद्धान्तों की सीमा को मानने पर सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की व्याख्या में अनेक कठिनाइयां उपस्थित होती है सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन पारस्परिक है। मनोविज्ञान के प्राकृतिक आधारों के अनुसार उसकी व्याख्या करने पर उसका वास्तविक मूल्य समाप्त हो जाता है। प्राकृतिक आधारों के अनुसार घटित होने पर समाज और संस्कृति के रूपों का अपना सौन्दर्य उपचार मात्र रह जाता है। इनका वास्तविक मूल्य अपने प्राकृतिक घटकों के समान ही रहता है। संस्कृति के समान काव्य अथवा काव्य के रस की व्याख्या भी मनोविज्ञान के अनुरूप करने पर अहंकार, व्यक्तिवाद, सहज प्रवृत्ति आदि के सिद्धान्तों

को काव्य म घटित करना होगा। इनसे भिन्न अथवा इससे ऊपर किसी तत्व को मानने पर मनोविज्ञान का अतिचार होगा।

जिस प्रकार फ्राइड के काम सिद्धान्त को मानने पर जीवन के किसी व्यवहार का अपना महत्व नही रह जाता और वह काम पर घटित होकर उसी के समान प्रकृति मूलक का बन जाता है उसी प्रकार मनोविज्ञान के प्रवृत्तिवाद, व्यक्तिवाद, नियतिवाद, आदि को मानने पर काव्य के रस और भावा का मूल्य इनसे अधिक नही रह जाता। प्रवृत्ति जीवन का एक प्रबल सत्य है। उसका प्रभाव कला, काव्य और सस्कृति म भी बहुत है। प्रश्न केवल यह है कि ये पूर्णत प्रवृत्ति के सिद्धान्तो के अनुरूप है अथवा इनमे इन प्राकृतिक तत्वा के अतिरिक्त और कोई तत्व साकार होत हैं। यदि ऐसे कोई तत्व हैं तो इनका रूप और आधार क्या है? प्रवृत्ति के साथ इन तत्वो की क्या भिन्नता अथवा समानता है? किस प्रकार ये तत्व जीवन के अनिवार्य प्राकृतिक आधार मे समवेत होकर सस्कृति और काव्य को आकार देते हैं। प्रकृति के साथ इन तत्वा का साम्य कैसे होता है तथा वह साम्य प्रवृत्ति और जीवन को किस प्रकार प्रभावित करता है। इन सब प्रश्नो का विचार करन पर ही इस बात का निर्णय हो सकता है कि काव्य के रूप और रस की व्याख्या म मनोविज्ञान की कितनी गति है तथा मनोविज्ञान की परिधि स बाहर काव्य और सस्कृति के कुछ आधार सम्भव होने पर हम उनकी व्याख्या किस प्रकार करनी होगी?

भारतीय काव्यशास्त्र म जिस प्रकार से रस का निरूपण और विभाजन किया गया है उसमे प्रवृत्ति का बहुत कुछ प्रभाव है। अत उसम मनोविज्ञान के लिए बहुत कुछ अवकाश हैं यद्यपि भारतीय चिन्तन म रस की कल्पना का आरम्भ उपनिषदो के अध्यात्मवाद से होता है। काव्यशास्त्र के आचार्य भी रस के प्रसग मे 'रसो वै स' से लक्षित आध्यात्मिक रस का स्मरण करत रहे है किन्तु अध्यात्म दर्शन की भाति तथा विश्व के समस्त काव्यशास्त्र की भाति व्यक्ति की इकाई को ही काव्य के रस का अधिष्ठान मानत रहे। व्यक्ति की इकाई प्रवृत्तिभाव का ही आधार है। जीवन अथवा काव्य की आध्यात्मिक कल्पना म भी उसका अनुपग अथवा अनुरोध रहने पर जीवन अथवा काव्य प्रवृत्ति भाव से मुक्त होकर पूर्ण अध्यात्म को नही पहुच पाता व्यवहार अथवा परिणाम म अन्तत वे

दोनों प्रवृत्ति भाव में ही घटित होते हैं। भारतीय अध्यात्मवाद और काव्य के परिणाम इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। आत्मा की प्रतिष्ठा में व्यक्ति की इकाई का आश्रय अन्ततः अध्यात्म की अप्रतिष्ठा का ही कारण बना। इसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में अध्यात्म का स्मरण करते हुए भी व्यक्तिवाद का आश्रय रस के आध्यात्मिक रूप के लिए ही नहीं वरन् सांस्कृतिक रूप के लिए भी सघातक हुआ। नाटक की परिस्थिति को लेकर सामाजिक के प्रसंग में साधारणीकरण जैसे असंगत और अभिव्यक्तिवाद जैसे प्रकृतिवादी सिद्धान्तों का उद्भावन मूलतः रस के व्यक्तिवादी आग्रह का ही परिणाम है। दूसरी ओर नाटक की परिस्थिति में रस निरूपण का आरम्भ होने के कारण प्राकृतिक मनोभावों के आधार पर रसों का विभाजन हुआ। हमने पिछले विवेचनों में कई बार यह संकेत किया है कि नाटक से काव्य एवं रस के विवेचन का आरम्भ नाटक की प्रकृति प्रधान परिस्थिति में होने के कारण बहुत कुछ सीमा तक रस का निरूपण प्रकृति के अनुरोध से प्रभावित है। यह भी कहा जा सकता है कि नाटक की स्थिति में प्रस्तावित रस का रूप और विभाजन काव्यशास्त्र के रस विवेचन में प्रकृतिवादी परम्परा के निर्वाह के लिए उत्तरदायी है।

अस्तु काव्यशास्त्र के रस निरूपण और रस विभाजन में प्राकृतिक व्यक्तिवाद का प्रभाव है। जिन स्थायी भावों के आधार पर रसों का विभाजन और निर्धारण किया गया है वे प्राकृतिक मनोभाव ही हैं। आलम्बन उद्दीपन आदि के योग से परिपक्व होकर जिस रस दशा में उनकी परिणति मानी जाती है वह उन मनोभावों के अत्यन्त निकट है जिन्हें मनोविज्ञान में सम्वेग अथवा इमोशन कहा जाता है। विभावों के साथ रस की पूर्णता में अनुभावों का योग रस को मनोविज्ञान के सम्वेग के अधिक तुल्य बनाता है। रसों में शृंगार की प्रधानता आधुनिक मनोविश्लेषण की काम वृत्ति का समर्थन करती हैं। वीर, वात्सल्य आदि के निर्वाह में अहंकार की वृत्ति का आश्रय मिलता है। अन्य रसों के मनोभाव भी मनोविज्ञान में स्वीकृत सहज प्रवृत्तियों से मिलते हैं। ऐसी स्थिति में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से काव्य के रस का अध्ययन, निरूपण और व्याख्यान बहुत कुछ सीमा तक सम्भव है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किये गये रस के आधुनिक अध्ययन नितान्त निराधार और पूर्णतः असंगत नहीं है। किन्तु काव्यशास्त्र के रस निरूपण में कुछ ऐसे तत्व भी हैं जो मनोविज्ञान की परिधि के बाहर हैं।

सत्व का उत्कर्ष और लोकोत्तर आनन्द के रूप में रस की प्रतिष्ठा इन तत्वों के प्रमुख उदाहरण हैं। शान्त और भक्ति रसो की स्थापना भी मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल नही है। पश्चिमी चिन्तन मे भक्ति का मनोविज्ञान भी मिलता है। किन्तु उसमें भक्ति का निरूपण बहुत कुछ प्राकृतिक मनोभावो की भाषा में ही किया गया है। प्रकट रूप मे भारतीय भक्ति का रूप भी बहुत कुछ प्राकृतिक मनोभावो के अनुरूप है। किन्तु दार्शनिक विश्लेषण की आध्यात्मिक स्थापनाओ मे इनका रूप प्राकृतिक मनोभावो से नितान्त भिन्न है। भक्ति के अतिरिक्त दूसरे रूपो मे भी आध्यात्मिक रस की प्रतिष्ठा भारतीय काव्य और काव्यशास्त्र मे हुई है। रस के मूल आध्यात्मिक आधार का प्रभाव भी काव्यशास्त्र मे रहा है और एक अलौकिक आध्यात्मिक रस मे सभी रसो की परिणति की कल्पना भी की गई है। साधारणीकरण और सत्व के उत्कर्ष की दिशायें इसी ओर हैं।

यद्यपि प्राकृतिक मनोभावो और अनुभावों का जहा तक रस से सम्बन्ध है वहा तक रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या सगत रूप मे की जा सकती है। किन्तु भक्ति और शान्त रस की कल्पना मे तथा अन्य रसो की आध्यात्मिक परिणति मे मनोविज्ञान का अवकाश नही है। जिन अन्य रसो मे व्यक्तिगत मनोभावो को रस का स्थायीभाव और आधार बताया गया है। उनमे भी भय क्रोध, आदि कुछ ऐसे मनोभाव हैं जो अपने प्रकट और प्राकृतिक रूप मे प्रिय नही है। *साक्षात् जीवन के अनुभव मे ये मनोभाव प्रिय अनुभवो को जन्म नही देते।* अत साक्षात जीवन मे इन्हे रसावगाही नही माना जा सकता। किन्तु काव्य मे इन्हे रस का आधार माना गया है। प्राकृतिक दृष्टिकोण से इन मनोभावो के चित्रण मे हम क्यो आकर्षण और आनन्द का अनुभव करते है। इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है। हमने पिछले अध्यायो मे ऐसी व्याख्या का प्रयत्न किया है। यहा तक बात का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है कि अप्रिय भावो के चित्रण मे हमारी रुचि मौलिक और प्राथमिक नही है। साक्षात जीवन मे वे निस्सदेह हमारे मौलिक और प्राथमिक भाव हैं। अवसर पर हम अनिवार्य रूप से इन भावो का अनुभव करते है। किन्तु फिर भी भय आदि मे हमारी रुचि आकर्षण और अभीप्सा के रूप मे नही है। रस को एक प्रिय और स्पृह-णीय अनुभव मानकर हम यह कह सकते है कि साक्षात् जीवन मे ये अप्रिय मनो-भाव रस के आधार नहा। किन्तु काव्य मे ये भी रस के आधार माने जाते हैं।

डा० राकेश गुप्ता ने 'रस के मनोवैज्ञानिक अध्ययन' में यह स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि प्रिय और स्पृहणीय अनुभव को काव्य का लक्ष्य मानना उचित नहीं है। इसी आधार पर उन्होंने काव्यशास्त्र के आचार्यों की रसवादी धारणाओं का तीव्र खण्डन किया है। उनकी धारणा है कि मनुष्य की रुचि अप्रिय भावों में भी होती है। किन्तु अप्रिय भावों में हमारी रुचि क्यों और किस रूप में होती है, इसकी व्याख्या उन्होंने नहीं की। उनका अनुरोध है कि हम दुख के वर्णनों में भी रुचि लेते हैं। यह सत्य है।

किन्तु यह अप्रिय भावों में मनुष्य की प्राकृतिक अभिरुचि को प्रमाणित नहीं करता। यदि अप्रिय और दुखद भावों में मनुष्य की प्राकृतिक अभिरुचि है तो वह साक्षात् जीवन में उन भावों से क्यों दूर रहना चाहता है। डा० राकेश गुप्ता जीवन और काव्य की परिस्थितियों में स्पष्ट विवेक नहीं कर सके हैं। इसी अविवेक के कारण वे काव्य में अप्रिय भावों के चित्रण के प्रति मनुष्य की अभिरुचि को इस बात के खण्डन का आधार बना सके हैं कि काव्य का लक्ष्य सर्वदा प्रिय और स्पृहणीय अनुभव होता है। कुछ सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से यह विदित हो सकता है कि काव्य में चित्रित अप्रिय भावों के प्रति हमारी अभिरुचि मौलिक और प्राथमिक नहीं है वरन् अन्य मौलिक और प्राथमिक अभिरुचियों (जो मूलतः प्रिय हैं) के पोषण के लिए ही हम काव्य में वर्णित अप्रिय भावों में आकर्षण का अनुभव करते हैं। अस्तु प्राकृतिक दृष्टिकोण से प्रियता का भाव ही रस का आधार हो सकता है। प्राकृतिक व्यक्तिवाद के आधार को स्वीकार करके भारतीय काव्यशास्त्र भी इन अप्रिय भावों की रसवत्ता सिद्ध करने में कठिनाइयों में पड़ गया है। इन कठिनाइयों से निकलने के लिए ही उसने साधारणीकरण और सत्व के उत्कर्ष के आध्यात्मिक मार्गों का अवलम्ब लिया है। वस्तुतः प्रकृति और अध्यात्म का स्पष्ट विवेक अथवा समुचित समन्वय न कर पाने के कारण भारतीय काव्यशास्त्र में अनेक समस्यायें और असंगतियाँ उत्पन्न हुई हैं। हमारे विचार से प्रकृति, संस्कृति और अध्यात्म के समुचित विवेक के द्वारा ही काव्यशास्त्र की समस्याओं का समाधान और उसके विविध रूप रसों का निर्धारण हो सकता है। हमने चौथे अध्याय में रस की त्रिवेणी के रूप में इस विवेक की स्थापना करके इसी के आधार पर काव्य के रस निरूपण का प्रस्ताव

जहाँ तक काव्यशास्त्र की रस सम्बन्धी धारणा मे प्रकृतिक व्यक्तिवाद तथा प्राकृतिक मनोभावो का प्रसग है वहाँ तो मनोविज्ञान के आधार पर रस का विश्लेषण और निरूपण किया जा सकता है। काव्यशास्त्र के आधार की प्राकृतिक परिधि म यह निरूपण बहुत कुछ सगत और समीचीन होगा। काव्या म भी काव्यशास्त्र के प्रकृतिवादी प्रभाव तथा जीवन मे प्रकृति के अनुरोध के कारण प्राकृतिक मनोभावो का बहुत कुछ प्रभाव है। इस प्राकृतिक सीमा के अन्तगत काव्यो म प्रतिष्ठित रस का विवेचन भी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो के आधार पर हो सकता है किन्तु काव्यशास्त्रो की रस सम्बन्धी धारणा तथा काव्यो म रस की प्रतिष्ठा कुछ इस प्राकृतिक परिधि के बाहर भी हुई है। रस के इस प्रकृति से बहिगत क्षेत्र मे मनोविज्ञान की गति नही है। काव्यशास्त्रो का यह क्षेत्र अध्यात्म के सीमान्तो के निकट हैं। अनेक काव्यो की भावभूमि भी इस अध्यात्म के सीमान्त पर है। इस क्षेत्र मे प्रतिष्ठित भावो का उचित निरूपण मनोविज्ञान के प्रकृतिवादी और व्यक्तिवादी आधार पर नही हो सकता है। अध्यात्म क इन सीमान्ता के अतिरिक्त एक सस्कृति का लोक भी है जो प्रकृति और अध्यात्म के बीच मे प्रकृति की भूमि के उन्नत शिखरो म प्रतिष्ठित है। सस्कृति के इस क्षेत्र मे प्रकृति और अध्यात्म का सगम हैं। किन्तु अध्यात्म के समन्वय से इस क्षेत्र मे प्रकृति के कुछ अनुरोध उदार बनकर अतिक्रान्त हो जाते है। वस्तु प्रकृति इस क्षेत्र मे शासन नही वरन् केवल अवलम्ब है।

इस क्षेत्र मे गृहीत 'प्रकृति नियम, अहकार और आदान के मूल लक्षणो से मुक्त होकर अध्यात्म म समन्वित हो जाती है। यह उक्त तीन लक्षणो के अनुरूप अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित प्रकृति से बहुत कुछ भिन्न है। इसी भिन्नता म प्रकृति और सस्कृति का भेद निहित है। यह प्राकृतिक व्यक्तिवाद का नही नही वरन् सास्कृतिक समात्मभाव का क्षेत्र है जिसका कुछ विवरण हम पिछले अध्यायो मे कर चुके हैं। एक प्रकार समस्त कला और काव्य इसी क्षेत्र के अन्तगत है और मूलत इसी समात्मभाव पर आश्रित है। किन्तु इस समात्मभाव के भी कई रूप और इसकी कई कोटिया है। मूलत इस समात्मभाव का सम्बन्ध काव्य के सामान्य रूप की रचना से है। असगति का बोध न होने पर प्रकृति अपने प्राकृतिक रूप मे भी काव्य का तत्त्व एव उपादान बन जाती है। ऐसी स्थिति मे समात्मभाव के सास्कृतिक रस का प्राकृतिक रस के साथ सकर

होता हैं। अनेक काव्यो म रस का यह सकर मिलता है। इन काव्यो मे भी रूप और रचना तथा रूप के आश्रय मे निहित समात्मभाव की व्याख्या मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद के आधार पर नही हो सकती। जिन काव्यो मे समात्मभाव के सामान्य आधार के अतिरिक्त काव्य के तत्व और उपादान के रूप मे समात्मभाव का सन्निधान है, वे मनोविज्ञान की प्राकृतिक परिधि से और भी दूर हैं। इन काव्यो के सास्कृतिक रस की व्याख्या व्यक्तिवादी मनोविज्ञान के आधार पर नही हो सकती।

यदि हम व्यक्तिवाद की परिधि स बाहर समात्मभाव से सगत मनोविज्ञान का कोई रूप मानते है, तो यह मनोविज्ञान हमारे परिचित प्राकृतिक मनोविज्ञान से भिन्न होगा। यह मनोविज्ञान कुल मौलिक रूप मे सास्कृतिक होगा तथा उस सास्कृतिक मनोविज्ञान से भिन्न होगा जो प्राकृतिक मनोविज्ञान के आधार पर ही सस्कृति की व्याख्या करना चाहता है। प्रकृति के उपकरणो को स्वीकार करके भी इस मनोविज्ञान मे सस्कृति के रूप और रस को समझने के लिए हमें अध्यात्म के प्रकाश और उसकी प्रेरणा को ग्रहण करना होगा। अध्यात्म के आधार पर ही स्थिति, अहकार और आदान के लक्षणा से बहुत कुछ मुक्त सस्कृति के सौन्दय और रस का निर्धारण हो सकेगा।

सस्कृति और काव्य का यह रूप भारतीय परम्परा म पर्याप्त मात्रा मे मिलता है। समात्मभाव पर आश्रित एक जीवन्त सस्कृति की परम्परा भारतीय इतिहास की सर्वोत्तम विभूति है। समात्मभाव पर आश्रित सास्कृतिक काव्य भी बहुत कुछ मात्रा मे मिल सकता हैं और यदि वह कम भी मिलता है, तो भी उसके परिमाण की अल्पता काव्य के स्वरूप और रस के निर्णय म बाधा नही है। काव्यशास्त्र म प्रकृति के व्यापक अनुरोध के कारण ही यह निर्णय नही किया जा सकता है कि प्रकृति की प्रधानता ही सुन्दरतम काव्य का लक्षण है। डा० राकेश गुप्त ने प्राकृतिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुरूप यह स्थापना की है कि काव्य के रस का निर्णय प्राप्त काव्य के आधार पर ही करना उचित है। रस के वैज्ञानिक अथवा मनोवैज्ञानिक अध्ययन का काव्य के आदश रूप से कोई सरोकार नही हैं। काव्य के आदश रूप से उनका अभिप्राय काव्य के इस रूप से है जो कुछ आचार्यों के अनुसार अभीष्ट हो सकता है। सिद्धान्त को

दृष्टि से यह विवेक समुचित है किन्तु काव्य के कि ही रूपा म काव्य की यह कल्पना साकार हुई हो यह भी सम्भव है। फिर हमने काव्य के जिस सास्कृतिक रूप का प्रस्ताव किया है उसको काव्य का आदश रूप न कहकर काव्य का सम्भव रूप कहना अधिक उचित है। काव्य का यह सम्भव रूप बहुत कुछ भारतीय काव्य में साकार भी हुआ है। अत वह का य के आदश रूप की अपेक्षा उसका यथाथ रूप अधिक है। काव्य के इस सास्कृतिक रूप के आधार पर रस के सास्कृतिक रूप का निरूपण भी अपेक्षित है। काव्य के इस सास्कृतिक रस का निरूपण प्राकृतिक और व्यक्तिवादी आधारो पर नही हो सकता। उसके लिए हम दूसरे सिद्धा त खोजने होगे। जो प्रकृति के नियतिवाद व्यक्तिवाद और आदान के स्थान पर समात्मभाव के अध्यात्मिक आलोक से प्रकाशित और आत्मा के दिव्यभाव से प्रेरित होगे। समात्मभाव के निरूपण के प्रसग मे हम पिछले विवेचनो में अनेक बार यह सकेत कर चुके है कि समात्मभाव व्यक्तित्व का अनुरोध कम हैं। इस सामजस्य में यक्ति वो का विरोध म द होकर एक ऐसे अपूव सौ दय की सृष्टि करता है, जो प्राकृतिक अनुभवा की तुलना में आलौकिक कहा जा सकता है।

यह अलौकिक सौ य आलौकिक रस को प्रेरित करता हैं। नियति और आदान के स्थान पर इस समात्मभाव मे स्वत त्रता और प्रदान की विभूति प्रकाशित होती है। यह स्वत त्र्य और प्रदान आत्मा का ही लक्षण है और आत्मा के अनुग्रह से ही सास्कृतिक जीवन और का य में अन्वित होता है। यह स्वत त्रता कला और का य के मौलिक रूप मे निहित होती है और इनके आधार भूत सामा य समात्मभाव में भी अ तर्निहित रहती है। यह स्वत त्रता सस्कृति, कला और काव्य की मौलिक विभूति है। मनोविज्ञान में इस स्वत त्रता के लिए कोई अवकाश नही। मनोविज्ञान एक प्राकृतिक विज्ञान है और पूण रूप से नियतिवादी है। मनोविज्ञान के अनुसार कला और काव्य के सामा य सृजनात्मक रूप को भी प्राकृतिक प्रवत्तियो की नियामक नियति के आधार पर समभना होगा। कला और काव्य के सम्ब ध म कुछ विद्वानो का मत इस प्राकृतिक धारणा के अनुरूप है किन्तु वह सवमा य नही हैं। उसी रूप मे उन प्राकृतिक प्रवत्तियो से प्रताडित अथवा प्रभावित होने पर भी सभी लोग कला और काव्य की रचना म प्रवत्त नही होते। अत कुछ का य मे इनका प्रभाव

मानते हुए भी उसकी सामान्य रूप ग्रौर रचना मे स्वतन्त्रता को मानना होगा। जिस काव्य मे उपादान के रूप मे भी समात्मभाव अधिक है उसमे रचना के सामान्य आधार के अतिरिक्त काव्य के भाव तत्व मे भी स्वतन्त्रता को मानना होगा। स्वतन्त्रता के इस सम्पन्न रूप से युक्त काव्य के सौन्दर्य ग्रौर रस की व्याख्या के लिए व्यक्तिवादी ग्रौर नियतिवादी प्राकृतिक मनोविज्ञान से भिन्न मौलिक सास्कृतिक आधारो को खोजना होगा।

मनोविज्ञान एक प्राकृतिक विज्ञान है। अत वह जीवन तथा काव्य के प्राकृतिक रस की व्याख्या कर सकता है। किन्तु हमारे मत मे काव्य का सात्विक रस सास्कृतिक है। मूल रूप मे वह किसी प्राकृतिक प्रवृत्ति से प्रेरित नही है वरन् मनुष्य का एक स्वतन्त्र ग्रौर सास्कृतिक अध्यवसाय है। हमारे मत मे सस्कृति भी समात्मभाव पर आश्रित सौन्दर्य ग्रौर ग्रानन्द की एक स्वतन्त्र साधना है। वह प्राकृतिक प्रवृत्तियो से प्रेरित जीवन की उपयोगी व्यवस्था नही है। जीवन की इस उपयोगी व्यस्था को सभ्यता कहना ग्रधिक उचित है। इस के अतिरिक्त उत्सव पर्व, त्यौहार कला, काव्य ग्रादि के रूप मे जो मनुष्य के निरुपयोगी अध्यवसाय दिखाई देते है वे समात्मभाव पर आश्रित उसकी स्वतन्त्र इच्छा ग्रौर साधना के फल है। प्राकृतिक ग्रौर व्यक्तिवादी मनोविज्ञान के ग्राधार पर इनकी व्याख्या नही की जा सकती। नियति ग्रहकार, स्वार्थ ग्रादि के अतिरिक्त सुख भी मनुष्य की एक प्रबल प्राकृतिक वृत्ति है। ग्रधिकाश प्रवृत्तियो की दिशा सुख की ही ग्रोर है। सुख उन प्रवृत्तियो का लक्ष्य न हो किन्तु प्राकृतिक दृष्टि से वाछनीय विषयो का लक्षण ग्रवश्य है। प्राकृतिक ग्रनुभव मे दुख भी ग्रनिवार्य है। भय ग्रादि के भाव तथा दुख के ग्रन्य प्रसग भी मनुष्य के जीवन मे ग्राते है। किन्तु वाह्य ग्रारोपण बनकर जाते है। मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति सदा सुख की ग्रोर रहती है। दुख के ग्रवसरो का भी वह निरोध ग्रथवा निवारण करना चाहता है। यदि वे ग्राते है तो उसके प्रयत्नो को विफल करके ग्राते है। यदि प्राकृतिक दृष्टि से बचाव सम्भव होने पर भी किसी कारण दुख ग्रथवा सकट के ग्रवसर का स्वागत करता है तो उसका कारण कोई दूसरी प्राकृतिक प्रवृत्ति है जो उसे विवश करती है। यह ध्यान देने योग्य है कि इन प्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे भी मनुष्य ग्रपनी ग्रोर से सुख के मार्ग का ही ग्रनुसरण करना चाहता है। दुख के मार्ग का ग्रनुसरण वह विवशता से करता है।

इन प्रवृत्तियो मे वात्सल्य की प्रवृत्ति विशेष महत्वपूर्ण है। काम, बुभुक्षा, सुरक्षा आदि के प्रसग मे मनुष्य जो दुख का सामना करता है वह अन्तत अपने व्यक्तिगत सुख के लिए करता है। किन्तु वात्सल्य मे सतान की रक्षा के लिए नही वरन् दूसरो के लिए दुख का सामना करता है। पशुओ मे भी यह भाव बडे प्रबल रूप मे पाया जाता है। अत इसे प्राकृतिक वृत्ति कहा जा सकता है, किन्तु वस्तुत यह भाव व्यक्तिगत स्वार्थ की सीमा से कुछ बाहर हो जाता है। मनुष्य मे इस भाव की परार्थता अधिक स्पष्ट और सचेतन हो गई है। माता मे यह भाव अधिक होने के कारण इसका कुछ प्राकृतिक आधार भी मानना होगा। किन्तु यह पूर्णत व्यक्तिगत स्वार्थ के अर्थ मे प्राकृतिक नही है, अथवा यह कहा जा सकता है कि केवल व्यक्तिगत स्वार्थ का लक्षण नही है और उसमे परार्थ की सम्भावना भी निहित है। किन्तु ऐसा मानने पर प्रकृति और आत्मा का भेद मिटने लगता है अथवा प्रकृति मे आत्मा का अलक्ष्य अन्तर्भाव मानना होगा। वेदान्त के तत्व दर्शन मे ब्रह्म ही एकमात्र तत्व है।

किन्तु व्यवहार मे हम प्रकृति और आत्मा का तथा व्यक्ति व्यक्ति का भेद मानना होगा तथा इस भेद को स्वीकार करके यह अनुसधान करना होगा कि व्यक्ति के स्वार्थ और अहकार से परे जीवन मे समात्मभाव की सम्भावना है अथवा नही। हमारा विश्वास है कि प्रकृति का अनुरोध कम होने पर समात्मभाव की सम्भावना उत्तरोत्तर प्रकट होती है। इस सम्भावना का सत्य भी समात्मभाव के द्वारा ही प्रमाणित हो सकता है। व्यक्तिगत अनुभव और तर्क इसे प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त नही है। सामान्य रूप से इस समात्मभाव का आभास हम मनुष्य जीवन मे सर्वत्र मान सकते हैं। प्रकृति के अनुरोध के कारण प्राय इस समात्मभाव का विकास अधिक नही होता। इसका विकास प्राकृतिक और अनिवार्य नही है। वह मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा और साधना पर निर्भर है। वात्सल्य, दाम्पत्य, सख्य आदि मे हमे इस समात्मभाव के कुछ विकसित रूप मिलते हैं। इन सामाजिक रूपो म भी मनोविज्ञान प्राकृतिक प्रवृत्तियो तथा व्यक्तिगत स्वार्थ और सुख का आधार खोजता हैं। गिन्सबर्ग के समान सामाजिक मनोविज्ञान के अधिकारी विद्वान यही मानते हैं कि व्यक्ति की चेतना और उसके अनुभव इकाई मे ही सीमित और केन्द्रित रहते हैं। व्यक्तितत्व का सचेतन केन्द्र जीवन का असदिग्ध सत्य हैं किन्तु हमारा विश्वास है कि जहा जीवन की

सत्ता आदान की ओर अभिमुख होकर अपनी इकाई मे ही सीमित रहती है, वहा जीवन की चेतना इकाई की परिधि से बाहर जाकर दूसरी इकाईयो की परिधि से मीलना चाहती है ।

यह विस्तार और साम्य आत्मा का ही लक्षण है । व्यक्तित्वो के साम्य म इसका साक्षात् अनुभव होता हैं । दुख की स्थिति मे अहकार के मन्द होने के कारण यह समात्ममाव अधिक उज्वल रूप मे प्रकट होता है । दुख की स्थिति म प्रकट होने वाले इस समात्ममाव को हमने करुणा का नाम दिया है । हमने इस करुणा को काव्यशास्त्र के करुण की तुलना मे एक व्यापक भाव माना है । हमे तो समात्मभाव की स्थिति मे सवत्र ही करुणा का माव व्याप्त दिखाई देता हैं । केवल ओज के एक रूप मे जिसमे अनीति के प्रति विरोध और सघप होता है तथा वह अनीति के विराध मे जाग्रत हुए समात्मभाव को भी विपमता के द्वारा कुछ खण्डित करता है वहा उस विरोध के क्षेत्र मे समात्मभाव न होने के कारण करुणा का अवकाश नही दिखाई देता । अन्यथा अन्य समस्त भावो मे जहा समात्ममाव होता है वहा करुणा की सम्भावना होती है । शृ गार, वात्सल्य आदि के विप्रलम्भ रूप मे करुणा का य म बहुत मिलती है । किन्तु इनके सयोग रूप मे भी करुणा का एक अलक्षित अ तर्भाव रहता है । ओज और हास्य के भी साम्य और समात्मभाव से युक्त रूप करुणा से रहित नही होते यद्यपि प्रकट रूप मे ओज उत्साह से और हास्य हास से अलकृत होता है । करुणा के इस व्यापक भाव का मूल दुख की सवेदना मे ही है । करुणा का यह व्यापक भाव काव्यशास्त्र का करुणा नही । किन्तु भवभूति के उत्तररामचरित मे साकार होने वाली करुणा के अत्य त निकट है ।

हमारे मत मे करुणा का यह भाव काव्य का एक व्यापक भाव है। समात्मभाव के निगूढ आधार पर आश्रित होने के कारण यह एक सास्कृतिक भाव है । पारस्परिकता और पराथ करुणा के सास्कृतिक भाव के आवश्यक लक्षण है जो प्रकृति के कठोर स्वरूप से उसे भिन्न बनाते हैं । काव्य मे यह करुणा का भाव पर्याप्त परिमाण मे मिलता है और यदि कही वह कम मिलता हैं तो उसका कारण प्रकृति की प्रबलता ही है । प्रकृति का पट साघना की मर्यादा से तनिक सकुचित होते ही समात्मभाव का प्रकाश छलक पडता है । जीवन और काव्य

का विकास सास्कृतिक समात्मभाव की ओर अधिकाधिक होने पर यह करुणा का भाव भी उत्तरोत्तर विकसित होगा। यदि काव्य मे व्यापक रूप और विपुल परिमाण मे समात्मभाव की प्रतिष्ठा नहीं हो सकी है तो उसका कारण यह है कि मूलत समात्मभाव से प्रेरित होते हुए भी अधिकाश कवि प्रकृति के अनुरोध से अधिक मुक्त नही थे। कविया की साधना का समात्मभाव के उत्कप की दिशा मे विकास होने पर काव्य मे करुणा की प्रतिष्ठा उत्तरोत अधिक होगी। इस काव्य मे शृ गार, वात्सल्य आदि के सयोग और विप्रलम्भ रूपो के अतिरिक्त भय, शोक जुगुप्सा, तथा अन्य अप्रिय भावो के प्रसग म करुणा की अभिव्यक्ति सबसे अधिक महत्वपूण होगी। का य में करणा के इस रूप की प्रतिष्ठा बहुत कम हुई है। किन्तु सत्य यह है कि करुणा का यही रूप काव्य को सबसे अधिक गौरव दे सकता है। अप्रिय भावो की करुणा महान और मानवीय काव्य की सर्वोत्तम विभूति है। हमने रसो के विभाजन के प्रसग मे नवें अध्याय के अ त मे करुणा के इस पक्ष की महिमा प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है।

करुणा का यह व्यापक और उदार भाव हमारे अनुसार काव्य म जितना महान है, मनोविज्ञान के व्यक्तिगत सुख स्वाथ और अहकार के वह उतना ही विपरीत है। मनुष्य की व्यक्तिगत इकाई को प्रवृत्ति और भाव दोनो का केन्द्र मानकर मनोविज्ञान करुणा के इस उदार भाव की व्याख्या नही कर सकता। ऐसी स्थिति म काव्य का सबसे महान और उदार भाव मनोविज्ञान की परिधि के बाहर रह जाता है। इसका कारण यह है कि मनोविज्ञान एक प्राकृतिक विज्ञान है। वह प्रकृति के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पर आश्रित है। इसके विपरीत करुणा का भाव आत्मभाव पर अवलम्बित है। प्रकृति से इस समात्मभाव का कोई आवश्यक विरोध नहीं है। प्रकृति के उपकरणा मे भी यह आत्मभाव सम्भव होता है। समाधि के अतिरिक्त सामाजिक और सास्कृतिक सम्ब धो म वह प्राकृतिक उपकरणो मे ही साकार होता है। किन्तु प्राकृतिक प्रवृत्तियो का विरोध तथा अतिचार समात्मभाव के अनुकूल नहीं है। आत्मभाव के अनुरूप प्रकृति की मर्यादा मे ही यह प्रकाशित होता है। मनोविज्ञान भी प्रकृति की मर्यादा को मानता है।

किन्तु मनोविज्ञान के अनुसार इस मर्यादा की प्रेरणा और रस का प्रयोजन प्रकृति के व्यक्तिगत स्वार्थ में ही रहता है। मर्यादा का वह रूप प्रकृति मुख अथवा प्रकृति निष्ठ है। किन्तु इसके विपरीत मर्यादा का जो सांस्कृतिक रूप करुणा के व्यापक भाव को जन्म देता है वह आत्मभाव के अनुरूप है। प्राकृतिक दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। अत मनोविज्ञान की करुणा के इस व्यापक भाव को समाहित करने वाले काव्य में गति नहीं हो सकती। इस काव्य के सौन्दर्य और रस को हमें एक दूसरे मनोविज्ञान के अनुसार समझना होगा, जो प्रकृति के व्यक्तिवाद और स्वार्थ में ही नहीं रहता वरन् प्राकृतिक उपकरणों को ग्रहण करते हुए भी समात्मभाव के अनुरूप संस्कृति और काव्य की व्याख्या करता है।

प्राकृतिक मनोविज्ञान के जिस सामान्य रूप का वर्णन हमने ऊपर किया है और जिसे उत्कृष्ट सांस्कृतिक काव्य की व्याख्या में अनुपयोगी माना है उसके अतिरिक्त मनोविज्ञान के कुछ अन्य सम्प्रदाय हैं, जो मनोविज्ञान के क्षेत्र में बहुत प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित रहे हैं तथा काव्य के रस की व्याख्या के सम्बन्ध में जिनकी व्याख्या आवश्यक है। इन सम्प्रदायों में व्यवहारवाद और मनोविश्लेषण के दो सम्प्रदायों का उल्लेख विशेष रूप से अपेक्षित हैं। ये दोनों सम्प्रदाय मनोविज्ञान की दो विरुद्ध और प्रमुख धाराओं का संकेत करते हैं। व्यवहारवाद मनुष्य के आंगिक व्यवहार को ही उसके व्यक्तित्व का सम्पूर्ण सत्य मानता है। चेतना के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है। इसके अनुसार चेतना एक अलौकिक तत्व हैं, जो दर्शनों के विवेचन के योग्य है, किन्तु मनोविज्ञान के वैज्ञानिक अध्ययन में उसका कोई स्थान नहीं है। मनोविज्ञान उस अलौकिक और दार्शनिक तत्व को छोड़कर ही अन्य विद्यानों के समान वस्तुवादी बन सकता है। प्राचीन मनोविज्ञान चेतना को मानता था। इसीलिए व्यवहारवादी मनोविज्ञान के समर्थक उसे विज्ञान न मानकर दर्शन की कोटि में मानते है। व्यवहारवादी मनोविज्ञान अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण के कारण प्रयोग की विधि का आश्रय लेता है। अन्तर्निरीक्षण का उसमें कोई स्थान नहीं है। वह मनुष्य के व्यवहार को पशुओं के समान मानता है तथा पूर्णत परिवेशवादी है। परिवेश मनुष्य का बाह्य वातावरण है, जिसमें वह पलता है तथा जो प्राकृतिक और सामाजिक दोनों प्रकार का होता है। मनुष्य का व्यक्तित्व और व्यवहार इस परिवेश के प्रभाव

से तथा इसी के अनुरूप निर्मित होता है। यह व्यवहारवादी मनोविज्ञान का वही नियतिवादी दृष्टिकोण है, जो सामान्य मनोविज्ञान तथा अन्य प्राकृतिक विज्ञानो का मुख्य नियम है।

काव्य और उसके प्रसग मे व्यवहारवादी मनोविज्ञान के सम्बन्ध म दो बातें विचारणीय हैं। इन दो बातो का सम्बन्ध चेतना और स्वतन्त्रता से है। चेतना मनुष्य की आन्तरिक अनुभूति है, जिसका प्रमाण वह स्वय हो सकती है। इसी कारण व्यवहारवादी मनोविज्ञान जीवन के वैज्ञानिक अध्ययन म इसे अनुपादेय मानता है। चेतना व्यक्ति मे केन्द्रित और सीमित अवश्य दिखाई देती है। किन्तु भाव के रूप म इस परिधि के बाहर उसका कुछ ऐसा अद्भुत विस्तार होता है कि उसे पूर्णरूप से व्यक्तिगत नही कहा जा सकता। अनुभवगत चेतना केन्द्र मुखी होती है किन्तु भावगत चेतना परिधि मुखी होती है। अन्य केन्द्रो के साथ सम्वाद और भाव की परस्पर ग्रहण शीलता तथा प्रेषणीयता उसका प्रमुख लक्षण बन जाती है। चेतना के इसी भावगत रूप पर काव्य सामान्यत आश्रित है। काव्य के उदार और उत्कृष्ट रूपो म चेतना का यह भाव रूप अधिक समृद्ध होता है। व्यवहारवादी मनोविज्ञान किसी भी रूप म चेतना को नहीं मानता, चेतना के इस उदार भाव रूप का स्वीकार करना उसके लिए और भी कठिन है। सामान्य मनोविज्ञान भी चेतना के इस रूप को आदर नही देता। किन्तु काव्य का रसच्छिद् रूप ही है। चाहे उसे हम किसी भी रूप मे मान, किन्तु सभी रूपो म वह एक सचेतन अनुभव है। काव्य के रस का अलौकिक और आध्यात्मिक रूप ही नही वरन् उसका लौकिक और सास्कृतिक रूप भी व्यवहारवादी मनोविज्ञान को अग्राह्य होगा।

व्यवहारवाद के अनुसार मनुष्य के मानसिक सवगो का रूप भी उसके आगिक अनुभावो म ही पूर्ण मानना होगा। सम्वेग का सचेतन और आन्तरिक मम व्यवहारवाद की परिधि के बाहर है। अत काव्य का रस भी इसके अनुसार अनुभावो के रूप म ही व्याख्येय होगा। यह काव्य के रस के चिन्मय रूप का पूर्ण निषेध है। काव्य के रस के चिन्मय रूप को त्यागने पर उसका रस ही विलीन नही हो जाता, वरन् उसकी रचना की व्याख्या भी कठिन हो जाती है। काव्य का सजन और आस्वादन केवल आगिक व्यवहार नही है वरन् चेतना का

एक गम्भीर और उदार अध्यवसाय है। व्यवहारवादी मनोविनान का दृष्टिकोण भारतीय काव्यशास्त्र के विपरीत ही नही वरन् पश्चिमी काव्यशास्त्र के भी विपरीत है। चेतना के अतिरिक्त स्वतन्त्र काव्य के सजन और आस्वादन मे अन्तर्निहित स्वतन्त्रता का तत्व भी व्यावहारवादी मनोविज्ञान के प्रतिकूल है। सामान्य मनोविज्ञान के प्रसग मे हम इसका विवेचन कर चुके हैं। अत यहा उसकी आवृति अपेक्षित नही है। इतनी पुनरुक्ति यहा क्षम्य हो सकती है कि काव्य की रचना और उसका आस्वादन मनुष्य की स्वतन्त्र सास्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति है। कदाचित् स्वतन्त्रता चेतना का ही लक्षण है। सस्कृति और काव्य मे चेतना की यह स्वतन्त्रता सौन्दय के रूपो मे साकार होती है। व्यवहारवादी अथवा नियतिवादी मनोविज्ञान को मानकर सौन्दय के स्वतन्त्र सजन और आस्वादन की व्याख्या नही हो सकती।

व्यवहारवाद के बाद किन्तु बहुत कुछ उससे विपरीत मनोविश्लेषण का मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय है। फ्राइड के इस मनोविश्लेषण के सम्प्रदाय न मनोविनान और जीवन के क्षेत्र म एक अदभुत क्रांति उपस्थित कर दी। व्यवहारवादी मनोविज्ञान मनुष्य के बाह्य व्यवहार और आगिक विकारो को ही मनोविनान के अध्ययन का आधार मानता है। इसके विपरीत मनोविश्लेपण का दष्टिकोण उतना ही आन्तरिक है। यह मनुष्य की चेतना की गहराइया म जीवन के रहस्य खोजता है। अवचेतन की खोज मनोविनान को मनोविश्लेपण के सम्प्रदाय की मौलिक देन है। यह अवचेतन मनुष्य के चेतन मन के पीछे अन्धकार की गहराइया मे रहने वाला शक्ति और प्रेरणा का एक प्रबल स्रोत है। वस्तुत यह हमारे चेतन मन से अधिक प्रबल और प्रभावशाली है। इसका प्रभाव अलक्षित रूप मे होता है। हम इसके अलक्षित निर्देशो से सचालित होते हैं, किन्तु प्राय इन निर्देशो के मूल कारणा को नही जानते। इस अवचेतन का निर्माण पारिवारिक और सामाजिक जीवन मे दमन के अलक्षित प्रभाव से होता है। मनोविश्लेपण के अनुसार मनुष्य म काम और अहकार की दो अत्यन्त प्रबल वत्तिया है। बाल्यकाल स ही ये वृत्तिया अपने को अभिव्यक्ति करती हैं और अपना सतोप खोजती है। किन्तु परिवार और समाज मे इन वत्तिया का स्वच्छन्द सतोष सम्भव नही है। बालको की इन वृत्तियो का बडो की इन्ही वृत्तियो से विरोध और सघप होता है। समाज

मे काम भी मर्यादा और बडो के गौरव के सम्बन्ध म कुछ ऐसी ।तिन मान्यतायें प्रतिष्ठित है कि बालक उनके उलघन की कल्पना भी नही कर सकता। सचता रूप म इनके उलघन का प्रयास बालक के लिए प्राय असम्भव रहता है यदि वह कभी ऐसा प्रयास कर बैठता है तो समाज की प्रतारण उस बनाती है कि वह एक वर्जित काम कर रहा है। इस प्रतारणा के प्रत्यक्ष प्रभाव से तथा समाज की मान्यताओ के अप्रत्यक्ष प्रभाव से वह काम और अहकार के सम्बन्ध म अपनी वासनाओ और आकाक्षाओ का सचेतन और अचेतन दोना रूपा म दमन करता है। इस दमन के द्वारा बालक की वासनायें अवचेतन के गभ म सचित होती जाती है और अवचेतन का कोष समृद्ध होता जाता है तथा अवचेतन के क्षेत्र की शक्ति बढती जाती है। मनोविश्लेषण मनुष्य के स्वभाव की इन अवचेतनगत शक्तियो म काम और अहकार को ही सार्वभौम मानता है। फ्राइड तो काम को ही सार्वभौम मानते हैं। आडलर ने अहकार का प्रमुख माना है। वे काम और अहकार दोनो को एक सामान्य प्राकृतिक शक्ति की अभिव्यक्ति के दो रूप मानते है। अस्तु, काम और अहकार की ही दो प्रधान प्रवतिया अवचेतन के *सस्कारो से हमारे जीवन मे काय करती हैं। मनोविश्लेषणवाद के अनुसार* साहित्य और कला मे भी इन्ही प्रवृत्तियो की अभिव्यक्ति होती है। धम की व्याख्या भी इन्ही के आधार पर की जाती है। इस सम्प्रदाय के अनुसार इन प्रवत्तियो का दमन विकृति का कारण है। इनके दमन से अवचेचन म विकारा की ग्रन्थिया बनती हैं। ये ग्रन्थिया जीवन मे अनेक विषमतायें उत्पन्न करती है। अधिक उग्र होने पर इन विषमताओ का परिणाम मानसिक रोगो मे होता है। मनोविश्लेषण के अनुसार कला और धम मनुष्य के अवचेतन की इन ग्रन्थियो क ही अवलम्ब हैं। मनोविश्लेषणवाद कलाकार की गणना स्वस्थ मनुष्यो मे नही करते। व उसे एक प्रकार का मानसिक रोगी मानते है, जो अपनी अवचेतन ग्रन्थियो के प्रकाशन के लिए कला का अवलम्ब ग्रहण करता है, कला मे इन ग्रन्थियो के विकृतभाव प्रच्छन्न रूप म व्यक्त होते हैं। इसीलिए अभिव्यक्ति के इस रूप मे समाज को वैसी आपत्ति नही होती जसी उसे इनके स्पष्ट प्रदशन म हो सकती है। मनोविश्लेषण की भाषा म कला, धम आदि के समाज द्वारा समादत रूपो म *मानसिक ग्रन्थियो की अभिव्यक्ति उदात्तीकरण कहलाती है।* यह उदात्तीकरण आवश्यक रूप से मनोभावो का उन्नयन अथवा सस्करण नही है। यह केवल समाज द्वारा स्वीकृत और समादृत माध्यमा से अन्यथा वर्जित

भावों का प्रकाशन है। इसे उदात्तीकरण केवल इसलिए कहा जाता है कि मनुष्य को इस समादृत माध्यम से वर्जित भावों की अभिव्यक्ति में भी कुछ गौरव का अनुभव होता है।

मनोविश्लेषण का उक्त अभिमत हमारे गम्भीर और कला प्रेमी समाज में क्रांतिकारी ही नहीं वरन् आघातकारी सिद्ध हुआ। नैतिकता धर्म और कला के सम्बन्ध में हमारी गौरवमयी मान्यताओं को भयंकर आघात पहुंचा। इस कारण आरम्भ में परम्परावादियों ने इसका कुछ विरोध भी किया किन्तु धीरे-धीरे अपने अन्तर्गत सत्य के बल पर मनोविश्लेषण का मत शिक्षित समाज में मान्यता प्राप्त करने लगा। साहित्य और कला की व्याख्या ही मनोविश्लेषण के अनुसार नहीं हुई वरन् इसके अनुरूप साहित्य का निर्माण भी हुआ। वस्तुत आधुनिक साहित्य में जो मनोविश्लेषण के प्रचार के बाद लिखा गया है उसमें प्राचीन साहित्य की अपेक्षा अवचेतन की कुण्ठाओं की अधिक अभिव्यक्ति हुई है। साहित्य में व्याख्या की अपेक्षा यह प्रेरणा का कारण अधिक बना। फिर भी मनोविश्लेषण के सिद्धांत में जीवन का एक असंदिग्ध सत्य निहित है, जो साहित्य और कला के क्षेत्र में भी पूर्णत असत्य नहीं है। मनोविश्लेषण के प्रचार के बाद साहित्य में कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति कोरी कल्पना नहीं है। उसमें बहुत कुछ सत्य का आधार है चाहे उसमें कुछ अतिरंजना भी हो। मनोविश्लेषणवाद ने काम और अहंकार की दो प्रबल वृत्तियों को अनावृत करके जीवन और साहित्य में छिपी हुई कुछ मौलिक भ्रान्तियों को प्रकाशित किया। हम यह नहीं मानते कि काम और अहंकार की प्रवृत्तियाँ मनुष्य के समस्त जीवन का प्रतिनिधित्व करती हैं तथा इनके अतिरिक्त जीवन में और कोई तत्व नहीं है। संस्कृति और अध्यात्म का सत्य इनसे ऊपर है तथा वह जीवन का एक माननीय सत्य है। इतना अवश्य है कि यह सत्य कुछ दुर्लभ है और कठिन है। साधना और साक्षात्कार के द्वारा ही इस सत्य का ज्ञान और विश्वास हो सकता है। भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्परा तथा भारतीय धर्म और साहित्य में यह सत्य विपुलता से प्रतिष्ठित है। फिर भी प्राकृतिक दृष्टि से मनोविश्लेषण के द्वारा प्रकाशित काम और अहंकार के सत्य को भी यथोचित मान देना होगा। अवचेतन का सिद्धांत मनोविश्लेषण की एक मौलिक देन है। अन्यथा काम और अहंकार की प्राकृतिक वृत्तियों की प्रबलता से भारत के विचारक विशेष रूप से

परिचित थे। उन्होंने अपने धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों में इनकी बहुत भर्त्सना की है। वे इनकी छलनाओं से भी परिचित थे। इनके सम्बन्ध में जो भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं उनके प्रति भारतीय साधकों ने बड़ी सतर्कता का दृष्टिकोण अपनाया है। उपनिषदों की आध्यात्मिक साधना में यह सतर्कता सबसे अधिक और यह भ्रान्ति सबसे कम है। शृंगार मूलक भक्ति में काम का छल सबसे अधिक सम्भव है तथा व्यक्ति पूजक एवं मसीहावादी धर्म सम्प्रदायों में अहंकार की विडंबना सबसे अधिक हो सकती है। कला और साहित्य में काम और अहंकार की छद्म अभिव्यक्ति की सम्भावना अधिक हो सकती है। अनेक कलाकारों की कला में मानसिक विकृतियों का प्रच्छन्न प्रदर्शन भी हो सकता है। मनोविश्लेषण के सम्प्रदाय द्वारा प्रकाशित काम और अहंकार की छलना जीवन जीवन तथा साहित्य का एक अत्यन्त कठोर और अप्रिय सत्य है। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही विचारणीय है कि क्या यही जीवन का सम्पूर्ण सत्य है अथवा इससे अधिक किसी श्रेष्ठतर सत्य की सम्भावना भी जीवन में है और यदि है तो वह साहित्य तथा कला में कहाँ तक चरितार्थ हुई है।

मनोविश्लेषणवाद के अनुसार काव्य का रस सृजन और आस्वादन दोनों दृष्टियों से प्राकृतिक रस है। काम और अहंकार की प्रायः अवचेतन की समय वासना में उस रस का मूल स्रोत है। प्राकृतिक होने के साथ साथ बहुत सीमा तक वह विकृत रस है क्योंकि उसमें जीवन की स्वस्थ मनोवृत्ति की अपेक्षा अस्वस्थ मनोविकारों की अभिव्यक्ति अधिक है। सामान्य मनोविज्ञान की भाँति मनोविश्लेषणवाद भी नियतिवादी और व्यक्तिवादी है। मनुष्य के अवचेतन में अवरुद्ध वासनायें एक अनिवार्य गति से उसके जीवन और व्यवहार को प्रभावित करती हैं। मनुष्य के स्वभाव और मन में निहित प्रवृत्तियों को जीवन की मूल प्रेरणा मानने के कारण मनोविश्लेषणवाद का व्यक्तिवाद अधिक तीव्र और कठोर है। काव्य और उसके रस के सम्बन्ध में मनोविश्लेषणवाद का प्राकृतिक दृष्टिकोण किसी सीमा तक कला और काव्य के अन्य प्राकृतिक दृष्टिकोणों के समान है। भारतीय काव्यशास्त्र में प्राकृतिक मनोभावों के स्थायी भावों के अनुरूप रस की कल्पना बहुत कुछ प्राकृतिक ही है। रति क्रोध भय आदि के भाव मनुष्य के प्राकृतिक मनोभाव हैं। भारतीय काव्यशास्त्र और काव्य में शृंगार की प्रधानता उसे मनोविश्लेषणवाद के अत्यन्त निकट ले जाती है। किन्तु इस

समानता के अतिरिक्त दोनो के रतिभाव मे एक प्रमुख अन्तर है। मनोविश्लेषण काम भाव को मनुष्य की व्यापक वृत्ति मानता है। उसके अनुसार काम की कोई मर्यादा नहीं है, वरन् सामाजिक और नैतिक मर्यादाओ के अतिक्रमण की ओर उसकी स्वाभाविक गति है। अत यह मर्यादा प्रतिरोध और दमन का कारण बनती है। इसके विपरीत काव्यशास्त्र मे शृ गार रस की प्रतिष्ठा बहुत सीमा तक सामाजिक मर्यादा के अ तगत हुई है। दाम्पत्य की रति इस श्र गार का मुख्य आधार है। और इसी रूप म काव्य मे उसका व्यापक वणन है। केवल कुछ अपवाद रूप मे परकीया रति के प्रसग मे इस मर्यादा का उलघन होता है, किन्तु वह भी दाम्पत्य भाव के अ तगत ही है। फिर भी वाल्मीकि, सूर, तुलसी और प्रसाद के अतिरिक्त सस्कृत और हि दी के काव्य मे शृ गार की विपुलता सामा य रूप से मनोविश्लेषण के अभिमत के अनुरूप है। इसके अतिरिक्त शृ गार, वीर, वात्सल्य आदि रसा म अहकार की ही प्रधानता है। वीर रस मे यह अहकार अधिक प्रबल और प्रखर रूप मे मिलता है। किन्तु प्राचीन काव्य और काव्यशास्त्र के इस काम और अहकार मे मनोविकति की अपेक्षा मनुष्य के सामा य और स्वरूप मनोभाव की अभिव्यक्ति ही अधिक है। इसके विपरीत मनोविश्लेपण का बल काम और अहकार के विकत रूपो पर अधिक है। *आधुनिक काव्य के शृ गार म विकृत भाव के लक्षण प्राचीन काव्य की* अपेक्षा अधिक मिलते हैं। आधुनिक काव्य का श्र गार सामा यत दाम्पत्य की मर्यादा के अन्तगत नही है वरन् मनोविश्लेषण के मत के अनुकूल मुक्त और स्वच्छ द भाव के रूप में व्यक्त होता है। वीर रस का आधुनिक काव्य मे प्राय अभाव है। प्राचीन काव्य का शृ गार दाम्पत्य की स्वीकत्ति और स्वस्थ परिधि मे है। वीर रस के उग्र अहकार मे विकृति की सम्भावना होती है, किन्तु युद्ध वीर के साहस तथा अ य वीरों के धीर में यह सम्भावना बहुत कम हो जाती है और वीर रस अधिक स्वस्थ रूप में प्रकट होता ह। मनोविज्ञान का व्यक्तिवाद काव्य के रस के सम्ब ध में परम्परागत मान्यता का खण्डन नही करता। काव्य-शास्त्र में नायक तथा सामाजिक को लेकर रस के सम्ब ध में जितना भी विवाद है वह सब व्यक्तिवाद पर आश्रित है। मनोविश्लेपण के प्रसग में इतना कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्र का अभिमत व्यक्तिवाद सामा यत स्वस्थ है। उसमें विकत की ऐसी प्रधानता को स्थान नहीं है जसा कि मनोविश्लेषणवाद को अभीष्ट है।

मनोविश्लेपण के सम्प्रदाय में यूग के द्वारा मनुष्य की प्रवत्ति की एक ऐसी स्थापना की गई है जो कला और काव्य के प्रसग में महत्वपूण है। यूग के अनुसार जीवन की परिस्थितियो के प्रभाव से मनुष्यो का स्वभाव दो प्रकार का बनता है। कुछ लोग बहिर्मुखी बन जाते है तथा कुछ लोगा में अ तमु खी वत्ति की प्रधानता होती है। बहिमु खी लोग सामाजिक और क्रिया प्रधान होते है। ये लोग सामाजिक कायकर्त्ता व्यापारी, नेता आदि बनते है। इसके विपरीत अ तमु खी लोग अपने म अधिक लीन चिन्तनशील और एका त प्रिय होते है। इनमें कवि कलाकार दाशनिक आदि होते है। यूग का यह विभाजन अत्य त महत्वपूण है। इसम सदेह नही कि कला की प्रवत्ति कुछ अ तमु खी प्रवृत्ति ही है। सामाजिक सम्ब ध और कम मे अभिरुचि रखने वाले लोगा की अपेक्षा भावो और विचारो मे लीन रहने वाले लोग ही कला की ओर अधिक प्रवत्त होते है। इसमे यह सकेत भी मिलता है कि व्यापक होते हुए भी यह अ तमु खी वत्ति अधिक स्वस्थ वत्ति नही है। सामाजिक और व्यावहारिक वत्ति वाले लाग मनोभावो की दृष्टि से अधिक स्वस्थ हाते है। इस प्रकार यूग के मत मे भी कला कोई अधिक स्वस्थ साधना नही है। मनोविश्लेपणवाद का यह अभिमत पूण रूप से गलत नही कहा जा सकता। अनेक कलाकारा और उनकी कतिया मे विकृति के चि ह खोजे जा सकते ह। कु ठित वासनाओ और दमित अहकार की प्रतिक्रिया प्राय काव्य एव कला के रूप मे होती है। ऐसी स्थिति म कला सौ दय की स्वत त्र रचना नही वरन् कु ठित व्यक्तित्व के आत्मतोप का साधन बन जाती है। कला का यह रूप उसके स्वस्थ और स्वत त्र गौरव के अनुरूप नही है। कि तु अस्वस्थ रूप म कला दमित व्यक्तित्व की सुगम अभिव्यक्ति भी बन सकती है। सामाजिक क्षेत्र म दमित मनोभावो की पूर्ति कधिक कठिन है। अत कुछ मनोविकारो से ग्रसित लोग भी जीवन की पूर्ति के लिए कला म अनुरक्त हो जाते हैं। कि तु यहा यह विचारणीय है कि मनोविकारो से ग्रस्त सभी लोग कला की ओर प्रवृत्त नही होते। अत कला की मौलिक वत्ति को पथक और स्वत त्र मानना होगा जिसका कभी कभी विकति से भी सयोग हो जाता है। कि तु कला के इस विकत रूप म भी कला का स्वस्थ रूप पूणत तिरोहित नही होता। उदात्तीकरण के अतिरिक्त अ यथा भी कला की सामा य साधना और अनुरक्ति मे विकृति की सामाजिक अभिव्यक्तिया की अपक्षा स्वस्थ मनोवत्ति का आधार अधिक रहता है। यह उसी समात्मभाव का आधार है जिसे हमने

पिछले अध्यायों के विवेचन में कला और काव्य के सौंदर्य एवं रस का मूल आधार माना है। कला की विकृत साधना में भी यह समात्मभाव एक स्वस्थ सूत्र के रूप में रहता है। हमारे मत में यह समात्मभाव स्वस्थ मनोवृत्ति का मौलिक सूत्र है और कला के सभी रूपों में यथा सम्भव स्वस्थ भाव का संचार करता है। कला के विकृत रूप में जो दोष खोजे जा सकते हैं उनका परिणाम समाज में कहीं अधिक भयंकर होता है। कला स्वरूप से विकृत नहीं वरन् विकृति का अवलम्ब बन जाती है। मूल रूप में वह सौंदर्य और रस की अत्यन्त स्वस्थ साधना है। मनोभावों के स्वस्थ अवलम्ब को पाकर वह और भी अधिक स्वस्थ बन सकती है। कला और काव्य के इस रस का स्रोत मनुष्य के विकृत अवचेतन में नहीं वरन् चेतना के स्वस्थ संस्कारों में है। इन संस्कारों में सिद्धान्तत अवचेतन की स्थिति मानी जा सकती है। किन्तु यह अवचेतन विकार और वासना का प्राकृतिक आश्रय नहीं है। यह अवचेतन आध्यात्मिक अन्तर्लोक का वह उज्ज्वल और उदात्त क्षेत्र है जिसे अतिचेतन कहना अधिक उचित है। यह अतिचेतन वाक् के मध्यमा और पश्यन्ती रूपों के अनुरूप चेतना के सूक्ष्म और उत्तरोत्तर समृद्ध रूपों में प्रकाशित होता है। पिछले अध्यायों में वर्णित समात्मभाव के उत्तरोत्तर जटिल और समृद्ध रूपों में काव्य के समृद्ध रस का अनुभव होता है। यही काव्य के सांस्कृतिक रस का उत्तम रूप है।

—

——०——